

शैली विज्ञान और पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र

डा० राघव प्रकाश



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

शौचौ विद्याने ओट पाइयलेय हवें भारेलीय रेगादिनेय॥२॥ अ० रायव सकाश

शैलीविज्ञान और पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र

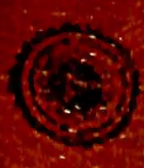
डॉ० राघव प्रकाश



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

卷之四

卷之四



शैलीविज्ञान और पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र

डॉ. राघव प्रकाश



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय
ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1983

Shailee Vigyan aur Pashchatya
evam Bhartiya Sahityashastra

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
उपलब्ध कराये गये कागज पर मुद्रित

मूल्य : 20.50

© सर्वाधिकार प्रकाशक के आधीन

प्रकाशक :

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-302 004

मुद्रक :

गीता अरुण प्रिन्टर्स
डिग्गी हाउस
जयपुर-302 004

प्राक्कथन

विश्व विभिन्न भाषाओं तथा संस्कृतियों का रंगस्थल है। यह रंग-बिरंगे फूलों का उपवन है। विविधता ही इसका सौंदर्य है। भाषाएँ और संस्कृतियाँ प्रदेश विशेष के भूगोल तथा इतिहास की देन हैं। एक देश या प्रदेश की जलवायु से ही मनुष्य का शरीर और मानस बनता है, उसका रहन-सहन, भाषा-बोली भी जलवायु से प्रभावित होती है। फिर अनेक वर्षों से एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति चलती है, अतः इतिहास का भी बड़ा महत्त्व है। दूसरी ओर मातृभाषा जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से संस्कृति और इतिहास की परम्परा प्रवहमान होती है। इसके अतिरिक्त मातृ-भाषा में ही मनुष्य का व्यक्तित्व सर्वांग रूप से निखरता है। अतः सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य की सारी शिक्षा-दीक्षा, सर्वोच्च स्तर तक उसकी मातृ-भाषा के माध्यम से ही होनी चाहिए।

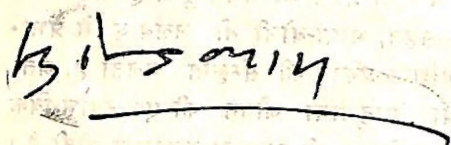
इसके अतिरिक्त विश्व का समस्त ज्ञान अनेक भाषाओं में संग्रहीत है और सभी लोग समस्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक भाषाओं का अध्ययन नहीं कर सकते हैं। ऐसा करने से वे केवल भाषा-विज्ञ ही रह जायेंगे, न कि विषय-विज्ञ। भाषा तो एक साधन मात्र है। अतः यह आवश्यक है कि सभी भाषाओं में लिपिबद्ध ज्ञान सबको शीघ्रता एवं सुलभता से अपनी भाषा में ही उपलब्ध हो अर्थात् ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम मातृ-भाषा हो।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जब इस दिशा में केन्द्र सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय ने कार्य करने का विचार किया तो यह तथ्य सामने आया कि माध्यम-परिवर्तन के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोध है—संबद्ध भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों का अभाव, जिसे यथाशीघ्र पूरा किया जाना चाहिए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में अकादमियों/बोर्डों की स्थापना की गई। राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी इसी योजना के अन्तर्गत पिछले दस वर्ष से मानक ग्रंथों के प्रकाशन का कार्य कर रही है और अब तक इसने विभिन्न विषयों (कला, वाणिज्य, विज्ञान, कृषि आदि) के लगभग 300 ग्रंथ प्रकाशित किये हैं जो विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापकों द्वारा लिखे गये हैं।

‘शैलीविज्ञान और पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र’ पुस्तक एक मौलिक कृति है, जो स्नातकोत्तर स्तर के आलोचना शास्त्र के छात्रों एवं अध्येताओं के लिए

अत्यधिक उपादेय सिद्ध हो सकती है। इसमें शैलीविज्ञान के मूल तत्त्वों के विवेचन के साथ-साथ पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्रों का शैलीविज्ञान की विशेष दृष्टि से तुलनात्मक वर्णन-विश्लेषण भी किया गया है, जो हिन्दी में संभवतः प्रथम प्रयास माना जायेगा ! आशा है कि सुधी पाठक इसका स्वागत करेंगे।

हम इसके लेखक डॉ. राघव प्रकाश, कालाडेरा तथा समीक्षक डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, आचार्य, हिन्दी विभाग; राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभार प्रकट करते हैं।



(सुरेन्द्र व्यास)

शिक्षा राज्य मन्त्री, राजस्थान सरकार

एवम्

अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर



(डा. पुरुषोत्तम नागर)

निदेशक

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्रस्तावना

भाषाविज्ञान के अनेक ग्रीष्मकालीन शिविरों में पाश्चात्य शैलीविज्ञान का अध्ययन करने के बाद उत्साह तो यह जगा था कि हिन्दी साहित्य की किसी रचना को लेकर उसका शैलीवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाये, किन्तु वह तो केवल नवीनता के प्रति उत्साहित होने की भावुकता ही थी। दरअसल 'पाश्चात्य शैली-वैज्ञानिक पद्धति' से मैं स्वयं ही आश्वस्त नहीं हो सका था, मुझ में यह विश्वास ही नहीं जग पाया था कि उसके आधार पर किसी कृति का संतोषजनक साहित्यिक विश्लेषण किया भी जा सकता है। अतः एक कदम पीछे लौटकर यही निश्चय किया कि पहले शैलीविज्ञान की सामर्थ्य और सीमाओं से भलीप्रकार परिचित हुआ जाये, और इस दृष्टि से यह अनिवार्य हो गया कि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के साथ-साथ भारतीय साहित्यशास्त्र की भी उन अवधारणाओं की समीक्षा की जाये जो शैलीविज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं और जिनसे एक समृद्ध शैलीविज्ञान के विकसित होने की सम्भावनाएँ बनती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ ऐसी ही सम्भावनाओं को उजागर करने का प्रयास भर है।

हिन्दी साहित्यशास्त्र की गैरसाहित्यशास्त्रीय गतिविधियों से तो मैं क्षुब्ध रहा ही हूँ, किन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र की भाषावादी दृष्टि से चमत्कृत भी हुआ हूँ। फिर पाश्चात्य भाषाविज्ञान एवं उसके आधार पर लड़खड़ाते शैलीविज्ञान से भी मैं थोड़ा-बहुत परिचित होता रहा हूँ। अतः एक ओर नवीन साहित्यशास्त्र को विकसित होते देखने की आकांक्षा रही तो दूसरी ओर संस्कृत साहित्यशास्त्र को आधुनिक शैलीवैज्ञानिक सन्दर्भों में व्याख्यायित करने तथा पाश्चात्य शैलीविज्ञान के नव-अंकुरण को समझने और उसकी अपनी सीमाओं को स्पष्ट कर देने की इच्छा भी हुई। इन्हीं आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ में पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र को उनकी शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की दृष्टि से समीक्षित किया गया है।

प्रस्तुत विषय-विवेचन में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि न केवल पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के विधिवत आदि-स्रोत भारत से प्राचीन हैं, बल्कि आधुनिक युग में भी शैली एवं शैलीविज्ञान के नाम से चर्चित अवधारणाओं के संस्कार और हलचलें पश्चिम में ही अधिक रही हैं। अतः शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की दृष्टि से पश्चिमी साहित्यशास्त्र का विवेचन पहले किया गया है, ताकि उस पृष्ठभूमि पर भारतीय साहित्यशास्त्र में अन्यान्य नामों से संज्ञायित शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं को सहज ही पहचाना और व्याख्यायित किया जा सके।

‘पाश्चात्य साहित्यशास्त्र’ और ‘भारतीय साहित्यशास्त्र’ देश, काल, भाषा एवं अवधारणाओं की दृष्टि से बहुत व्यापक हैं; अतः इनका समग्र अध्ययन इस प्रकार के लघु ग्रन्थ में प्रायः असम्भव ही है। इसलिए इन नामों का प्रयोग निश्चित सीमाओं के साथ ही किया गया है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में पश्चिम की केवल यूनानी, रोमी, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी और स्पेनी भाषाओं के उन मूर्धन्य साहित्य-शास्त्रियों की सिर्फ उन मौलिक अवधारणाओं का ही विवेचन किया गया है, जो शैली एवं शैलीविज्ञान की दृष्टि से उल्लेखनीय महत्ता रखती हैं। अतः पश्चिम की अनेक भाषाओं के अनेक विद्वानों की अनुल्लेखनीय अवधारणाएँ ग्रन्थ में स्थान पाने से निश्चित ही छूट गई हैं। अवधारणाओं की ‘उल्लेखनीयता’ की वस्तुगतता का दावा तो लेखक नहीं ही कर सकता, कोई भी कैसे कर सकता है ?

‘भारतीय साहित्यशास्त्र’ में भी प्राचीन और अर्वाचीन, भारोपीय और द्राविड़ी परिवारों की अनेक भाषाओं के साहित्यशास्त्रों की अवधारणाएँ प्रवाहित हैं, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय साहित्यशास्त्र के महत्वपूर्ण ‘क्लैसिक’ आधार संस्कृत साहित्यशास्त्र और तदुपरान्त हिन्दी साहित्यशास्त्र की मौलिक शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं का ही अध्ययन किया है। वस्तुतः लेखक के भाषा-ज्ञान की सीमाओं के कारण ही ऐसा किया गया है। यह बहुत हुआ है कि अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्री सामान्य साहित्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हुए भी शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की दृष्टि से मौन रहे हैं और इसी कारण वे इस ग्रन्थ में विवेचित नहीं हो सके हैं।

शैलीविज्ञान के प्रभावस्वरूप विगत एक दशक से हिन्दी साहित्यशास्त्र में ‘शैली’ और ‘शैलीविज्ञान’ शब्द प्रमुखता प्राप्त करते गये हैं। इन अवधारणाओं को किसी ने फैशनवश, किसी ने चकाचौंधवश, किसी ने अन्धानुकरणवश और किसी ने सचमुच साहित्यशास्त्रीय निष्ठावश अपनाया है, किन्तु प्रायः सभी हिन्दी साहित्य-शास्त्रियों की शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं का अध्ययन करने के पश्चात् सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अधिकांश साहित्यशास्त्रियों ने शैली को कमोवेश पश्चिम से आयातित अवधारणा मानकर उसे पाश्चात्य अर्थ-वृत्तों में ही अपनाया है परिणामस्वरूप भारतीय साहित्यशास्त्र की शैली-चेतना का अपेक्षित उपयोग तो किया ही नहीं गया। यह विडम्बनीय स्थिति भरे लिए भी पीड़ाजनक रही है, इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वरूप को अवधारणाधारित ही रखा गया है। जिसमें पश्चिम से अनाक्रान्त रहकर दोनों साहित्यशास्त्रों का समान महत्व के साथ परीक्षण करने का प्रयास किया है। पूर्ण तटस्थता तो कहाँ रह सकी होगी, क्योंकि रह भी कहाँ सकती है ? किन्तु विवेचन में अवधारणाओं को केन्द्र में रखने से सम्बन्धित साहित्यशास्त्रों की महत्वपूर्ण तात्त्विक उपलब्धियों एवं उनकी शक्ति और सीमाओं को रेखांकित किया जा सका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की मुख्य प्रकृति पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्रों की उस व्यापक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने की रही है, जिस पर शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएँ विकसित अथवा बाधित होती रही हैं। अतः शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की सामान्य विशेषताओं के विवेचन के अतिरिक्त ग्रन्थ की सीमा-विवशता के कारण उनकी भाषा-वैज्ञानिक सूक्ष्मताओं में प्रवेश नहीं किया जा सका है, जबकि इस क्षेत्र में कार्य करने की ललचानेवाली विपुल सम्भावनाएँ हैं।

विषय की व्यापक आयामिता और ग्रन्थ की निश्चित सीमान्तता ने लेखन-प्रक्रिया को सदैव तनावपूर्ण रखा है और विषय-विश्लेषण प्रायः संक्षिप्त, सांकेतिक और सान्द्र ही रहा है, इसलिए अनेक स्थलों पर विषय को और अधिक स्पष्ट करने की बात मन में ही रह गयी है। विषय की प्रकृति सैद्धान्तिक विवेचन की होने के कारण अवधारणाओं की तात्त्विक विवेचना ही की जा सकी है, उनका सोद-हरण विश्लेषण करने का अवकाश ही नहीं रहा है।

इस ग्रन्थ की प्रस्तुति में पूर्व और पश्चिम के अनेक साहित्यशास्त्रियों की शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की आहूतियाँ हैं। मैं उन सभी के प्रति नत हूँ। इसकी समिधा के संयोजन में अनेक विद्वानों का अमूल्य निर्देशन प्राप्त हुआ है, जिनमें डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी और डॉ. लक्ष्मीकान्त शर्मा विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, उनके प्रति मेरा विनम्र आभार प्रस्तुत है। मेरे वे सभी सहभागी-सहयोगी आत्मीय, जिनके सहयोग से इस रचना के लेखन का संयोग बन सका है, मेरी स्मृति में हैं जबकि मैं उनके लिए कृतज्ञतावश अभिभूत हूँ।

पितृवत् श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना (भूतपूर्व निदेशक, महाविद्यालय शिक्षा, राजस्थान) के प्रेरणास्पद और आत्मीय आग्रह के कारण ही मैं इस ग्रन्थ के लेखन के लिए अपेक्षित मनः स्थिति बना सका हूँ, अतः उनके प्रति आभार-अभिव्यक्ति तो मेरा परम सौभाग्य है।

ग्रन्थ का प्रकाशन राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के सक्रिय सहयोग से ही संभव हो सका है, अतः मैं अकादमी के प्रति अपनी पुनीत कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

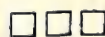
निश्चय ही इस ग्रन्थ में कमियाँ और त्रुटियाँ होंगी, क्योंकि शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र के तुलनात्मक विवेचन को लेकर किया गया संभवतः यह प्रथम मौलिक प्रयास है। यह जैसा भी बन पड़ा है, सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

मार्च, 1983

राघव प्रकाश

7-C, महारानी कॉलेज स्टाफ क्वार्टर्स,

जयपुर।



विषय-सूची

अध्याय

पृष्ठ क्र०

1. साहित्यशास्त्र और शैलीविज्ञान 1
साहित्य, साहित्यशास्त्र और शैलीविज्ञान ।
2. शैली : अभिप्राय और आयाम 12
स्टाइल और शैली : व्युत्पत्ति और विकास (12), स्टाइल : व्युत्पत्ति और विकास (13), शैली : व्युत्पत्ति (14), शैली शब्द के प्रचलन का इतिहास (15), 'स्टाइल' के लिए उपयुक्त शब्द : शैली और रीति (16), शैली तथा अन्य समीपवर्ती भारतीय अवधारणाएँ (17), प्रवृत्ति और शैली (17), वृत्ति और शैली (18), रीति, संघटना, मार्ग और शैली (20), शैली : परिभाषा (25), रचनाकार-केन्द्रित परिभाषाएँ (26), सहृदय-केन्द्रित परिभाषाएँ (29), रचना (पाठ)—केन्द्रित परिभाषाएँ (31), विचार और भाषा की सम्बन्ध-सूचक परिभाषाएँ (31), व्यंजना-सूचक (ध्वनि-सूचक परिभाषाएँ (32), अभिव्यक्ति-वैशिष्ट्य-सूचक परिभाषाएँ (34), शैली तथा सम्बन्धित उपादान (39), शैली और व्यक्तित्व (40), शैली और विषय (49), शैली और भाषा (54), शैली, शैलीविज्ञान और भाषाविज्ञान (55) ।
3. शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएँ और पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र : ग्रामने-सामने— 66
सामान्य भाषा और काव्य-भाषा (66), रचना की स्वायत्तता और जैविकता (78), शैली-विश्लेषण के विविध कोण (88), शैली : रचनाकार-वैशिष्ट्य (97), शैली-विवेचन की प्रक्रिया : भाषा का वस्तुगत विश्लेषण (105), शैली और चयन की अवधारणा (114), शैली : विचलन (122), शैली : पाठगत व्यवस्था का पुनरावर्तन और केन्द्राभिमुखता (132), शैली : वैयाकरणिक संभावनाओं का विशिष्ट समुपयोजन (134), शैली : औचित्य (135), शैली और सन्दर्भ (142), शैली और मार्ग (146), शैली और मूल्य (157) ।

4. उपसंहार

161

शैली और शैलीविज्ञान : अर्थ-परिवर्तन के अनेक मोड़ (161), शैली : अर्थ की विभिन्न छायाएँ (162), शैली और उसके प्रभावक तत्त्व (164), शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएँ और पाश्चात्य-भारतीय साहित्य-शास्त्र : आमने-सामने (167), समानताएँ (168), असमानताएँ (176), पारस्परिक आदान-प्रदान की संभावनाएँ (181), पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का प्रदेय (181), भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रदेय (183), समाहार (189) ।

परिशिष्ट (सन्दर्भ-साहित्य)

191

संस्कृत (191), हिन्दी (192), अंग्रेजी (193) ।



साहित्यशास्त्र और शैलीविज्ञान

जीवन के मूल्यों से साहित्य आक्रान्त रहता है और साहित्य के मूल्यों से साहित्यशास्त्र । इसलिए जीवन की परिभाषा में बदलाव आते रहने के साथ-साथ साहित्य और साहित्यशास्त्रीय परिभाषाएँ भी बदलती जाती हैं । जीवन पर कभी विचार हावी होता है, कभी गति, तो कभी भावात्मक आवेश । और कभी इन सभी का संतुलन । साहित्य भी कभी दर्शन होने लगता है, कभी बंदूक और हसिया, कभी मात्र रुदन और हास तो कभी भाषायी मीनाकारी, और कभी इन सब को समाहित किए हुए व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति । साहित्यशास्त्र के मापदण्ड भी कभी विचारों और वादों का रूप लेते हैं, कभी सशक्त नारों का, कभी भावों की तड़पन का तो कभी इन सभी को अभिव्यक्त करने वाली भाषामूलक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का । इस प्रकार साहित्यशास्त्र की धुरियाँ समय-समय पर बदलती रहती हैं । किन्तु में जिस प्रकार जीवन में विचार, गति और भाव सभी होते हैं, और इनका 'सम्यक्' संतुलन ही जीवन का सौन्दर्य है, उसी प्रकार जीवन के इन सभी घटकों की भाषा में 'सम्यक्' अभिव्यक्ति ही साहित्य का सौन्दर्य है और भाषा की इस 'सम्यक्' अभिव्यक्ति की संरचना का 'सम्यक्' अध्ययन ही साहित्यशास्त्र का धर्म है ।

विश्व की सभी संस्कृतियों ने अपने कथ्यों को दर्शन, धर्म, नीति, इतिहास आदि वाङ्मय की विभिन्न विधाओं के रूप में अभिव्यक्त किया है, किन्तु इन सब के अतिरिक्त, और इन सबके समानान्तर, उसने अपने कथ्य को अपने समय की भाषा के सर्वोत्कृष्ट विदोहन—साहित्य—के रूप में भी रचा और भोगा है । इसलिए अपनी भाषायी संरचना की उत्कृष्टता के आधार पर साहित्य की प्रासंगिकता सदैव बनी रही है । ऐसा भी बहुत हुआ है कि जो प्रधानतः तो दार्शनिक, धार्मिक सन्त, इतिहासकार या नीतिज्ञ थे; किन्तु गौणतः उन्होंने भाषा के साहित्यिक उपादानों का भी उपयोग कर लिया और भ्रमवश उन्हें प्रधानरूप में तथा प्रथम कोटि के साहित्यकारों का दर्जा दे दिया गया । किन्तु साहित्यशास्त्रियों की मूलधारा निरन्तर यही कोशिश करती रही है कि साहित्य और साहित्यकारों को रचनात्मक सौन्दर्य के आधार पर ही

परखा जाये। भारत के संस्कृत साहित्यशास्त्र और पश्चिम के यूनानी और रोमी साहित्यशास्त्रों ने अपनी पहचानें इसी रूप में स्थापित की हैं।

जब साहित्य भाषा की अन्य विधाओं से अपने अभिव्यक्ति-कौशल के बलबूते पर अपना निजी व्यक्तित्व रखता है तो साहित्यशास्त्र भी भाषा के अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य का विश्लेषण करने के आधार पर व्याकरण, भाषाविज्ञान, तर्कशास्त्र, गणित आदि अन्य भाषाशास्त्रीय विधाओं से भिन्न अस्तित्व रखता है।

आधुनिक काल में मानव जीवन का अनुभव इस तीव्र गति से बदलता गया है कि मनुष्य विचारों और उनकी परिवर्तनशीलता से चकाचौंध हो गया है। परिणामस्वरूप उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति पर भी वैचारिक गति ही हावी रही है। यही नहीं, उसके साहित्यशास्त्रीय मापदण्डों में भी विचार ही कसौटी बने रहे हैं। इस सारी प्रक्रिया में साहित्य और साहित्यशास्त्र अपनी-अपनी धुरियाँ छोड़ते रहे हैं। इसी-लिए तो साहित्य में विचारों, वादों, मूल्यों, आदर्शों आदि को ढूँढ़ा जाता रहा है और भाषा-सम्बन्धी चिन्तन क्षीण होता गया है। किन्तु जीवन के वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रक्रिया में भाषा का भी वैज्ञानिक विश्लेषण शुरू हुआ और भाषा-विज्ञान विकसित होने लगा। भाषा के इस चिन्तन के विकसित होने से भाषाविज्ञान द्वारा साहित्य-भाषा का भी विश्लेषण करने का संकल्प लिया गया। परिणामस्वरूप 'शैलीविज्ञान' का जन्म हुआ। किन्तु क्या यह नया 'जन्म' है अथवा उसी प्राचीन साहित्यशास्त्र का नये मुखौटे के साथ पुनरागमन है, जिसने साहित्य की कसौटी के रूप में पहले ही भाषा-संरचना पर आधारित माप-दण्ड स्थापित कर दिये थे और जिसे मध्यकाल के बाद से अब तक "निर्वासित" ही कर रखा था। इस प्रश्न का चिन्तन आधुनिक साहित्यशास्त्र का प्रमुख धर्म बन गया है। यहाँ सर्व प्रथम साहित्यशास्त्र और शैलीविज्ञान को परस्पर प्रतिबिम्बित करवाने और परिचित करवाने का ही प्रयास किया जा रहा है।

(क) साहित्य :

यह तो सामान्य स्वीकृत मान्यता है कि साहित्य भाषा ही है या साहित्य भाषा में ही होता है; किन्तु साहित्य की प्रकृति का अध्ययन तो इस दृष्टि में छिपा हुआ रहता है कि आखिर वे मूल्य कौनसे हैं, जिनके भाषा में विद्यमान होने से भाषा साहित्य कहलाने लगती है। भाषा में उन मूल्यों का योग ही साहित्य की परिभाषा है तथा भाषा और साहित्य में उन मूल्यों की समीक्षा ही साहित्यालोचन है। यदि साहित्यालोचन के सिद्धान्तों को जानना है तो पहले साहित्य की धारणा को जानना जरूरी है।

साहित्य भाषा है—लेकिन सौन्दर्यमयी भाषा और साहित्यशास्त्र भाषा का शास्त्र है; किन्तु भाषा का सौन्दर्यशास्त्र। इसलिये भाषा के सौन्दर्य के बिना न साहित्य की नियति है और न भाषा के सौन्दर्य-विश्लेषण के बिना साहित्यशास्त्र

की। साहित्य में भाव-विचार अर्थात् 'सन्देश' के सभी तत्त्व भाषा के सौन्दर्य के अंग रूप में ही अस्तित्ववान होते हैं। साहित्यिक भाषा से 'सन्देश' और सौन्दर्य की अश्विति छलकती है। यदि सन्देश अलग से छलक गया तो 'सन्देश' के आगे साहित्य पराजित हो जाता है। कुन्तक ने इसीलिए काव्य के लक्षण 'शब्दार्थो सहितौ' में पहले तो 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों की 'समान' प्रधानता को स्पष्ट किया। (शब्द और अर्थ की अलग-अलग प्रधानता क्रमशः वेदादि और इतिहासादि में मानी गई है, साहित्य में नहीं।) उसके बाद 'शब्द' और 'अर्थ' की नित्य 'सहितता' की पारम्परिक अवधारणा को स्वीकृति दी है। किन्तु उससे भी आगे उन्होंने यह कहा कि काव्य में 'सर्वगुण युक्त और मिश्रों के समान परस्पर संगत शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के लिए शोभाजनक होते हैं।'¹ उन्होंने शब्द और अर्थ के 'सहभावित' प्रयोग को काव्य कहा।

कुन्तक के अतिरिक्त पाराशर भट्ट² ने शब्द और अर्थ के बीच 'सोभ्रात्र' सम्बन्ध तथा कालिदास³ ने दोनों को शिव-पार्वती के समान 'सम्पृक्त' माना। वस्तुतः साहित्य और साहित्यशास्त्र के लक्षण का मूल उत्तर शब्दार्थ की 'सहभावित' परिभाषा में ही निहित है क्योंकि शब्द और अर्थ की अनन्यता तो सामान्य भाषा में भी मिल जायेगी। भृवृहिर और अन्य वैयाकरणों ने भी शब्दार्थ को अभिन्न तथा उनके सम्बन्ध को नित्य माना है।⁴ दरअसल संस्कृत साहित्यशास्त्र का तो श्रीगणेश ही शब्दार्थ के विशिष्ट सम्बन्ध 'सहितौ' से हुआ है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के भीष्मपितामह 'भामह' ने काव्य-लक्षण की शुरुआत ही 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्'⁵ से की है। दण्डी ने भामह की परिभाषा को ही मानते हुए आगे 'सहितौ' का स्पष्टीकरण भी दिया है—

'शरीर तावदिष्टार्थ—व्यवच्छिन्ना पदावली'⁶ इष्ट अर्थात् मनोरम हृदयालहादक अर्थ से युक्त पदावली—शब्द-समूह अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों

1. मम सर्वगुणो सन्तो सहृदाविव सङ्गता ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थो भवती यथा ॥
—वकोक्तिजीवितम्—कुन्तक (अन्तःश्लोक-18), 1-7 कारिका ।
2. शृंगाररत्न कोश—पाराशर भट्ट, श्लोक-8 ।
3. रघुवंश—कालिदास, प्रथम श्लोक ।
4. नित्या : शब्दार्थ सम्बन्धास्तब्राम्नाता महर्षिभिः
वाक्यपदीयम्—भट्टहरी, ब्रह्मकांड-23 ।
5. काव्यालंकार, भामह, 1-16 ।
6. काव्यादर्श—दण्डी, 1-9-10 ।

मिलकर ही काव्य का शरीर है। वामन कहते हैं—‘रीतिरात्मा काव्यस्य’¹ तथा रीति की परिभाषा है—‘विशिष्ट पद-रचना रीति।’² आनन्दवर्धन का काव्यलक्षण है—‘काव्यास्यात्मा ध्वनिरिति’³ तथा ‘विविध वाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः’⁴ ‘नानाप्रकार के शब्द अर्थ और संघटना के प्रपञ्च से मनोहर काव्य का सारभूत (आत्मा) वही (प्रतीयमान रस) अर्थ है।’

कुन्तक ने अपने पूर्व के आचार्यों की परिभाषाओं को समाहित करते हुए लिखा—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशालिनी ।

वन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदालहादकारिणि ॥⁵

‘काव्यमर्मज्ञों के आलहादकारक, सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार से युक्त रचना (वन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य (कहलाते) हैं।’

क्षेमेन्द्र का मत है—

अलङ्कारास्त्वलङ्कारागुणा एव गुणाः सदा ।

अौचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥⁶

मम्मट कहते हैं कि—

“तददोषी शब्दार्थौ सुगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।”⁷

“दोषों से रहित, गुण-युक्त और (साधारणतः अलङ्कार-सहित परन्तु) कहीं-कहीं अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थ (दोनों की समाविष्टि) काव्य (कहलाती) है।”

विश्वनाथ ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ के रूप में काव्य-लक्षण करते हैं। पं. जगन्नाथ ‘रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्’⁸ रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं।

(ख) साहित्यशास्त्र और शैलीविज्ञान

ऊपर उल्लिखित सभी मनीषी भारतीय साहित्यशास्त्र के आधार-स्तम्भ हैं और इनके सभी के काव्य-लक्षण भाषा-केन्द्रित हैं। सभी का चिन्तन भाषा-तात्त्विक है। यही नहीं, इन सभी साहित्यशास्त्रियों का काव्य-विश्लेषण भी इन काव्य-

1. काव्यालङ्कारसूत्र-वामन, 1-2-6।

2. वही, पृ. 1-2-7।

3. ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धन, 1-1।

4. वही, 1-5।

5. वक्रोक्तिजीवितम्-कुन्तक, 1-7।

6. अौचित्यविचारस्वर्चा-क्षेमेन्द्र, 4-4।

7. काव्यप्रकाश-मम्मट, 4-1।

8. रसगंगाधर-पं. जगन्नाथ (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई), पृ. 4।

लक्षणों के अनुरूप भाषा-केन्द्रित ही रहा है। इसीलिए डॉ. रघुवंश कहते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र सदा से वस्तुपरक चिन्तन, रूपवादी विश्लेषण पर बल देता आया है। उसमें न कभी भाववाद या प्रभाववाद को महत्त्व मिला है और न किसी प्रश्न के विधेयवाद को। संस्कृत काव्यशास्त्र का मूलधार शब्द और अर्थ है और उसमें भी चाहे अलंकार-विधान हो, लक्षणाव्यंजना का प्रयोग हो, गुणों के अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था पर विचार हो अथवा रस-प्रक्रिया को ग्रहण करने की बात हो; चिन्तन की दृष्टि शब्द-प्रयोग पर ही केन्द्रित रहती है।¹ डॉ. विद्यानिवास मिश्र भी यही कहते हैं कि—‘भारतीय चिन्तन मूलतः वाककेन्द्रित चिन्तन है।’² भारतीय काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में डॉ. भा. गो. चतुर्वेदी की भी यही धारणा है कि ‘भारतीय काव्यशास्त्र तो आधुनिक शैली-विज्ञान के समान व्याकरण या भाषाविज्ञान पर आधारित है।’³

वस्तुतः भारतीय चिन्तन में भाषा को व्याकरण, न्याय, दर्शन, अध्यात्म आदि सभी क्षेत्रों में विश्लेषित किया जा चुका था, अतः भाषा की विभिन्न भूमिकाओं के बारे में किसी प्रकार की अस्पष्टता या भ्रम नहीं था। यही कारण है कि साहित्य-चिन्तन एक स्पष्ट और विकसित चिन्तन था, भाषा-केन्द्रित ही था, जिसमें भाषा की एक भिन्न भूमिका—सौन्दर्यजन्य आल्हादक शक्ति—को पहचाना जा चुका था।

जहाँ तक साहित्य में मूल्य के सम्बन्ध का प्रश्न है, भारतीय साहित्यशास्त्र भाषायी सौन्दर्य को स्वयं में एक मूल्य मानता है। भाषा की रसात्मकता साहित्य का एक मात्र मूल्य था। यहाँ यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि भारतीय भाषाचिन्तन में भाषा को वैयक्तिक सृष्टि मानते हुए भी उसके सामाजिक पहलू अथवा भाषा की सामाजिकता को सदैव ध्यान में रखा है। अतः साहित्येतर मूल्य, जिनकी चर्चा हिन्दी साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक मिलती है, भाषा में स्वतः अनुस्यूत ही रहते थे। साहित्य के वृत्त में सहृदय की कल्पना भाषा की इस सामाजिक भूमिका के विवेचन का ही प्रतिफलन है। भारतीय साहित्यशास्त्र में ‘अचिन्त्य’ की धारणा, जो कि सभी साहित्यशास्त्रियों में विद्यमान रही है—यद्यपि क्षेमेन्द्र ने उसे प्रमुखता प्रदान की है—भाषा की आन्तरिक संरचना (भाषावैज्ञानिक, व्याकरणिक) भाषा की बाह्य संरचना (भाषा के सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ) तथा भाषा और सत्य के सम्बन्ध आदि सभी को समाहित करती है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में, भाषा-केन्द्रित चिन्तन विकसित करने से पूर्व भाषा के विभिन्न पक्षों और कार्यों के बारे में धारणाएँ स्पष्ट थीं, अतः भारतीय

1. संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक पद्धति—

डॉ. रघुवंश, आलोचना (पत्रिका), अंक 39, पृ. 54-59।

2. भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन—सं. डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 1

3. वही, पृ. 28-29।

साहित्यशास्त्री जब काव्य-भाषा का विश्लेषण करने लगे तो भाषा की सौन्दर्यमूलक भूमिका से विस्त नहीं हुए। क्रियगर जब यह कहते हैं कि तर्क-भाषा खिड़की के पारदर्शी शीशे के समतुल्य होती है और काव्य-भाषा अपने कार्य-फलन में 'खिड़की के पारदर्शी शीशे' तथा 'दर्पण' के सैट 'दोनों ही के समरूप होती है'¹ तो वे भारतीय धारणा के अनुरूप ही वक्तव्य देते हैं। शीशा जब दृश्य को देखने का मात्र माध्यम है तो वह सामान्य भाषा है, वार्ता (भामह, कुन्तक आदि) है, किन्तु शीशा जब मरिण बन जाये, जब स्वयं ही एक दृश्य बन जाय तब वह भाषा की काव्यात्मक पराकाष्ठा है। इस सन्दर्भ में भारतीय साहित्यशास्त्रियों के अनुसार साहित्यशास्त्रीय विश्लेषण वस्तुतः शीशे के दर्पण में परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया तथा शीशे और दर्पण की प्रकृति के अन्तर को ही तो स्पष्ट करता है।

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव कहते हैं कि 'शैलीविज्ञान साहित्यिक आलोचना का सिद्धान्त भी है और प्रणाली भी। सिद्धान्त के रूप में इसकी दृष्टि भाषावादी है। भाषावादी सिद्धान्त के रूप में उसकी यह प्रमुख साम्यता है कि साहित्य 'शाब्दिक कला' (Verbal Art) है और कृति के रूप में साहित्यिक रचना, भाषा की अपनी सीमा में बंधी एक स्वनिष्ठ (Autonomous) इकाई है। साहित्यिक कृति भाषा को न केवल अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती है; अपितु स्वयं भाषा के भीतर ही अपना जन्म धारण करती है'² डॉ. श्रीवास्तव यद्यपि अपने उक्त शब्दों में मुख्यतः पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक एवं शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं के आधार पर शैलीविज्ञान की प्रकृति को स्पष्ट करना चाहते हैं; किन्तु आग्रह-दुराग्रह से मुक्त होकर यदि देखा-परखा जाये तो उक्त प्रकृति-सीमाङ्कन भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र पर भी पूर्णतः लागू होता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र ने भाषा के वर्ण, पद, प्रत्यय, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध सभी स्तरों पर अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि की चर्चा करके तथा साहित्यिक कृति को एक स्वनिष्ठ (ऑटोनोमस) व्यक्तित्व प्रदान करके एक अत्यन्त समृद्ध शैलीविज्ञान को प्रस्तुत किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के बाद जो साहित्येतर आलोचना विकसित हुई उसमें इतना भ्रम और कुहासा उत्पन्न कर दिया कि न केवल साहित्य और साहित्यशास्त्र की स्पष्ट वैज्ञानिक अवधारणा ही गड़बड़-मड़बड़ हो गई; बल्कि भाषा का बहुकार्यी स्वरूप ही लुप्त हो गया। भाषा-चिन्तन के लुप्त हो जाने से व्याकरण, दर्शन, धर्म, साहित्य सभी में भाषागत भूमिका की धारणा लुप्त हो गई। परिणामस्वरूप साहित्येतर मूल्यों—धर्म, दर्शन, भक्ति आदि को साहित्य मान लिया गया और काव्य

1. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव।

2. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (भूमिका), पृ. 3।

में व्याप्त धार्मिक, दार्शनिक, भक्ति-सम्बन्धी या अन्य विचारधाराओं की खोज को साहित्य-समीक्षा ठहरा दिया गया। इस मध्यकालीन और आधुनिकयुगीन छद्म साहित्यशास्त्रीय चिन्तन की पृष्ठभूमि में यदि अब संस्कृत काव्यशास्त्र की स्थापनाओं को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया जाता है और उन्हें आधुनिक भाषाविज्ञान तथा पाश्चात्य शैलीवैज्ञानिक अवधारणा के अन्तर्गत शैलीविज्ञान कह दिया जाता है तो पूर्वाग्रही विद्वान् चौंक उठते हैं।

वस्तुतः आधारभूत भारतीय शैलीविज्ञान (काव्यशास्त्र) साहित्य को भाषा स्वीकार करता है और भाषा को समग्र परिवेशों, सन्दर्भों के साथ तथा भाषा के विभिन्न कार्यों और भूमिकाओं का विश्लेषण करके साहित्य (शब्दार्थ) का विवेचन करता है, अतः वह विशुद्ध साहित्यालोचन ही है। और साहित्य शैलीविज्ञान की क्षमता तथा सीमाओं में आलोचित हो सकता है।

शैलीविज्ञान और साहित्यालोचन को लेकर पश्चिमी साहित्यशास्त्रियों में भी बहुत बहस जारी है और साहित्य के वैशिष्ट्य से अभिभूत तथा भाषा के बहुआयामी व्यक्तित्व से अनभिज्ञ आलोचक साहित्य को भाषायी विश्लेषण से परे मानते हैं। रैने वैलेक तो साहित्य की आलोचना ही भाषा की आलोचना की समाप्ति के बाद करना चाहते हैं।¹ उनके अनुसार शैलीविज्ञान कविता की संरचना को समझने में सहायक हो सकता है उसकी संघटना के विश्लेषण में वह मदद दे सकता है, पर वह आलोचना का एक अंग है, पूरी साहित्यिक आलोचना नहीं। शैलीविज्ञान कविता की उस संरचना, संघटना, नॉर्म (Norm) और कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है जो 'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रखता है, पर कविता की आलोचना का मुख्य धर्म मूल्यों का अन्वेषण है।² रैने वैलेक और उन्हीं के अनुकूल धारणा रखने वाले मूल्यवादी आलोचकों के सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं। प्रथम तो यह है, जो कि डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने कही है कि मूल्यों की अपनी सत्ता कविता में कविता की संरचना, संघटना 'नॉर्म' या कार्यफलन के बाहर नहीं है। अगर मूल्यों का सम्बन्ध कविता से है और उसकी परिणति गुणात्मक प्रकृति से सम्बद्ध है, तब इन मूल्यों की चर्चा कविता की संघटना और कार्यफलन की जानकारी के अभाव में यादृच्छिक ही होगी। ऐसी स्थिति में आलोचना का स्वरूप व्यवस्थित हो ही नहीं सकता।³ अतः रैने वैलेक को भी मूल्यों तक पहुँचने के लिए या कवि को मूल्याभि-व्यक्ति के लिए भाषा तक पहुँचना ही होगा और भाषा की सीमाओं, संभावनाओं

1. स्टायल इन लैंग्वेज—टी. ए. सिबोक, पृ. 417।

2. वही,—पृ. 418।

3. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—
डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 72।

और संरचना का उपयोग (कवि के लिए) अथवा विश्लेषण (साहित्यशास्त्री के लिए) करना ही होगा।

दूसरी बात, जो साहित्य की धारणा के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि साहित्य की रचना में (अतः साहित्य के विश्लेषण में भी) मूल्यों का स्वयं में कोई अस्तित्व नहीं होता। साहित्य का आत्यन्तिक मूल्य है—अभिव्यक्ति का वैशिष्ट्य—कलात्मकता। अभिव्यक्ति के इस वैशिष्ट्य की पूर्णता समाज के अन्य मूल्यों के सामंजस्य में ही प्राप्त होती है। साहित्यिक अभिव्यक्ति एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक और मूल्यगत सन्दर्भ विद्यमान हैं। भाषा इन सारे सन्दर्भों को समाहित करती हुई ही इस वैशिष्ट्य को प्राप्त करती है जो सहृदय के लिए रमणीय, आल्हादक होता है। अतः साहित्य की अभिव्यक्ति-विशिष्टता अपने आपमें आत्यन्तिक मूल्य है, जिसमें अन्य कथ्य-सम्बन्धी मूल्य परोक्षतः समाहित ही रहते हैं। साहित्येतर मूल्यों में परिवर्तन होने पर साहित्यिकता का मूल्य स्वतः बदल जाता है, अतः साहित्यालोचना में साहित्येतर मूल्यों की समीक्षा करना साहित्य को भिन्न और पराये उपादानों से परखना है।

प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र की तरह आधुनिक पश्चिमी साहित्यशास्त्र में भी यह धारणा प्रबल होती जा रही है कि साहित्य भाषा है, अतः साहित्यालोचन भाषिक विश्लेषण ही है।¹ भिन्मुंस्की के अनुसार “कविता का उपादान न तो बिम्ब है और न भावनाएँ। वह मात्र शब्द होता है, क्योंकि कविता प्रकृति रूप में शाब्दिक कला है।” “कविता भाषा का ही एक विशेष रूप है” (तोपोरोव)। ‘विशेष रीति से व्यवस्थित भाषा की शैली विशेष है’ (रोमन याकोव्सन)। क्रियेगर काव्य-भाषा को दर्पण का सैट—एक स्वयंदृश्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त भाषावादी आलोचक बिम्ब-निर्माण को, जो कि कविता का मुख्य कार्य है, भाषा की अपनी विशिष्ट संरचना का ही परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार काव्य-बिम्ब से उद्भूत अतिरिक्त अर्थ (आनन्दवर्धन का प्रतीयमान) वस्तुतः शब्दरूप और शब्दार्थ की आन्तरिक टकराहट का ही परिणाम होता है। इस टकराहट को बिम्बसैट काव्य-भाषा की लाक्षणिक शक्ति के आधार पर समझते हैं, एम्पसन संदिग्धार्थकता एवं अनेकार्थकता, एलन टैट शब्दों के अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी अर्थों के तनाव, क्लेनेथ ब्रुक्स विडम्बना एवं व्यंग्य के आधार पर स्पष्ट करते हैं।¹

उक्त सभी साहित्यशास्त्रियों का विश्लेषण भाषाई आधार-भूमि पर आद्धृत है जो कि भारतीय साहित्यशास्त्रीय चिन्तन के अनुकूल पड़ता है। कृति की भाषा की क्षमताओं का अन्वेषण करना, भाषा को कवि, कवि के जगत, सहृदय और

1. सभी उद्धरण : शैली-विज्ञान एवं आलोचना की नई भूमिका—

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 38-39।

सहृदय के जगत तथा सामान्य भाषा और काव्य-भाषा के विचलित रूप की दृष्टि से विश्लेषित करना शैलीवैज्ञानिक—वास्तविक साहित्यिक समीक्षा के लिए अनिवार्य है। भाषा को मात्र सन्देश-प्रेषण का साधन मान लेने से या साहित्य में साहित्येतर मूल्यों का अन्वेषण करने से भाषा, साहित्य एवं साहित्यालोचन—सभी या तो अविश्लेषित रह जायेंगे या विश्लेषण दिगभ्रमित हो जायेगा। इसीलिए याकोब्सन कहते हैं कि “भाषा के कार्यपात्रन के प्रति बधिर भाषा-वैज्ञानिक और भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषावैज्ञानिक प्रणालियों से अपरिचित साहित्य-शास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से स्पष्ट ही बहुत पीछे हैं।”

सौभाग्य से आधुनिक साहित्यशास्त्री और भाषा-वैज्ञानिक रोमन याकोब्सन की चुनौती को स्वीकारने लगे हैं। परिणामस्वरूप भाषाविज्ञान के विकास से समीक्षा के क्षेत्र में भाषा-चेतना पुनः लौट रही है और शब्दार्थ के सम्बन्धों की खोज पुनः शुरू हो गई है। इसलिए साहित्यशास्त्र पुनः भाषा-व्यवहार के अन्य शास्त्रों से भिन्न, अपना खोया हुआ स्वरूप प्राप्त कर रहा है। शैलीविज्ञान भाषा-विश्लेषण की भाषावैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर काव्य-भाषा के विश्लेषण में अनुरत है, उसकी साहित्य के प्रति भाषावादी नीति से न तो चौकने की आवश्यकता है और न ही उसे कोई अभिनव ‘साहित्यशास्त्र’ के रूप में मान्यता देने की जरूरत है। जरूरत है उसको ‘शास्त्र’ की सौन्दर्य-दृष्टि के ‘संयोग’ से ‘निष्पन्न’ करने की।

शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान के सहारे उन वैयाकरणिक प्रतिरूपों (Patterns) की खोज में है, जो अधिकाधिक परिष्कृत, व्यापक और वैज्ञानिक हों, और जिनके आधार पर काव्य-भाषा की उस संरचना का विश्लेषण किया जा सके, जो अभिव्यक्ति-सौन्दर्य का कारण बनती है। यही पद्धति संस्कृत साहित्यशास्त्र ने अपनायी थी और यही पद्धति आधुनिक शैलीविज्ञान अपना रहा है। इस प्रकार शैलीविज्ञान प्राचीन साहित्यशास्त्र का आधुनिक संस्करण माना जा सकता है।

(ग) शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएं और भारतीय-पाश्चात्य साहित्यशास्त्र :

शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की दृष्टि से पाश्चात्य और भारतीय साहित्य-शास्त्र दोनों ही न केवल हजारों वर्षों में फैली अपनी दीर्घ परम्पराओं के कारण, बल्कि विवेचन-विश्लेषण की विपुलता की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दोनों लम्बे सहयात्री हैं और समदिशा के सहयात्री हैं। दोनों साहित्यशास्त्रों ने साहित्य-विवेचन में भाषा-संरचना को अपना केन्द्र बनाया है तथा ‘वैज्ञानिक पद्धति से भाषा-विश्लेषण करके साहित्य के सौन्दर्य का उद्घाटन करते रहे हैं। किन्तु दोनों साहित्य-शास्त्रों की भिन्न वैयाकरणिक सुविधाओं और भाषावैज्ञानिक अवधारणाओं, भिन्न चिन्तन-दृष्टियों के कारण दोनों की शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं में वैषम्य भी दिखाई देता है। फिर भारतीय साहित्यशास्त्र का अतीत अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध रहा है और पश्चिम का वर्तमान। भारत के प्राचीन साहित्यशास्त्र को नवीन सन्दर्भों में

‘प्रासंगिकता’ प्राप्त करनी है, उधर पश्चिम के शैलीविज्ञान को सुस्पष्ट भाषाचिन्तन, वैयाकरणिक पैटर्न और सुव्यवस्थित विश्लेषण-पद्धति चाहिए। अतः दोनों साहित्यशास्त्रों में शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से एक-दूसरे के लिए उपलब्धियाँ भी हैं तो अभाव भी। इसीलिए शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं के अध्ययन की दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रों का तुलनात्मक विवेचन उपादेय हो जाता है। इसी उपादेयता को ध्यान में रखकर आगामी अध्यायों में दोनों साहित्यशास्त्रों की शैली वैज्ञानिक अवधारणाओं की तुलना प्रस्तुत की गई है।

भारतीय साहित्यशास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियों में शैलीविज्ञान का प्रवेश हो रहा है। डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने विभिन्न लेख और एक पुस्तक लिख कर¹ शैलीविज्ञान तथा आलोचना की नई भूमिकाओं पर प्रकाश डाला है, ‘केन्द्रीय हिन्दी संस्थान’ आगरा द्वारा ‘गवेषणा’ पत्रिका एवं ‘शैली और शैलीविज्ञान’ नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भोलानाथ तिवारी और डॉ० सुरेश कुमार द्वारा अलग-अलग, किन्तु एक ही नाम ‘शैलीविज्ञान’ से तीन पुस्तकें लिखी गई हैं। डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने ‘रीति विज्ञान’ नामक पुस्तक में शैलीविज्ञान के सैद्धान्तिक पहलुओं के साथ-साथ काव्य-व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं—डॉ० कृष्णकुमार शर्मा ने ‘शैलीविज्ञान की रूपरेखा’ और ‘भारतीय काव्यशास्त्र : शैलीवैज्ञानिक संदृष्टि’ पुस्तकों में शैली की पश्चिमी एवं भारतीय अवधारणाओं का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया है तथा डॉ० कृपाशंकर सिंह, डॉ० रमानाथ सहाय, डॉ० उमाशंकर, डॉ० केलकर आदि विद्वानों ने फुटकर लेख प्रकाशित किये हैं। हिन्दी में प्राप्त उक्त शैलीविज्ञान विषयक सामग्री में पाश्चात्य शैलीविज्ञान की अवधारणाओं को हिन्दी में रूपान्तरित करने का प्रयास अधिक है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में विद्यमान शैली-वैज्ञानिक अवधारणाओं की समृद्धि को पाश्चात्य शैलीविज्ञान के सन्दर्भ में विवेचित करने का प्रयास अब शुरू तो हो चुका है और इस दृष्टि से डॉ० कृष्णकुमार शर्मा की ‘भारतीय काव्यशास्त्र : एक शैलीवैज्ञानिक संदृष्टि’ तथा डॉ० सत्यदेव चौधरी की ‘भारतीय शैलीविज्ञान’ नामक पुस्तकें उल्लेखनीय कही जा सकती हैं; किन्तु इससे पाश्चात्य एवं भारतीय शैलीविज्ञान की समानान्तर सुदीर्घ परम्परा और उनकी परस्पर निकटता एवं विशेषरूप से प्रतिबिम्बिता का परिचय नहीं मिलता। दरअसल शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं को केन्द्र में रखकर दोनों साहित्यशास्त्रों को नहीं परखा गया, बल्कि एक साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में दूसरे का संकेत भर कर दिया है। ऐसी स्थिति में दोनों साहित्यशास्त्रों को समान महत्त्व देकर, उनकी शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं को ही विवेच्य-विन्दु बनाकर एक स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की आवश्यकता थी।

1. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका।

वस्तुतः आधुनिक भारतीय साहित्यशास्त्र शैलीविज्ञान के नाम पर पश्चिम का अन्धानुकरण अधिक कर रहा है, भले ही पश्चिम के वैयाकरणिक प्रतिरूपों (Patterns) और भाषा-विश्लेषण-पद्धतियों में व्याप्त अव्यवस्था और दिशा-विभिन्नता के कारण उलझाव ही प्राप्त हो रहा हो। वस्तुतः आधुनिक भारतीय साहित्यशास्त्र को संस्कृत साहित्यशास्त्र अधिक सहयोग कर सकता है, जो भाषा-स्वरूप, साहित्य-संरचना-स्वरूप, वैयाकरणिक प्रतिरूपों तथा सुस्थापित विश्लेषण-पद्धति के कारण भारतीय भाषाओं के सर्वाधिक अनुकूल पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि पश्चिमी शैलीविज्ञान से आक्रान्त और आतंकित न होकर उससे केवल उपादेय ही प्राप्त किया जाये। दोनों साहित्यशास्त्रों की पारस्परिक उपादेयता को जाँचने के लिए ही भारतीय साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र को आमने-सामने रखा गया है ताकि अनावश्यक मोह और भ्रम न पनप सके।



शैली : अभिप्राय और आयास

मनुष्य की चिन्तनधर्मिता और सिसृषात्मकता ने न केवल भाषा और भाषा की सर्जनात्मकता—साहित्य—को जन्म दिया है; बल्कि भाषा को गतिशीलता और साहित्य को विविधता भी प्रदान की है। यह भाषा और साहित्य की अपार क्षमता का ही सूचक है कि वे मानवीय प्रतिभा की उर्वरता और गत्यात्मकता को सूक्ष्मता के साथ बिम्बित करते रहे हैं। लेकिन जितना मुश्किल कार्य मानवीय प्रतिभा की शक्तियों को महसूसने और अंकित करने का है, उतना ही कठिन कार्य भाषा और साहित्य की क्षमताओं और विविधताओं को सहेजने का भी है। जिस प्रकार प्रतिभा की गतिशीलता के पीछे दौड़ते-दौड़ते भाषा और साहित्य सदैव हाँपते रहते हैं, उसी प्रकार भाषा और साहित्य को समझते और समेटते हुए व्याकरण, भाषा-विज्ञान और साहित्यशास्त्र भी थकते और टूटते रहते हैं। यही कारण है कि विभिन्न मानव-समुदाय, अपने भाषा और साहित्य का हजारों वर्षों का सम्पर्क जी लेने के बाद भी न भाषा के स्वरूप को स्थिर कर सके हैं और न साहित्य को ही पूर्ण परिभाषा दे सके हैं।

सच तो यह है कि न कभी भाषा का स्वरूप स्थिर हो सकेगा और न कविता को ही परिभाषित किया जा सकेगा, और 'शैली', जो भाषा और साहित्य दोनों के ही स्वरूप को आँकने में व्यस्त रही है, अनेक विद्वानों द्वारा परिभाषित किये जाने के बावजूद अपरिभाष्य ही रही है। फिर भी यहाँ इस ग्रन्थ की प्रकृति के अनुरूप 'शैली' के 'अभिप्राय' सम्बन्धी दीर्घ इतिहास का यथासाध्य विवेचन किया जा रहा है।

(क) स्टाइल और शैली : व्युत्पत्ति और विकास

हिन्दी में शैली शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द के लिए प्रयुक्त होता है और समकालीन भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली की अवधारणा भी 'स्टाइल' की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में ही विकसित हुई है। अतः शैली शब्द की विवेचना से पूर्व

‘स्टाइल’ शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके विकास की चर्चा करना अधिक उपादेय होगा।

(ख) स्टाइल : व्युत्पत्ति और विकास

‘स्टाइल’ शब्द की व्युत्पत्ति लातिन के (Stilus) (लोह लेखनी या लोहे की कलम) से हुई है। प्राचीन फ्रान्सीसी में इसे (Stile) या (Style) लिखते थे; किन्तु आधुनिक फ्रान्सीसी में (Style) ही लिखते हैं। यही शब्द जर्मन में (Stil) इतालवी में (Stile) स्पेनी और पुर्तगाली में (Estile) लिखा जाता है। इसी शब्द का रूप ग्रीक में (Styles) रहा है।¹ ऑक्सफोर्ड शब्दकोश स्टाइल शब्द के पच्चीस से भी अधिक अर्थ बताता है, जो कि इस शब्द की लम्बी और बहुदिशायी अर्थ-यात्रा का सूचक है। लातिन के ‘स्ताइलस’ ता अर्थ लेखन-सम्बन्धी एक ऐसे धातु या हड्डियों से बने उपकरण से रहा है, जिसका एक सिरा नुकीला होता था और जिससे मोम जमी हुई पट्टियों पर लिखा जाता था तथा दूसरा सिरा धारहीन होता था और जिससे अक्षरों को मिटाया जाता था या पट्टियों को चिकना बनाया जाता था। इस शब्द ने अर्थ-यात्रा के इस प्रारम्भिक स्थूल उद्गम-स्वरूप से अब वर्तमान में अत्यन्त सूक्ष्मता प्राप्त कर ली है। जॉन लिविंग्स्टन लोज ने ठीक ही कहा है कि अधिकांश शब्द जिनका प्रयोग आज बौद्धिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक प्रतिबोधों की अभिव्यक्ति के लिए होता है, अपने मूल रूपों में स्थूल महत्त्व रखते थे।²

‘स्ताइलस’ शब्द यद्यपि एक स्थूल उपकरण के लिए उद्भूत हुआ, किन्तु यह उपकरण मनुष्य की अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया—साहित्य-रचना—के लिए प्रयुक्त होता था, अतः ‘स्ताइलस’ का प्रयोग इस सूक्ष्म क्रिया के लिए भी किया जाना सम्भावित था। और हुआ भी यही कि क्लासिकल लातिन में ही इस शब्द का अर्थ-विकास हो गया और इसको पहले तो लेखक की लेखन-विधि और तदुपरान्त लेखन एवं भाषण दोनों प्रकार की भाषिक कलाओं की अभिव्यक्ति के ‘प्रकार’ के लिए काम में लिया जाने लगा।³ आगे चलकर फ्रान्सीसी में आत्माभिव्यक्ति की अच्छी पद्धति के रूप में इस शब्द का प्रयोग हुआ और इसे साहित्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं के क्षेत्र में, यहाँ तक कि ‘जीने की कला’⁴ के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा। अंग्रेजी में भी स्टाइल का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थों में होने लगा, जैसे :—

(1) धातु-निर्मित वह नुकीला उपकरण जो धातु या ताम्बे के पत्रों पर खोदने या चित्रों की प्रतिच्छाया बनाने के काम में आता है।

1. स्टाइल—एफ. एल. लुकास (1960), पृ. 15-16।
2. उद्धृत : शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद (1973), पृ. ख।
3. स्टाइल—एफ. एस. लुकास (1960), पृ. 16।
4. द आर्ट ऑफ़ लिविङ्ग।

- (2) अभिनय, नाव खेने, गाने, चलने-फिरने, घुड़सवारी आदि-आदि जीवन की अन्य क्रियाओं की विशिष्ट पद्धति या मंगिमा ।
- (3) सजना-धजना और विशिष्ट अन्दाज में रहना ।
- (4) किसी को सम्बोधित करने की विधि या विशिष्टता सूचक उपाधि ।¹
- (5) सुन्दर रूपाकार और मस्तीभरा व्यवहार ।
- (6) लिखने या बोलने में भावाभिव्यक्ति की पद्धति ।
- (7) भावाभिव्यक्ति की सुन्दर पद्धति ।

उक्त विभिन्न अर्थों में जीवन की विभिन्न क्रियाओं में 'पद्धति' या 'विशिष्ट पद्धति' का अर्थ प्रायः समान रूप से अवस्थित है, किन्तु साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में 'स्टाइल' शब्द से आशय केवल अन्तिम दो अर्थ-प्रकारों 'भावाभिव्यक्ति की पद्धति' एवं 'भावाभिव्यक्ति की सुन्दर पद्धति' से ही है, अतः स्टाइल शब्द को इन्हीं अर्थों पर केन्द्रित करके विवेचित किया जायेगा ।

भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भावाभिव्यक्ति की पद्धति या प्रकार को लेकर एक रोचक तथ्य यह है कि जहाँ भारतीय साहित्यशास्त्र में उक्त अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक शब्द प्रचलित रहे हैं, जैसे रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, संघटना, मार्ग, शैली आदि वहाँ पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में प्रमुखतः एक 'स्टाइल' ही शब्द प्रयुक्त होता रहा है, किन्तु वह उक्त सभी शब्दों से भी अधिक व्यापक अर्थों को वहन करता रहा है ।

समकालीन भारतीय साहित्यशास्त्र में अब 'स्टाइल' के लिए 'शैली' शब्द को ही प्रयुक्त किया जाता है और इस शब्द ने 'स्टाइल' के अर्थ की व्यापकता को ग्रहण भी कर लिया है । लेकिन 'शैली' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है—भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ । अतः यहाँ शैली शब्द की व्युत्पत्ति और विकास को प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(आ) शैली : व्युत्पत्ति

'शैली' शब्द के उद्गम और प्रचलन के इतिहास में जाने पर यह तथ्य सामने आता है कि 'शैली' शब्द 'शील' शब्द से निर्मित है । 'माध्यंदिन संहिता' (30-40) में 'शील' एक देवता विशेष हैं, जिनका मेध्य आँजनी विद्या है । आँजनी विद्या में लीपना-आँजना आदि समाहित होता है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से शाकटायन के उणादि सूत्र (4-38) में इसे 'शी' (शीङ्.शयने) धातु में 'लक्' प्रत्यय के योग

1. विद वन वोइस सर ।

द सिटिजन्ज सेल्यूट यू विद द स्टाइल ऑव किङ्. ऑव नेपल्ज ।

फ्लेचर, डबल मैरिज, वोल्यूम-4 ।

उद्धृत: शैली-डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. ६ ।

से निष्पन्न माना है। टीकाकारों ने इसका अर्थ स्वभाव (शील स्वभावः) किया है। पाणिनि के 'धातुपाठ' में 'शील' दो धातुएँ हैं। एक तो म्वादि गण में आती है जिसका अर्थ 'एकाग्र होना' (समाधि) है। दूसरी चुरादि गण में आती है, जिसका अर्थ 'अभ्यास होना' (उपधारणं अभ्यासः) है। डॉ. भोलानाथ तिवारी शैली से सम्बन्धित 'शील' शब्द को चुरादिगणीय धातु के ही अधिक निकट पाते हैं।¹ 'शील' शब्द में 'अप' प्रत्यय लगाने से शैली शब्द बनता है।

(इ) शैली शब्द के प्रचलन का इतिहास

जैसा कि शैली की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है, 'माध्यंदिन संहिता' में 'शील' शब्द मेघ आँजनी विद्या के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह विद्या लीपने, आँजने आदि से सम्बन्धित रही है। रोचक तथ्य तो यह है कि इस शब्द का प्रारम्भिक स्वरूप भी आज के शैली शब्द के अर्थ के अत्यन्त निकट पड़ता है। आगे चलकर यास्क के निरुक्त में 'शील' शब्द दो स्थलों पर आया है—

“अभ्यासे भूयां समर्थ मन्यन्ते । यथा 'अहो दर्शनीया

अहो दर्शनीया' इति । तत् परुच्छेपस्य शीलं ।” (10-42)

(अभ्यास या पुनरुक्ति में अर्थ की अधिकता मानते हैं। जैसे—अहो दर्शनीय है। यह परुच्छेप ऋषि की शैली है।)² यहाँ 'शील' शब्द का प्रयोग तो आज के 'शैली' शब्द के समान ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। यही नहीं निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गा ने इस प्रसंग को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ...नहि अकस्मात् स एव शब्द पुनरभ्यस्यते ।....स हि नित्यं अभ्यस्तैः शब्दैः स्तोति ।' (यह शब्दावृत्ति आवश्यक नहीं है। वह ऋषि नित्य ही पुनरुक्ति का प्रयोग करके स्तुति करता है।) यहाँ पुनरुक्ति द्वारा स्तुति करने की नित्य अभिव्यक्तिक विशेषता को 'शील' कहा गया है और यह 'शैली' शब्द के वर्तमान अर्थ की प्राचीनता को सिद्ध करता है।

'शील' के बाद 'शैली' शब्द का प्रयोग पातंजलि के महाभाष्य (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व) में लक्षित किया जा सकता है।

‘एषा हि आचार्यस्य शैली लक्ष्यते ।’

(यह पाणिनि की शैली प्रतीत होती है)

(महाभाष्य 2-1-3, भज्जक संस्करण, पृ. 563)

11 वीं सदी में प्रदीपकार कट्यट कहते हैं—‘शीले स्वभावे भवा वृत्तिः शैली ।’ (शील अर्थात् स्वभाव में होनेवाली वृत्ति शैली है।) 13वीं सदी में ‘मुग्धबोध

1. शैली-विज्ञान-डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 11।

2. वही।

व्याकरण' की टीका में दुर्गादास लिखते हैं कि 'आचार्याणाम् इयं शैलीयत् सामान्ये-नाभिधाय विशेषेण विवृणोति' (शब्द-कल्पद्रुम' में 'शैली' प्रविष्टि के अन्तर्गत उद्धृत)। अर्थात् आचार्य पहले तो बात संक्षेप में कहते हैं, फिर विस्तार करते हैं। यह उनकी शैली होती है।¹

उक्त उदाहरणों में शैली शब्द के अर्थ का विकास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है और इस तरह 'स्टाइल' के साथ इस शब्द का मिल जाना नितान्त अनायास और संयोग मात्र नहीं है; बल्कि एक सुस्पष्ट अर्थ-साम्य ही है। उक्त तथ्यों के आधार पर न तो डॉ. नगेन्द्र के इस कथन को ही स्वीकारा जा सकता है कि 'अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में शैली का प्रयोग आधुनिक ही है जो अंग्रेजी के स्टाइल शब्द का पर्याय है'² और न डॉ. विद्यानिवास मिश्र की इस धारणा को ही माना जा सकता है कि 'शैली' का प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय में साहित्येतर विधाओं के सन्दर्भ में प्रादेशिक विशेषताओं या कला-सम्प्रदायगत विशेषताओं को जतलाने के लिए हुआ है।³

(ई) 'स्टाइल' के लिए उपयुक्त शब्द : शैली अथवा रीति

आजकल 'शैली' शब्द ने साहित्यशास्त्र में अपने प्रयोग और अर्थगत विविधताओं को लेकर एक हलकी-सी बहस छेड़ रखी है। किन्तु सामान्यतः शैली को अंग्रेजी के 'स्टाइल' के समानार्थी शब्द के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'स्टाइल' सम्बन्धी जो स्पष्ट और सुदीर्घ चिन्तन-परम्परा रही है, वैसी प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में 'शैली' को लेकर कभी नहीं रही। बल्कि 'स्टाइल' के इर्द-गिर्द अर्थ रखने वाले और एक लम्बी साहित्यशास्त्रीय परम्परा से गुजरनेवाले एक अन्य शब्द 'रीति' ने अपने को स्टाइल का समानार्थी साबित करने का अवश्य दावा किया है। श्री विद्यानिवास मिश्र ने तो 'स्टाइल' के लिए 'रीति' और 'लिग्वो-स्टाइलिस्टिक्स' के लिए 'रीति-विज्ञान' शब्दों को ही अधिक उपयुक्त समझा है।⁴ उनके अनुसार 'शुद्ध रूप से सामान्य भाषा के विशेष गुणों के आधार के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण करने के लिए ही 'रीति' शब्द प्रयुक्त हुआ है।⁵ भारतीय काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द को 'विशिष्ट पद-रचना रीति'⁶ के रुढ़ अर्थ से निकालकर उसके अर्थ का थोड़ा-सा विस्तार भर तक करना चाहते हैं। उनकी

1. शैली-विज्ञान—डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 12।
2. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र—सं. डॉ. नगेन्द्र (1954), पृ. 55।
3. रीति-विज्ञान—डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 14।
4. वही, पृ. 14-15।
5. वही, पृ. 14।
6. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 1-2-13, वामन।

पष्ट धारणा है कि 'संकेत सामान्य से संकेतित-सामान्य के साथ ही साथ उससे सम्बद्ध संकेतित-विशेष की पहचान जिन घटक तत्त्वों द्वारा होती है, उनके लिए सबसे अधिक क्षमतावाला शब्द 'रीति' ही है।¹ किन्तु एक शब्द को भाषा में सायास स्थान देने से वह टकसाली नहीं बनता। शब्दों का चलन उनकी सहजता में होता है। वस्तुतः वामन के 'रीति' शब्द के प्रयोग में वस्तुनिष्ठता का अर्थ अत्यधिक समाया हुआ है, दूसरे वह 'विशिष्ट पद-रचना' के लिए इतना रूढ़ हो गया है तथा रीति सम्प्रदाय की सुदृढ़ परम्परा के कारण वह अपने अर्थ को इतना विशिष्ट कर चुका है कि उस पर अर्थ के अन्य रंग नहीं चढ़ाये जा सकते। 'रीति' शब्द शास्त्र-रूढ़ बनकर रह गया है और उस पुराने सिक्के को आज चालू करना कठिन है, जबकि 'स्टाइल' के सम्पूर्ण अर्थ का वहन करता हुआ 'शैली' शब्द हिन्दी आलोचना का टकसाली सिक्का है।²

शब्दों का प्राणतत्त्व उनकी सामाजिक स्वीकृति में है, अतः 'स्टाइल' के लिए आम प्रयुक्त 'शैली' शब्द को ही स्थायित्व प्रदान कर इस शास्त्र की धारणाओं का विवेचन करना उपयुक्त है। 'इस नवीन शास्त्र-विधा के नामकरण के मुहूर्त से ही विवाद'³ प्रारम्भ न कर प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रबन्ध में 'शैली' शब्द को ही स्टाइल के समानार्थी शब्द के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

(ख) शैली तथा अन्य समीपवर्ती भारतीय अवधारणाएँ

अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द के लिए 'शैली' शब्द को सुनिश्चित कर लेने के बाद भी भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रचलित उन अवधारणाओं का विवेचन करना आवश्यक रहा है जो या तो शैली के बहुत समीप पड़ती हैं या जो 'स्टाइल' शब्द की अवधारणा की व्यापकता में समाहित की जा सकती हैं। शैली के अतिरिक्त ये अवधारणाएँ हैं प्रवृत्ति, वृत्ति, रीति, संघटना, मार्ग आदि, जिनका यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) प्रवृत्ति और शैली

शैली (स्टाइल) का समीपवर्ती वह प्राचीनतम शब्द जो भारतीय साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है, 'प्रवृत्ति' है। इस शब्द का सर्वप्रथम विवेचन भरत के नाट्य-शास्त्र में ही मिलता है। भरत ने नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का स्थापन करनेवाली विशेषता को प्रवृत्ति कहा है।⁴ भरत नाट्यशास्त्र लिख रहे थे, अतः उनका ध्यान भाषा के अतिरिक्त वेश-भूषा, आचरण-व्यवहार आदि के अभिनय पर

1. रीतिविज्ञान—डॉ० विद्यानिवास मिश्र, पृ० 15।

2. शैलीविज्ञान—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 6।

3. वही।

4. पृथिव्यां नाना देशवेशभाषाचारवर्तीम् ध्यापयतीति प्रवृत्तिः (नाट्यशास्त्र)।

भी रहा होगा, इसलिए उन्होंने प्रवृत्ति को केवल भाषायी विशेषताओं तक ही सीमित नहीं रखा था। आगे चलकर राजशेखर ने प्रवृत्ति को केवल वेश-विन्यास-रूप तक ही सीमित माना है।¹ इसी तरह भोज तथा शिगभूपाल ने भी इसका विवेचन किया है। प्रवृत्ति की उक्त विवेचनाओं से यह स्पष्ट है कि भरत ने प्रवृत्ति को अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ दिया था, जिसमें नाटक के सभी तत्त्वों को लेकर पाई जानेवाली भौगोलिक विभिन्नताओं एवं विशेषताओं का बोध होता था। किन्तु कालान्तर में इसका अर्थ-संकोच होता गया और वह केवल वेश-विन्यास सम्बन्धी बाह्य भौगोलिक विशेषताओं तक ही सीमित रह गया। आज प्रवृत्ति का प्रयोग सामान्यतः किसी समुदाय विशेष की किसी काल-विशेष में व्याप्त सांस्कृतिक विशेषताओं अर्थात् उसकी रुचि, स्वभाव, परम्परा, खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन और अन्य क्रियाकलाप की विशिष्टताओं के लिए किया जाता है।² अतः प्रवृत्ति का सम्बन्ध एक ओर देश-विशेष से है, तो दूसरी ओर काल-विशेष से। प्रवृत्ति में पारम्परिकता और सामुदायिकता के तत्त्व भी विशेष महत्त्व रखते हैं। साहित्यशास्त्र में शैली का प्रयोग प्रथम तो साहित्य एवं कला-सम्बन्धी विशेषताओं तक ही सीमित है, द्वितीय, शैली में वैयक्तिकता का तत्त्व इतना प्रखर है कि वह पारम्परिकता के स्थान पर रचनाधर्मी नवीनता और सृजनात्मक वैशिष्ट्य को अधिक व्यक्त करता है। प्रवृत्ति में स्थूलता और मूर्तता एवं बाह्यता अधिक है, जबकि शैली में सूक्ष्मता, अमूर्तता और आन्तरिकता। प्रवृत्ति का वैशिष्ट्य समाज, देश और काल पर आधारित होता है, जबकि शैली का वैशिष्ट्य व्यक्ति, कथ्य और मनःस्थिति पर। इस सन्दर्भ में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त की इस मान्यता से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि 'प्रवृत्ति का समूह शैली है....'।³ दोनों में स्पष्ट अन्तर है, जबकि दोनों ही 'वैशिष्ट्य' को तो प्रकट करते ही हैं।

(आ) वृत्ति और शैली

भारतीय साहित्यशास्त्र में 'वृत्ति' शब्द अनेकार्थों में प्रयुक्त हुआ है, अतः भ्रान्तिजनक हो सकता है। भरतमुनि ने वृत्ति को पात्रों की वाचिक, कायिक और मानसिक चेष्टाएँ माना है, जो नाटक (काव्य) में सर्वत्र पाई जाती हैं। इसीलिए वृत्ति को काव्य की माता भी कहा गया है।⁴ उन्होंने अभिनयात्मक पद्धतियों के आधार पर वृत्तियों का विभाजन भी किया है और उनके वाच्येष्टा, सात्त्विक अभिनय, उग्रप्रांगिक अभिनय तथा मृदुल प्रांगिक अभिनय के आधार पर भारती, सात्वती,

1. काव्यमीमांसा—राजशेखर, (विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1954) तृतीय अध्याय, पृष्ठ 18।
2. साहित्य शैली के सिद्धान्त—डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त (1971), पृ. 34।
3. साहित्य शैली के सिद्धान्त—डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त (1971), पृ. 34।
4. सर्वपामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः (नाट्यशास्त्र)।

आरभटी तथा कैशिकी—चार भेद भी वर्णित किये हैं।¹ इसके अतिरिक्त वृत्तियों को रसों की प्रकृति के अनुसार भी विभाजित किया है।² भरत के बाद वृत्तियों को नाटक के अतिरिक्त काव्य के सन्दर्भ में भी परिभाषित किया गया और तब इनका स्वरूप शब्दार्थक हो गया।

भरत के बाद उद्भट ने वृत्तियों को एक भिन्न अर्थ प्रदान किया। उनके अनुसार वृत्तियाँ केवल वर्ण-व्यवहार मात्र ही हैं जो अनुप्रासादि में समाहित हो जाती हैं।³ आगे चलकर आनन्दवर्धन ने भरत और उद्भट की धारणाओं को समाहित करते हुए रसादि के अनुकूल शब्द और अर्थ के उचित व्यवहार को आधार मानकर दो प्रकार की वृत्तियाँ मानी।⁴ अर्थ के व्यवहारानुसार भरत की कैशिकादि और शब्द के व्यवहारानुसार उद्भट आदि की उपनागरिका आदि। ध्वन्यालोककार (ध्वन्यालोक 3-7) के 'संघटना' सम्बन्धी विवेचना से यह भी स्पष्ट हो गया है कि उन्होंने पदस्थितिप्रधान रचना के लिए 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है तथा वर्णस्थितिप्रधान रचना के लिए 'वृत्ति' शब्द का। रुद्रट⁵ और मम्मट ने भी वृत्तियों को वर्णाश्रित मानकर शब्दालंकारों में अनुप्रास तक ही सीमित कर लिया। साथ ही उन्होंने वामन की रीतियों को वृत्तियों का समानधर्मी मानकर रीति और वृत्ति को समान ही स्थापित कर दिया। आगे पं. जगन्नाथ ने वृत्ति और रीति दोनों को ही वैदर्भी आदि के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

उक्त विवेचन से वृत्ति और शैली के सम्बन्ध को लेकर निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

- (1) भरत के अनुसार वृत्तियाँ अभिनयात्मक पद्धतियाँ हैं जबकि साहित्य-शास्त्रीय शैली का सम्बन्ध भाषाई पद्धतियों से है।
- (2) उद्भट का वृत्ति-विवेचन रचना के वर्णव्यवहार तक ही सीमित है, जबकि शैली भाषा-व्यवहार के सभी स्तरों—पद, वाक्यादि से सम्बन्धित होती है।
- (3) वृत्तियों का आशय अर्थ-व्यवहार से भी लिया गया है और वहाँ वह रीति की समानार्थी बन गई है। लेकिन रीति की तरह वृत्ति-विवेचन

1. भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा। नाट्यशास्त्र, 6-24।

चतस्रो वृत्तयो ह्येता यामु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ॥ (वही) 6-25।

2. नाट्यशास्त्र, 22। 65-66।

3. सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।

पृथक्-पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥

4. रसायनगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।

औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयोद्विविधास्थिताः, ध्वन्यालोकः, 3-33।

5. काव्यालंकार—रुद्रट—2-19।

6. काव्यप्रकाश—मम्मट (नवम् उल्लास), सूत्र 107 से 110 तक।

भी भाषा के शिल्पीय मापदण्ड के रूप में प्रस्तुत हुआ है, जबकि शैली की प्रकृति रचनाधर्मी नवीनता से तथा सहृदय और रचनाकार के सन्दर्भों में विवेचित की जाती है।

- (4) वृत्ति और शैली दोनों में प्रमुख समानता यह है कि दोनों का सम्बन्ध भाषा की संरचनागत पद्धतियों से है। वृत्ति प्रवृत्ति की अपेक्षा शैली से एक कदम समीप भी है, क्योंकि प्रवृत्ति जहाँ क्षेत्रीय विभिन्नताओं से जुड़ी हुई है, वहाँ वृत्ति की भिन्नताएँ भाषा-संरचना के क्षेत्र से ही सम्बन्धित हैं।
- (5) रसानुकूल वृत्तियों का विभाजन वृत्तियों की अर्थगत भूमिकाओं को स्पष्ट करना है और आधुनिक शैली-विवेचन में इस प्रकार के वृत्ति-वर्गीकरण-विवेचन का व्यापक उपयोग किया जा सकता है।

(इ) रीति, संघटना, मार्ग और शैली

भारतीय साहित्यशास्त्र में भाषागत अभिव्यक्ति की दृष्टि से शैली का सर्वाधिक समीपवर्ती और सम्यक् विवेचित शब्द रीति ही है। यद्यपि रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक रीति के लक्षणकर्ता, यहाँ तक कि रीति शब्द के आदि प्रयोक्ता आचार्य वामन (800 ई० के लगभग) ही हैं, किन्तु रीति-सम्बन्धी विचारणा तो भरतमुनि के समय से ही प्रचलित थी। वामन ने रीति को 'विशिष्ट पद-रचना रीति' ¹ कहा है तथा विशिष्ट से आशय उनका गुण-सम्पन्नता से है—'विशेषो गुणात्माः, ² और गुण से आशय काव्य-शोभाकारक धर्म से है—“काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।” ³ वामन की तरह का उक्त रीति-सम्बन्धी विवेचन भरत से लेकर वामन से पूर्व तक किसी भी साहित्यशास्त्री ने नहीं किया; किन्तु भरत द्वारा विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों के उल्लेख में रीति के तत्त्व ढूँढ़े जा सकते हैं। प्रवृत्ति शब्द रीति से अधिक व्यापक अर्थ—‘वेश-भूषा, आचार-व्यवहार तथा भाषा-सम्बन्धी अभिव्यक्ति’ के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः कालान्तर में रीति-सम्बन्धी अवधारणा के विकास में प्रवृत्तियों का योग अवश्य रहा होगा। ⁴ वामन ने रीतियों के प्रकार में ‘पांचाली’ का नामकरण भरत द्वारा प्रयुक्त ‘पांचाली प्रवृत्ति’ के आधार पर ही किया गया लगता है।

भरत के बाद वाणभट्ट ने हर्षचरित में भरत द्वारा प्रयुक्त चार प्रकार की लेखन-शैलियों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार उत्तर भारत के लोग श्लेष को, पश्चिम भारत

1. काव्यालंकारसूत्र—वामन 1-2-7।

2. वही, 1-2-8।

3. वही, 3-1-1।

4. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र—सम्पादक—डॉ. नगेन्द्र, भूमिका, पृ. 31।

के लोग अर्थ-गौरव को, दक्षिणात्य लोग उत्प्रेक्षा को तथा गौड़ प्रदेशीय लोग अक्षरा-डम्बर को महत्त्व देते हैं।¹ उक्त शैलियाँ किसी-न-किसी प्रकार की अभिव्यक्ति-विशिष्टता से सम्बन्धित हैं। भरत ने जहाँ प्रवृत्तियों के विभाजन में प्रादेशिकता को प्रमुख महत्त्व दिया है वहाँ बाण ने अभिव्यक्ति वैशिष्ट्य को, जो कि वामन की रीति-सम्बन्धी धारणा के अधिक सम

बाण के उपरान्त भामह ने परम्परित रीति-प्रवृत्ति सम्बन्धी अवधारणाओं का खण्डन किया। उन्होंने वैदर्भी, गौड़ीय आदि काव्य प्रकारों के सम्बन्ध में कहा कि निबुद्धि लोगों की दृष्टि में गतानुगतिकता-वश ये भिन्न-भिन्न नाम हैं।² भामह काव्य-प्रकारों को भौगोलिकता एवं विशिष्ट गुणों के आधार पर श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट मानने के भी पक्ष में नहीं थे। भामह का काव्य की उत्कृष्टता सम्बन्धी यह स्वतंत्र विवेचन अभूतपूर्व है, जिसमें रीति की रीतिपरकता को तो तिरस्कृत किया ही गया है, साथ ही शैलीगत विश्लेषण के लिए आवश्यक गुणाधारितता को भी महत्त्व दिया गया है।

वामन से पूर्व दण्डी ही एक ऐसे साहित्यशास्त्री हुए हैं, जिन्होंने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग करते हुए मार्गों को गुणों से सम्बद्ध किया है। दण्डी ने तो रीति-सिद्धांत की व्यापक पृष्ठभूमि ही तैयार कर दी थी, इसलिए उन्हें रीतिवादी भी कहा जाता है। दण्डी ने रीति-सम्बन्धी अपनी महत्त्वपूर्ण उद्घोषणाओं में कहा है कि 'वाणी के अनेक मार्ग हैं, जिनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद हैं। इनमें से वैदर्भ और गौड़ीय मार्गों का, जिनका पारस्परिक भेद अत्यन्त स्पष्ट है, अब वर्णन किया जायेगा। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, योज, कांति और समाधि—ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। गौड़ मार्ग में प्रायः उनका विपर्यय लक्षित होता है।... किन्तु जहाँ तक प्रत्येक कवि में स्थित (प्रत्येक कवि की अपनी प्रकृति के अनुसार) उनके भेदों का सम्बन्ध है, उनका वर्णन सम्भव नहीं है।'³

दण्डी द्वारा उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गुणों के विभाजन के आधार पर काव्य-मार्ग निर्धारित होते हैं, किन्तु विभिन्न गुणों के भिन्न-भिन्न संयोजन से वाणी के भी अनेक मार्ग बन जाते हैं और फिर कवि की प्रवृत्तिगत भिन्नता के आधार पर गुणों के अलग-अलग प्रयोग से काव्य-भेद भी संख्यातीत हो जाते हैं, अतः अवर्णनीय बन जाते हैं। दण्डी का यह मार्ग-विवेचन एक ओर वामन की रीति की आधारभूत सामग्री प्रस्तुत करता है, दूसरी ओर शैली के दो प्रमुख तत्त्व—वस्तुगत-विवेचन (गुणाधारित) और उसमें व्याप्त व्यक्ति-तत्त्व को भी समाहित करता है। जहाँ अन्य भारतीय साहित्य-शास्त्री अपनी रीतिपरक विवेचना में जुटे हुए लगते हैं,

1. हर्षचरित—वाणभट्ट (प्रस्तावना), 1-7।

2. काव्यालंकार—भामह, 1-32।

3. काव्यादर्श—दण्डी, 1-40, 41, 42 और 101।

वहाँ भामह, दण्डी, कुन्तक, आनन्दवर्धन आदि विद्वान रचनाकार की प्रतिभा की विशिष्टता को भी समुचित महत्त्व देते हैं तथा शैली को विशिष्ट ढाँचे में ढाले जाने के प्रति अशक्यता प्रकट करते हैं।

वामन ने दण्डी की 'मार्ग'-पद्धति पर ही रीति-सिद्धान्त स्थापित किया। उन्होंने न केवल रीति को परिभाषित ही किया, बल्कि रीति और गुणों के सम्बन्ध की व्यापक चर्चा करते हुए दोषों तथा अलंकारों की भी विवेचना की। वामन की रीति के मूल तत्त्वों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'केवल शब्द-गुम्फ ही नहीं परम्परा-मान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार शब्दशक्ति और दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्त्व हैं'।¹ इस प्रकार साहित्य के भाषागत स्वरूप को विश्लेषित करके, अर्थात् शब्द तथा अर्थ की गुणमूलक शक्तियों का विवेचन करके, साहित्य की समीक्षा करने की एक सम्यक् विधि प्रस्तुत की, जिसका बहुलांश आज के शैलीविज्ञान का भी विवेच्य है। भाषायी कलेवर के आधार पर ही रचना की समीक्षा करके शब्द तथा अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पद-रचना को रीति तथा उसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर पुष्ट परम्परा-सम्पन्न भारतीय साहित्य-शास्त्र में शैलीवैज्ञानिक समीक्षा का एक ऐसा ठोस आयाम स्थापित हुआ, जो कालान्तर में रसवादी आलोचना-पद्धति के विकास के साथ संकुचित होता गया।

वामन के बाद आनन्दवर्धन ने रीति को एक नया नाम दिया—'संघटना'। 'संघटना' माधुर्यादि गुणों को आश्रय करके रसों को अभिव्यक्त करती है, जिसके नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का औचित्य है।

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन व्यनक्ति सा।

रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥ ध्वन्यालोक, 3-6 ॥

आनन्दवर्धन ने भी 'संघटना' (रीति) को वामन की तरह गुणाश्रित ही माना है। साथ ही, साहित्यशास्त्र की रसवादी समीक्षा के विकसित होने के अनुकूल ही उसे रस को अभिव्यक्त करनेवाली कहकर संघटना को उचित महत्त्व प्रदान किया है। आनन्दवर्धन ने संघटना को एक और गुणों से जोड़कर उसकी तात्त्विक प्रकृति को स्पष्ट किया है, वहाँ उसे रसों से सम्बद्ध करके सहृदय पर उसकी प्रभावात्मकता तथा सार्थकता को भी अपेक्षित समझा है। इस प्रकार आनन्दवर्धन का ध्वनि-विवेचन आधुनिक साहित्यशास्त्र के शैली-विवेचन में शैली की उन परिभाषाओं के तो अनुरूप है ही, जो रचना-केन्द्रित² हैं, साथ ही यह उन परिभाषाओं के भी समीप है जो सहृदय-केन्द्रित³ हैं। आनन्दवर्धन के विवेचन में एक रोचक तथ्य यह भी है कि वे संघटना

1. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र—वामन, सं. डॉ. नगेन्द्र (1954), भूमिका, पृ. 46।

2. देखिए इसी अध्याय में आगे शैली की परिभाषाएँ।

3. वही।

के नियामकों में वक्ता (कवि), वाच्य (अर्थ), और काव्य-प्रकार (विषय) को सम्मिलित करते हैं¹ तथा संघटना पर अनेक दृष्टियों से विचार करके इसे पर्याप्त महत्त्व देते हैं, जो आज के शैली-चिन्तन में पर्याप्त उपादेय हो सकता है।

आनन्दवर्धन का संघटना-भेद समास पर आधारित है। अतः उनके अनुसार असमासा, मध्यसमासा और दीर्घसमासा² तीन प्रकार की संघटनाएं होती हैं और इन तीनों का ही सम्बन्ध उन्होंने वामन की वैदर्भी (असमासा), गौड़ी (दीर्घसमासा) तथा पांचाली (मध्यसमासा) से स्थापित कर दिया है।

राजशेखर ने 'वचन-विन्यास-क्रम' को रीति माना है और राजशेखर का ये 'वचन' तथा 'विन्यास-क्रम' वस्तुतः वामन के 'पद' तथा 'रचना' ही है।

रीति की परम्परित धारणा में क्रांतिकारी चिन्तन कुन्तक ने प्रस्तुत किया। कुन्तक के समय तक रीति समासों से जुड़ कर पद-रचना के रूपों के लिए रूढ़ हो चुकी थी। उसके स्पष्ट भेद स्थापित हो चुके थे, जो प्रादेशिक एवं रचना-पद्धति पर आधारित थे। कुन्तक ने रीति-सम्बन्धी धारणाओं के ढर्रे को बदलने का प्रयास किया। उन्होंने काव्य में 'कवि स्वभाव' को प्रमुख मानते हुए उसी के अनुसार मार्ग का निरूपण किया और रीतियों के प्रादेशिक वर्ग-विभाजन का उपहासपूर्वक तिरस्कार किया।³ कुन्तक ने वैदर्भी और गौड़ी के स्थान पर 'सुकुमार', 'विचित्र' तथा 'मध्यम'—तीन प्रकार के काव्य-मार्ग (रीतियाँ) सुझाये, क्योंकि उनके समय तक प्रदेश के आधार पर रीतियों में विशिष्टता प्राप्त करने की कोई प्रवृत्ति नहीं रह गई थी।⁴ कुन्तक ने रचना में व्यक्ति-तत्त्व (रूढ़ि स्वभाव) की भूमिका को समझते हुए लिखा है कि केवल शब्द-रचना या समास-योजना से मार्गों का विभाजन नहीं हो सकता। वस्तुतः समास-योजना भी कवि की अन्तः प्रकृति का ही बाह्य स्वरूप है। कुन्तक द्वारा मार्गों (रीतियों) में व्यक्ति-तत्त्व की प्रतिष्ठा आधुनिक शैली-विवेचन से अत्यधिक मिलती-जुलती है। दरअसल भरत ने ही नाट्यशास्त्र में भाषा को पात्र के शैल-स्वभाव की अनुवर्तिनी माना था और इसी को आगे चलकर भामह और दण्डी ने (गुण और रीति का मौलिक तथा स्थाई सम्बन्ध नहीं स्वीकार कर एवं मार्गों की अनन्तता दिखाकर अपने विवेचनों में स्वीकार किया तथा कुन्तक ने तो इस धारणा को अधिक पुष्ट करके रीति में व्यक्ति-तत्त्व का ही प्रतिफलन मान लिया।

वस्तुतः रीति की रूढ़िपरक धारणा के विकास के समानान्तर व्यक्तिपरक धारणा भी अग्रसर होती रही। शैली का व्यक्तिवैशिष्ट्य गुण कुन्तक की उक्त धारणाओं में विद्यमान रहा है। बुफो कहते हैं कि 'शैली ही व्यक्ति है'। हडसन शैली को

1. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 3-6 एवं 7।

2. वही, 3-5।

3. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र—सं. डॉ. नगेन्द्र (1954), भूमिका, पृ. 39-40।

4. संस्कृत पोयटिक्स—कृष्ण चैतन्य (1965), पृ. 105।

‘मूलतः एक वैयक्तिक गुण’ मानते हैं और शोपेनहावर शैली को मस्तिष्क की मुखाकृति तथा चेहरे की अपेक्षा मानव-स्वभाव की अधिक विश्वसनीय परिचायिका मानते हैं तो दण्डी मार्ग को ‘प्रतिकविस्थिता’—प्रत्येक कवि में स्थित मानते हैं और भेदों का वर्णन करने में अशक्य महसूस करते हैं,¹ या कुन्तक उसे ‘कवि-प्रस्थान-हेतु’ अर्थात् कवि की विधि या शैली कहते हैं तथा कवि-स्वभाव को ही रीति का निष्पत्तिक आधार मानते हैं ।

रीति का पर्याप्त विवेचन होने के बाद भोज ने रीति की व्युत्पत्ति परक व्याख्या की । उसके अनुसार वैदग्ध्य पथ ही काव्य में मार्ग कहलाते हैं । गत्यर्थक रीङ्घातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है । भोज ने इस प्रकार मार्ग, पथ और रीति को पर्याय ही सिद्ध कर दिया ।

भोज के बाद मम्मट ने रीतियों की वृत्तियों के रूप में विवेचित किया । उपनागरिका, पुरुषा और कोमला वृत्तियों के लिए कहा कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने इन्हें वैदर्भी, गोड़ी और पांचाली रीतियाँ कहा है । मम्मट ने नियत वर्णों के रसानुकूल व्यापार को ही वृत्ति माना (वृत्तिनियतवर्णगतो रस विषयो व्यापारः—काव्यप्रकाश 9-79-104) । इस तरह रीतियों को भी नियत वर्ण-गुम्फन के रूप में ही स्वीकार किया । इस प्रकार रीतियों को जिन्हें आनन्दवर्धन ने समासाश्रित माना था, मम्मट ने वर्णाश्रित ही ठहरा दिया और वामन की काव्य-आत्मा रीतियाँ अब काव्य के ध्वन्यात्मक पक्ष की बाहिका ही रह गई । लेकिन मम्मट ने भी रीतियों को ‘रस विषयो व्यापारः’ मानकर उनको उनकी रचनात्मक प्रक्रिया से लेकर प्रभावात्मक प्रक्रिया तक परखने का प्रयास किया है, जो आनन्दवर्धन भी कर चुके थे ।

मम्मट की वर्णाश्रित रीतियाँ विश्वनाथ के ‘साहित्यदर्पण’ में पुनः पलटा खाकर पद-संघटना के रूप में पुनः प्रतिष्ठित हुई । ‘पद-संघटनारितिरंगसंस्थाविशेषवत्-उपकर्त्रीरसादीनाम्’ अर्थात् पदों की संघटना का नाम रीति है—वह अंग-संस्थान (शरीर-गठन) की भाँति है—और काव्य के आत्मरूप रसादि का उत्कर्ष-वर्धन करती है । रसवादी विश्वनाथ रीतियों को अंग-संस्थान के रूप में पहचान सकते थे, क्योंकि अब काव्य ‘रसात्मक वाक्य’ था । काव्य की आत्मा रीति अब अंग-संस्थान थी ।

भरत से लेकर विश्वनाथ तक भारतीय साहित्यशास्त्र में समीक्षात्मक दृष्टि-कोण में जमीन-आसमान का अन्तर आ चुका था । अलंकार, रीति और वक्तव्य सम्प्रदायों ने साहित्य का भाषाधारित विश्लेषण किया था और उस विश्लेषण में पर्याप्त वस्तुगतता थी; किन्तु रसवादी समीक्षा सहृदयाधारित थी और उसमें विषयीगतता अधिक थी । समीक्षा-दर्शन के इस परिवर्तन के साथ-साथ रीति-सम्बन्धी धारणाओं में भी परिवर्तन आया । किन्तु रीति को कुछ मूलभूत तत्त्वों के साथ सदैव जाना जाता रहा और आज भी जाना जाता है:—

1. काव्यादर्श—दण्डी, 1-101 ।

- (1) रीति भाषागत अभिव्यक्ति-पद्धति है।
- (2) भाषागत अभिव्यक्ति-पद्धति होने के कारण रीति पद-रचना के स्तर पर सामासिकता एवं वर्णस्तर पर ध्वन्यात्मक संगति आदि भाषागत विशेषताओं पर आधारित है।
- (3) भौगोलिक समानता सांस्कृतिक स्वरूप को जन्म देती है। अतः एक क्षेत्र विशेष के रचनाकारों में यदि अभिव्यक्ति-पद्धति के स्तर पर समानता स्थापित हो जाये तो एक विकसित होती हुई रीति का भौगोलिकता से जुड़ जाना स्वाभाविक ही है। अतः रीतियों का नामकरण भी क्षेत्रीयता के आधार पर हुआ है।
- (4) रीति का सम्बन्ध शब्दगत एवं अर्थगत गुणों से है और इन गुणों की सृष्टि रचनाकार की प्रतिभा का ही प्रतिफलन है। अतः रीति रचनाकार की प्रतिभा की ही अभिव्यक्ति है। इसलिए व्यक्ति-वैशिष्ट्य रीति का आनुषंगिक तत्त्व है। व्यक्ति-वैशिष्ट्य से रीति-वैशिष्ट्य भी स्वाभाविक ही है इस प्रकार रीति जहाँ एक ओर अभिव्यक्ति की पद्धति से जुड़ी हुई है वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति से भी। व्यक्ति से जुड़कर वह रचनाकार-विशिष्ट की अभिव्यक्ति-विशेषताओं को प्रकट करती है तो पद्धति से बँधकर वह उन विशेषताओं से जो काव्यत्व-धर्मी होती हैं।
- (5) साहित्य का रीतिगत अध्ययन न केवल साहित्य-शास्त्रीय परम्पराओं और पद्धतियों का विश्लेषण करता है, बल्कि साहित्यकारों की नवोद्भूत प्रतिभाओं की नवीनताओं से भी परिचय कराता है। अतः रीति एक 'प्रतिरूप' (Pattern) विशेष और 'प्रतिरूप के अतिक्रमण' तथा पुनः 'अतिक्रमणों के प्रतिरूप' को विवेचित करती है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रारम्भ में तो रीति का उक्त स्वरूप ही उभरा, किन्तु कालान्तर में साहित्य-रचना में व्याप्त रीतिवादिता तथा साहित्य-समीक्षा में सहृदय-परकता के सन्निवेश एवं दार्शनिकता के अनावश्यक अतिक्रमण ने समीक्षा के रीतिमूलक स्वरूप को उपेक्षित कर दिया और समीक्षा का भाषावादी चिन्तन कुण्ठित होता गया।

आधुनिक शैलीविज्ञान अपनी कृति-केन्द्रित, भाषाधारित एवं वस्तुगत समीक्षा के बल पर पुनः विकसित हो रहा है और रोचक बात यह है कि आधुनिक शैली-विज्ञान में 'रीति' के उपर्युक्त सभी तत्त्व मौजूद भी हैं। लगता है रीति एक लम्बे अन्तराल के बाद नयी वेशभूषा में पुनः सज-सँवर कर साहित्यशास्त्र के रंगमंच पर उतर रही है।

(ग) शैली : परिभाषा

शैली शब्द रचना के कथ्य और कथन, रचनाकार और सहृदय, वैयक्तिकता और

सामाजिकता, सामान्य भाषा और काव्य-भाषा तथा पद्धति और पद्धति के अतिक्रमण आदि अनेक ऐसे साहित्यशास्त्री तत्त्वों से जुड़ा हुआ है कि इसका विवेचन समग्र सौन्दर्य-शास्त्र और समीक्षाशास्त्र को ही समाहित कर लेता है। स्वाभाविक है कि इस शब्द की व्यापकता और बहुरूपता तथा सूक्ष्मता और परिवर्तनशीलता की प्रकृति को देखते हुए इसे सहज ही परिभाषित कर देना, और एक ही रूप में, एक ही दृष्टि से तथा स्थाई रूप से परिभाषित कर देना असम्भव ही नहीं अवांछनीय भी है।¹ मिडिल्टन मरि कहते हैं कि 'साहित्य-समीक्षा की समस्याओं पर अन्तिम शब्द कौन कह सका है ? और क्या हम अन्तिम शब्द का कहा जाना चाहेंगे भी ?'²

साहित्य-रचना साहित्यकार की प्रकृति का प्रतिरूप है, और उसकी प्रकृति आत्मनिष्ठ ही है। इतना ही नहीं साहित्य की समीक्षा-प्रक्रिया बहुत कुछ आत्मनिष्ठ होने के कारण समीक्षा भी स्वयं विषयीगतता का परिणाम है। वस्तुतः साहित्य का सृजन और आस्वादन विषयीगतता के छोरों में बद्ध रहने के कारण शैली का स्वरूप भी अनिश्चयात्मक, गत्यात्मक और वैचित्र्यपूर्ण ही रहता है, रोचकतथ्य तो यह है कि साहित्य के अध्ययन को वस्तुगत बनाने वाली शैली-सम्बन्धी अवधारणाएँ ही वस्तुगत नहीं हैं। फिर भी शैली-विवेचन के सम्बन्ध में प्रयास यही करना है कि शैली-सम्बन्धी परिभाषाओं का विवेचन-विश्लेषण अधिक से अधिक वस्तुगत बनाया जा सके।

साहित्यशास्त्र का सम्पूर्ण शैली-सम्बन्धी विवेचन तीन धुरियों पर आधारित रहा है, वे हैं—

(1) रचनाकार (2) सहृदय और (3) रचना। तीनों भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं, अतः शैली को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की परिभाषाएँ दी गई हैं। इनका विवेचन क्रमशः प्रस्तुत है।

(अ) रचनाकार-केन्द्रित परिभाषाएँ

रचना पाठक पर ऐसा विशिष्ट प्रभाव छोड़ती है कि पाठक (समीक्षक) रचना का अध्ययन-विश्लेषण करते समय उस विशिष्ट प्रभाव का कारण रचनाकार के विशिष्ट व्यक्तित्व को ही मान लेता है। समीक्षक के इस दृष्टिकोण से उद्भूत शैली-सम्बन्धी अनेक परिभाषाएँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

(1) "शैली ही व्यक्ति है,"³

(2) "शैली मूलतः एक वैयक्तिक गुण है।"⁴

—हडसन

1. 'इम्पीसिवल टू डिफाइन इट इन ए वे दैट वुड कमाण्ड यूनीवर्सल एसेण्ट' द लैंग्वेज ऑव लिट्रेचर एस. बैटेमन एवं एस. लेविन, पृ. 337।
2. द प्रोब्लम ऑव स्टाइल—जे. मिडिल्टन मरि (1975), पृ. 3-4।
3. 'स्टाइल इज द मैन—वुफों—द न्यू डिक्शनरी ऑव थॉट—टी एडवर्ड ज।
4. उद्धृत : शैली-डॉ० रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 9।

- (3) "शैली आत्मा का मुखकृति-शास्त्र है।"¹ —शोपेनहावर
- (4) "शैली लेखक के मस्तिष्क और व्यक्तित्व की मुहर है।"² ,,
- (5) "शैली लेखक का मानस-चित्र है।"³ —एडमण्ड
- (6) "किसी लेखक की शैली उसके मस्तिष्क की सच्ची प्रतिलिपि है।"⁴ —गेटे
- (7) "शैली का अर्थ है कलात्मक अभिव्यक्ति में व्यक्तित्व की प्रधानता।" एवं
- (8) "यदि भाव सोना है तो शैली मुहर है, जो इसे प्रचलन-योग्य बनाता है और बताता है कि किस राज्य ने इसे मुद्रित किया है।" —शेरन
- (9) "लेखक की शैली उसकी उतनी ही अपनी होती है, जितनी उसकी अंगुलियों की छाप।" —जे० ब्राउन
- (10) "माध्यम संघटक तथा संरचना में व्यक्त कलाकार का व्यक्तित्व ही शैली है।" —ददले
- (11) 'शैली लेखक के व्यक्तित्व का घनिष्ठ एवं अविभाज्य तत्त्व है।'⁵ इ.पी. व्हिपले।
- (12) 'जब कोई व्यक्ति सार्वजनीन भाषा को भी एक विशिष्ट, निराली और अद्वितीय बोली के रूप में प्रस्तुत करता है तो वह उसकी शैली ही है।' रेमी द गोरमोन्त्स्।⁶
- (13) 'कलाकार की शैली उसके सत्य के प्रत्यक्ष ज्ञान एवं उसके द्वारा प्रयुक्त कलात्मक साधनों का संयोजन है।'⁷ —डी. लिखाचोव
- (14) 'लेखक की शैली उसके दृष्टिकोण की भाषा के माध्यम से बिम्बों द्वारा अभिव्यक्ति है।'⁸ —फिरमुन्स्की

उक्त क्रम में अनेक परिभाषाओं को और जोड़ा जा सकता है। उक्त सभी परिभाषाओं का मूल विषय यही है कि रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व ही व्याप्त रहता है। रचना में व्यक्तित्व की प्रधानता का यह दृष्टिकोण साहित्य-समीक्षा में

1. स्टाइल इज द फिजियोगोमी ऑव द सोल—शोपेनहावर।
2. उद्धृत : शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 9।
3. उद्धृत : एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका।
4. उद्धृत : शैलीविज्ञान—डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 17।
5. द न्यू डिक्शनरी ऑव थॉट।
6. उद्धृत : लिंविस्टिक्स एण्ड स्टाइल—एंकविस्ट आदि, पृ. 21।
7. द पोयटिक्स ऑव एन्शिष्ट रशियन लिट्रेचर (रूसी में) डी० लिखाचोव, उद्धृत : द राइटर्स क्रियेटिव इण्डिविजुअलिटी एण्ड द डिवलेपमेण्ट ऑव लिट्रेचर-लेखक-एम० छापचेव्को, पृ० 90।
8. फॉम द एन्थोलोजी इण्टरनेशनल लिटरेरी कनेक्शन्स (रूसी में), उद्धृत : वही, पृ० 91।

रचनाकार को घुरी में स्थापित करने का प्रयास है। रचनाकार अपने प्रतिभा-वैशिष्ट्य के कारण विशिष्ट अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देता है और अभिव्यक्ति को यह विशिष्टता ही लुभावनी हुआ करती है। किन्तु समीक्षक अभिव्यक्ति की इस विशिष्टता तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि वह उसके माध्यम से रचनाकार के व्यक्तित्व से भी जुड़ जाता है। इस प्रकार वह रचना और रचनाकार को एक ही पंक्ति में खड़े देखकर उन्हें शैली से सम्बद्ध करने का प्रयास करता है। किन्तु इस प्रयास में उस प्रक्रिया की ओर संकेत नहीं है, जो रचना को रचनाकार के अनुरूप बनाती है।

रचना की शैली में ऐसी जीवन्तता मिलती है जो हमें रचनाकार के व्यक्तित्व से अनायास जोड़ देती है। शैली के वैशिष्ट्य से चमत्कृत होकर हम रचनाकार के पास दौड़ने लगते हैं। इससे व्यक्तित्व और शैली में पारस्परिक तादात्म्य और एकरूपता देखकर समीक्षक को कुछ विस्मयकारी सुख तो प्राप्त हो सकता है, किन्तु इससे रचना की शैलीगत निमित्त को नहीं समझा जा सकता। अतः रचनाकार-केन्द्रित उक्त परिभाषाएँ शैली के मात्र कारण को इंगित करनेवाली चेष्टायें हैं, उसकी संरचना का विवेचन करनेवाली नहीं।

भारतीय साहित्यशास्त्री चिन्तन व्यक्तित्व (प्रतिभा) को काव्य के हेतु के रूप में ही स्वीकार करता रहा है।¹ वह यह भी मानता रहा है कि प्रतिभा और कवि-प्रकृति (स्वभाव) की भिन्नता के कारण काव्य-शैली में भी भिन्नता पायी जाती है तथा प्रतिभाओं की असंख्यता के साथ-साथ शैलियाँ भी असंख्य और अनिवर्चनीय हैं।² किन्तु जहाँ वह शैली को परिभाषित करने पर उतरता है, वहाँ उसके भाषावादी स्वरूप को ही स्पष्ट करता है, चाहे वह अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के सन्दर्भ में हो, चाहे ध्वनि के सन्दर्भ में।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी तीव्रता के साथ उभरता हुआ समीक्षकों का एक वर्ग है, जो रचना की प्रकृति का विश्लेषण उसके भाषायी स्वरूप के आधार पर कर रहा है और शैली को शैली के संरचनात्मक घटकों के आधार पर परिभाषित कर रहा है। यह वर्ग शैली के व्यक्तित्व-प्रधान विवेचन को मनोवैज्ञानिक अद्वैतवाद³ (साइकोलोजिकल मोनिज्म) मानता है तथा शैली में व्यक्तित्व को समुचित महत्त्व देते हुए उसका वस्तुगत अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह वर्ग रचना को स्वनिष्ठ (ऑटोनोमस) मानता है तथा उसको रचनाकार से काटकर एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व-

1. कवित्वबीज—प्रतिभानाम्—काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः—1-3-16।

2. काव्यादर्श—दण्डी, 1-40।

3. कालिज कम्पोजीशन एण्ड कम्प्यूनिकेशन-लुइस टी. मिलिक (थियरीज ऑव स्टाइल एण्ड देअर इम्प्लीकेशन्ज) 16, नं. 2 (1965, पृ. 6)।

उद्धृत : ए स्टाइलिस्टिक स्टडी ऑव राजारावज 'द सर्पेंट एण्ड द रोप' रवीन्द्र प्रकाश (अप्रकाशित), 1973।

सम्पन्न रचना के रूप में अध्ययन करना चाहता है। कवि-व्यक्तित्व और कविता के सम्बन्धों को लेकर यह संकेत दे देना आवश्यक है कि कवि, कविता का रचयिता है, उसका नियामक नहीं। वह उसका जनक है, पिताधाता नहीं। दूसरी बात यह भी है कि जब कविता एक बार अपने अस्तित्व में आती है तब उसके बाद वह कवि से स्वतन्त्र हो जाती है।¹ अतः कविता के अध्ययन के लिए आवश्यक मापदण्डों को भी रचयिता के व्यक्तित्व के अनावश्यक भार से नहीं लादना चाहिए।

(आ) सहृदय-केन्द्रित परिभाषाएँ

शैली के विवेचन में कुछ समीक्षक ऐसे भी हैं जो शैली के 'कारण' (रचना-कार) की ओर न दौड़कर उसके 'प्रभाव' की ओर चले गये हैं। जैसे—

- (1) शैली पाठक को अभिभूत करने का साधन मात्र होती है।²—टी.ई. ह्यूम।
- (2) 'प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अर्थ और इति है।'³—बर्नाडिशाँ।
- (3) सर्वोत्कृष्ट शैली में हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर उस व्यक्ति की अदम्य मानसिक शक्ति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता, जो उस शक्ति का प्रयोग करता है।⁴
- (4) 'शैली वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य दूसरों से सम्पर्क स्थापित करता है...साहित्यिक शैली वह साधन है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे को उद्दीप्त करता है।'⁵—एफ.एल. लुकास
- (5) 'यह निश्चित है कि शैली अथवा भाषिक विधान में प्रतिपाद्य विषय के आकर्षण से भिन्न एक पृथक् प्रकार का बौद्धिक आनन्द प्रदान करने की क्षमता होती है।'⁶—डॉ. क्विन्सी
- (6) 'शैलीविज्ञान एक संगठित भाषा की उन विशेषताओं का अध्ययन करता है, जो प्रभावकारिता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।'⁷—चाल्ज बेली।
- (7) 'शैली एक पाठ में भाषायी साधनों द्वारा प्राप्त किया गया एक निश्चित भावात्मक प्रभाव है।'⁸—हर्बर्ट सीडलर

1. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका। डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (1972), पृ. 43।
2. नोट्स ऑन लैंग्वेज एण्ड स्टाइल-टी.ई. ह्यूम, उद्धृत : शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 9।
3. वही।
4. ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका।
5. स्टाइल—एफ. एल. लुकास, पृ. 49।
6. उद्धृत : शैलीविज्ञान—डॉ. नगेन्द्र, पृ. 8।
7. उद्धृत : लिग्विस्टिक्स एण्ड स्टाइल—ए. क्विस्ट आदि, पृ. 14।
8. वही, पृ. 15।

(8) 'लेखक द्वारा अपनी कल्पना में विद्यमान विश्व की अभिव्यक्ति का साधन एवं पाठक को सन्तुष्ट एवं मोहित करने का साधन ही शैली है।' ¹ एम. खापेवको

उक्त सभी परिभाषाएँ सहृदय पर पड़नेवाले रचना के प्रभावों की चर्चा करती हैं। इनके अनुसार शैली रचना में विद्यमान वह क्षमता है, जो सहृदय को अभिभूत कर देती है। डॉ. रामचन्द्र प्रसाद ह्यूम की परिभाषा के सन्दर्भ में लिखते हैं कि यह वस्तुतः शैली की परिभाषा न होकर शैली के लक्ष्य और प्रयोजन की और सूचनात्मक संकेत है। ² इन परिभाषाओं में न तो शैली के स्वरूप को समझने का प्रयास ही है और न शैली के कारणों को ही जानने की चेष्टा है, इनमें तो सहृदय के मानस पर पड़नेवाले रचना के अक्सों का ही संकेत है। इन परिभाषाओं में सहृदयपरकता अधिक सजग है, समीक्षकता कम। यद्यपि शैली की उक्त परिभाषाओं के आधार पर रचना की प्रेषणीयता, उसके साधारणीकरण की समस्या, रचना का सामाजिकत्व, रचना और सहृदय के पारस्परिक सम्बन्ध आदि साहित्यशास्त्रीय समस्याओं को परखा जा सकता है; किन्तु शैली की संरचना का मूल प्रश्न तो उपेक्षित ही हो जाता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में रचना के प्रयोजन पर अलग से विचार हुआ है और उसके अन्यान्य प्रयोजनों के अतिरिक्त 'आनन्द' को महान महत्त्व प्राप्त हुआ है। ³ इसके अतिरिक्त सहृदय पर पड़नेवाले काव्य-प्रभाव को आधार मानकर साधारणीकरण एवं रस-प्रक्रिया तथा रसवादी सम्प्रदाय का भी विवेचन हुआ है। काव्य की परिभाषा तक 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' दी गयी है; किन्तु जहाँ तक काव्य-शैली के विवेचन का प्रसंग है, भारतीय साहित्यशास्त्रीय चिन्तना मुख्यतः भाषा (रचना) की धुरी पर ही गतिशील रही है। काव्य के प्रभाव की विवेचना के अतिरिक्त शैलीधर्मों तत्त्वों की विवेचना अलग से ही की गयी है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अधुनातन चिन्तन रचना के सहृदय-केन्द्रित समीक्षाओं के अमन्तुलित बहाव से काफी परिचित है, अतः उसका भुकाव रचना के वस्तुगत अध्ययन की ओर ही है। वह शैली को अपरिभाषित और अविश्लेषित नहीं रहने देना चाहता। अतः सहृदय की विषयीगतता को सीमित करते हुए रचना के उन तत्त्वों का अन्वेषण करना चाहता है, जो उसको विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं। इसलिए शैली की परिभाषा भी सहृदय की प्रतिक्रियाओं से हटकर रचना के निर्माणकारी तत्त्वों के विश्लेषण से सम्बन्धित है।

1. द राइटर्ज क्रियेटिव इमिजिजुवेलिटी एण्ड द डिवलमेण्ट ऑव लिटरेचर, पृ. 104।

2. शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 12।

3. (सद्यः परनिवृत्तये) काव्यप्रकाश—मम्मट 1-2, काव्यालंकार सुख-वासन 1-1-5।
काव्यालंकार—सामह, 1-2, वक्रोक्तिजीवितम्—1-3-5 आदि।

जिस प्रकार कविता के स्वस्थ अध्ययन के लिए तथा उसकी स्वनिष्ठता को अनाक्रांत बनाये रखने के लिए उसे रचनाकार के व्यक्तित्व से बचाये रखना आवश्यक है, उसी प्रकार उसे सहृदयों पर पड़े प्रभाव के सन्दर्भों से भी रक्षित करना आवश्यक है।

(इ) रचना (पाठ)—केन्द्रित परिभाषाएँ :

रचनाकार और सहृदय—केन्द्रित शैली की परिभाषाओं की अपेक्षा वे परिभाषाएँ कहीं अधिक हैं, जो रचना-केन्द्रित कही जा सकती हैं। आधुनिक भाषाशास्त्रीय चिन्तन के विकसित होने एवं समीक्षा के वस्तुगत विचारणा के उभरने का परिणाम यह हुआ है कि भाषाशास्त्रीय चिन्तन और साहित्य-समीक्षा परस्पर सम्बद्ध हो गये हैं तथा समीक्षा के नाम पर कृति का भाषाधारित आलोचन विकसित हुआ है। इसीलिए शैली-सम्बन्धी अधुनातन परिभाषाओं में रचना को केन्द्र में रखा गया है, रचनाकार को अथवा सहृदय को नहीं।

रचनाकेन्द्रित परिभाषाएँ भी तीन दृष्टिकोणों को समाहित किये हुए हैं। पहला दृष्टिकोण शैली को रचना के विचार और उनकी अभिव्यक्ति के सम्बन्ध के रूप में देखता है, दूसरा दृष्टिकोण शैली को ऐसे तत्त्वों का अध्ययन मानता है जो तर्कित हैं तथा विचार और भाषा से परे हैं, तीसरा दृष्टिकोण शैली को रचना की भाषा के प्रकृतिगत वैशिष्ट्य के रूप में देखता है और इस वैशिष्ट्य के विश्लेषण में ही शैली का विश्लेषण समझता है। कृति-केन्द्रित परिभाषाओं के ये तीन वर्ग इस प्रकार हैं :—

- (1) विचार और भाषा की सम्बन्ध-सूचक परिभाषाएँ,
- (2) व्यञ्जनासूचक (ध्वनि सूचक) परिभाषाएँ,
- (3) अभिव्यक्ति-वैशिष्ट्य सूचक परिभाषाएँ।

(i) विचार और भाषा की सम्बन्ध-सूचक परिभाषाएँ :

1. 'जब विचार को रूप दे दिया जाता है तो शैली का जन्म होता है'—प्लेटो।
2. 'शैली विचारों का आभरण है, एक सादा पहनावा है।' ¹ रेवरेण्ड सेमुएल वेजली।
3. 'शैली अनुभूति के वैयक्तिक रूप की निर्बाध अभिव्यक्ति है।' ² मिडल्टन मरि।

1. 'स्टाइल इज द ड्रैस ऑव थॉट, अ मॉडैस्ट ड्रैस, नीट, बट नॉट गॉडी, विल टू क्रिटिक्स प्लीज। (फ्रेन एपिलज टू अ फेड कंसनिड् पोयट्री)

उद्धृत : शैली—रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 10।

2. 'स्टाइल इज द डाइरेक्ट एक्सप्रेसन ऑव एन इण्डिडिजुअल मॉड ऑव एक्सपीरियंस...' द प्रोब्लम ऑव स्टाइल- मिडल्टन मरि, पृ. 17।

4. 'शैली का अस्तित्व इसमें निहित है कि दिये हुए विचार के साथ उन सब परिस्थितियों को जोड़ दिया जाये जो उस विचार के अभिष्ट प्रभाव को सम्पूर्णता में उत्पन्न करने वाली हों।—स्ताघॉल

5. 'शैली विचारों की पोशाक है।'—चेस्टरफील्ड

उक्त परिभाषाएँ रचना में विचारों और उनकी अभिव्यक्ति के सम्बन्ध को सूचित करती हैं। वस्तुतः यह सम्बन्ध अलंकारों और अलंकार का है और भाषा तथा विचार के एकान्वित एवं संश्लिष्ट स्वरूप को इस रूप में प्रकट करता है मानो उनका विश्लेषण किया जा सकता हो। लेकिन इन परिभाषाओं से यह आशय निकालना कि—'शैली विचारों की पोशाक है और जिस तरह पोशाकें बदली जा सकती हैं वैसे ही विचारों के लिए शैली भी बदली जा सकती है?—उपयुक्त नहीं है। दरअसल इन परिभाषाओं का उद्देश्य शब्द एवं उनमें व्याप्त अर्थतत्त्व के सम्बन्ध को प्रकट करना ही है। किन्तु इस सम्बन्ध को सांकेतिक रूप से सूचित कर देने से शैली का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। बल्कि मानवशरीर और पोशाक की उपमा से यह एक अनावश्यक भ्रम और उत्पन्न होता है कि पोशाकों का परिवर्तन कर सकने की तरह विचारों के साथ शैली को भी बार-बार बदला जा सकता है। विचारों और शैली के सम्बन्ध को संस्कृत के 'कण-कुण्डल न्याय' के आधार पर विवेचित नहीं किया जा सकता। (इस न्याय के अनुसार कुण्डलों को कानों से सहज ही लगाया-हटाया जा सकता है और इससे कानों की शोभा पर अन्तर आ जाता है।)

स्टाइल की समस्या को सुलझानेवाले मिडल्टन मरि भी शैली की परिभाषा में या तो व्यक्ति-तत्त्व को महत्त्व देते हैं या विचारों की निर्बाध (डाइरेक्ट) अभिव्यक्तिवाले सम्बन्ध को। किन्तु इस प्रकार की परिभाषाएँ शैली की उस संरचना को भाषावैज्ञानिक दृष्टि से द्योतित नहीं करतीं जो शैली को टटोलने, पहचानने और विश्लेषित करने में मदद कर सकें।

(ii) व्यंजना-सूचक (ध्वनि सूचक) परिभाषाएँ :

1. 'शैलीविज्ञान भाषा के ऐसे तत्त्वों का अध्ययन है जो तर्कतीत हैं (सामान्य नियमों से परे हैं)।'—ग्रार. फर्नेण्डोज रेटमर
2. 'शैली इस प्रकार की व्यंजनात्मक युक्तियाँ हैं जिनसे भाषा की शक्ति का संवर्धन होता है।'—वैलरी
3. 'शैली कथ्य और कथन के लिए प्रयुक्त भाषा के अतिरिक्त कोई ऐसा तत्त्व है, जिसका प्रयोग कथ्य को प्रभावी ढंग से श्रोता अथवा पाठक तक पहुँचाने के लिए किया जाता है।'—स्ताघॉल

1. उद्धृत : शैलीविज्ञान—डॉ. नगेन्द्र, पृ. 11।

2. वही, पृ. 10-11।

3. एन एप्रोच टू द स्टडी ऑफ़ स्टाइल—जे. स्पेन्सर, पृ. 12।

4. "शैली विचार और उसे व्यक्त कर रही भाषा से अलग भाषा पर आरोपित एक प्रभावी तत्त्व है।"¹—चार्ज बाली
5. "भाषिक उपादानों से किसी पाठ में प्राप्त निश्चित प्रभाव ही शैली है।"² —सीडलर

व्यंजनासूचक परिभाषाएँ रचना के उन विशिष्ट भाषा-तत्त्वों की ओर संकेत करती हैं, जो रचना को शैलीमय बनाते हैं। यहाँ तक कि उन तत्त्वों को तर्कातीत भी कह दिया जाता है। शैली को लेकर इस तरह की मान्यताएँ ध्वन्यालोक के उस प्रसंग की याद दिलाती हैं, जहाँ आनन्दवर्धन ध्वनि-विरोधियों में अलक्षणीयता-वादियों की चर्चा करते हैं, जो ध्वनि को अलक्षणीय एवं अनिवर्चनीय मानते हैं तथा जिसके समाधान में आनन्दवर्धन ध्वनि का विवेचन प्रस्तुत करके करते हैं।³ उक्त सभी परिभाषाओं में विचार और भाषा से अलग, एक अलग ही ध्वन्यात्मक तत्त्व की चर्चा है। स्ताथॉल कथ्य और उसके कथन के लिए प्रयुक्त भाषा से अतिरिक्त जिस 'विशिष्ट' तत्त्व की चर्चा करते हैं, वही ध्वन्यालोक में ध्वनि की परिभाषा के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। "प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमक्षियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान, महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से) अलग ही भासित होता है।"⁴

उक्त परिभाषाएँ ध्वनि की धारणा के समीप पड़ती हैं, लेकिन इन परिभाषाओं की भी बहुत बड़ी कमजोरी यह है कि ये भाषा की उस प्रक्रिया की परिभाषा नहीं करतीं, जो उस तत्त्व को जन्म देती हैं, जिससे भाषा की शक्ति का संवर्धन होता है या जिसके प्रयोग से कथ्य प्रभावकारी बन जाता है, अथवा पाठ में निश्चित प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। इन परिभाषाओं में यह पकड़ तो निश्चित पाई जाती है कि 'युक्तियाँ', 'प्रयुक्त भाषा', 'भाषिक उपादान' ही शैली के संवाहक हैं, किन्तु संवहन की प्रकृति एवं दिशा का संकेत नहीं मिलता, जबकि उन संकेतों के माध्यम से ही रचना की शैली को पहचाना जा सकता है और रचना का विश्लेषण किया जा सकता है। साहित्यशास्त्री के लिए तो रचना की शैली को 'महसूसने' के अतिरिक्त उसे 'समझने' की आवश्यकता है, अर्थात् उसे 'अनुभव' के स्तर से—'ज्ञान' के स्तर पर लाना है, जो रचना की भाषा के विदोहन से ही संभव है। काव्य-भाषा के विदोहन के ही परिणामस्वरूप उभरी हुई कुछ ऐसी भाषाध्ययनमूलक परिभाषाएँ हैं, जिन्हें 'अभिव्यक्ति-वैशिष्ट्य' बिन्दु के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

1. एन एप्रोच टू द स्टडी ऑफ़ स्टाइल—जे. स्पेन्सर, पृ. 14।

2. वही, पृ. 15।

3. ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धन—1-1।

4. प्रतीयमान पुनरन्यदवे वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥ ध्वन्यालोक, 1-4।

(iii) अभिव्यक्ति-वैशिष्ट्य-सूचक परिभाषाएँ

परिभाषाओं का यह वह क्षेत्र है जिसमें रचना को एक 'स्वनिष्ठ' (ग्रॉटो-नोमस) अस्तित्व प्रदान किया जाता है, उसकी भाषायी संरचना का विश्लेषण करके उसमें ऐसे तत्त्वों की खोज की जाती है जो उस रचना को एक स्वतन्त्र और कलात्मक व्यक्तित्व देने के लिए कारण हुआ करते हैं—

1. "उचित स्थल पर उचित शब्दों का प्रयोग शैली है।" —स्विफ्ट
2. कविता की भी परिभाषा की जाती है "कविता सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम है।"¹
3. "शैली शब्दों का चयन तथा वाक्यों में उनका विशेष क्रम है।"² क्लॉन्ग ब्रूक्स तथा रॉबर्ट पी. वारेन।
4. "किसी एक भाषा के ऐसे दो उच्चारों का अन्तर शैली होती है, जिनके अर्थ लगभग समान हों, किन्तु जो अपनी भाषिक-संरचना में एक-दूसरे से भिन्न हों।"³—हॉकेट।
5. "एक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए लगभग समानार्थी शब्दों में से उपयुक्त चयन से ही अच्छी शैली बनती है।"⁴—जे. वारवर्ग।
6. "एक पाठ की शैली उसके (पाठ के) भाषागत उपकरणों की संदर्भगत संभावनाओं का औसत है—एक पाठ की शैली समान सन्दर्भवाले पाठ की भाषागत इकाइयों की आवृत्ति के औसत के अनुपात से स्पष्ट होनेवाली स्थिति का नाम है।"⁵—ए. क्विस्ट
7. "किसी वक्तव्य की शैली उसकी ऐसी भाषिक विशेषताओं की आवृत्ति-वितरण एवं संक्रमण-संभावनाओं में निहित रहती है, जो उसे समग्र भाषा में प्रयुक्त समान भाषिक रूपों से पृथक् करती हैं।"⁶
8. "विषय की प्रकृति, प्रस्तुति के प्रयोजन, पाठक की योग्यता एवं लेखक के व्यक्तित्व से परिचालित होकर किसी विषय की ऐसी अभिव्यक्ति, जो सामान्य से विलगाव लिये हुए हो, शैली कहलाती है।"⁷

—वेलेन्डर

1. पोयट्री इज द वैस्ट वर्ड्स इन द वैस्ट ऑर्डर।
2. एन अप्रोच टू द स्टडी ऑफ़ स्टाइल—स्पेन्सर, पृ. 15।
3. ए कोर्स इन मॉडर्न लिग्विस्टिक्स, सी. एफ. हॉकेट (1958), पृ. 556।
4. सम एस्पेक्ट्स ऑफ़ स्टाइल (टीचिंग ऑफ़ इंग्लिश)—जे. वारवर्ग, पृ. 50।
5. ऑन डिफाइनिङ् स्टाइल—ए. क्विस्ट।
संकलित—लिग्विस्टिक्स एण्ड स्टाइल—सं. जॉन स्पेन्सर (1971), पृ. 28।
6. लिग्विस्टिक्स स्ट्रक्चर एण्ड लिग्विस्टिक्स एनेलिसिस—ए.ए. हिलदारा, पृ. 40।
उद्धृत : स्टाइल इन लैंग्वेज—सिवोक, पृ. 87।
7. एन एप्रोच टू द स्टडी ऑफ़ स्टाइल—स्पेन्सर, पृ. 23।

9. "शैली भाषा के सामान्य मानक पथ से विचलन है।"¹—आंसगुड
10. "शैली कलात्मक विशिष्टता या अभिव्यंजना-शक्ति की पर्यायवाची है।"²—ग्रीनी
11. "एक विचारपूर्ण कलात्मक रचना की व्याख्या के लिए रूप के समस्त तत्त्वों का पूर्णतः तर्कसंगत समन्वय शैली है।"³—एम.एस. कागान
12. "रूप की असामान्य विशेषताएँ या असामान्य नियम ही शैली है।"⁴
नवी कोवालवोव
13. शैली अन्तर्वाक्यीय वैशिष्ट्य है।"⁵—हिल

उक्त परिभाषाओं से गुजरने पर कुछ महत्वपूर्ण एवं समान तत्त्व स्पष्ट रूप से झलकते हैं, जैसे सभी परिभाषाएँ शैली को किसी अभिव्यक्ति के 'माध्यम' से जोड़ती हैं। अभिव्यक्ति के माध्यम की संरचना के लिए किसी 'प्रक्रिया' की ओर संकेत करती हैं और उस प्रक्रिया के स्वरूप की 'विशेषताओं' पर भी प्रकाश डालती हैं। परिभाषाओं के इन्हीं उपादानों के आधार पर निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की गई है, जो शैली-सम्बन्धी परिभाषाओं के विश्लेषण को अधिक स्पष्ट कर देती है—

-
1. सम इक्वेल्स ऑव मोटिवेशन ऑन स्टाइल ऑव एनकोडिङ्—चाल्ज आंसगुड।
उद्धृत : स्टाइल इन लैंग्वेज—सिबोक, पृ. 293।
 2. स्टाइल इन दिस सेन्स इज सिनेनिमस विद आर्टिस्टिक क्वालिटी ऑर एक्सप्रेसिवनेस। आर्ट्स एंड आर्ट क्रिटिसिज्म—ग्रीनी, पृ. 374।
 3. "वी रिगार्ड स्टाइल एज द स्ट्रक्चरली लोजिकल कंजुगेशन ऑव आल एलिमेण्ट्स ऑव फॉर्म, नैसेसरी फॉर सोल्विङ् ए सिंगल आइडियोलोजिकल आर्टिस्टिक टास्क।"—लेक्चर्स ऑन मार्क्स सिस्ट-लेनिनिस्ट एस्थेटिक्स—(1975), पृ. 334। एम.एस. कागान, लेनिग्राद यूनिवर्सिटी प्रेस, 1971, पृ. 727 (रूसी में)।
उद्धृत : यूनिटी(ऑन स्टाइल, ट्रेण्ड्ज एंड 'नेशनल स्टाइल्ज' इन सोवियत मल्टीनेशनल लिटरेचर), पृ. 33-34।
 4. स्टाइल एज ए स्पेशल 'क्वालिटी' ऑर लॉ 'ऑव फॉर्म।' रस्काया लित्रेतुरा (प्रोब्लम्ज ऑव आइल) वी.कोवालवोव, नं. 1 (1970), पृ. 201-5।
 5. इन्ट्रोडक्शन टू लिटिरेचरिस्टिक स्ट्रक्चर्स—ए.ए. हिल, पृ. 406।

अभिव्यक्ति वैशिष्ट्य-सूचक परिभाषाओं की तालिका

क्रम सं०	साहित्यकार का नाम	अभिव्यक्ति का माध्यम	माध्यम की संरचनात्मक प्रक्रिया	प्रक्रिया का स्वरूप
1.	स्विफ्ट	(उचित) शब्द	(उचित) स्थल पर प्रयोग	'उचित' प्रयोग
2.	क्लीन्थ ब्रूक्स	शब्द	चयनित शब्दों का वाक्यों में क्रम	'विशेष' क्रम
3.	हॉकेट	भाषिक संरचना	समानार्थी उच्चारों का अन्तर	भिन्नता
4.	वारवर्ग	शब्द	समानार्थी शब्दों में से चयन	'उपयुक्त' चयन
5.	एंक्विस्ट	भाषागत इकाइयाँ	औसत के अनुपात से स्पष्ट होनेवाली स्थिति	
6.	बर्नाड ब्लाख	भाषिक रूप	समग्र भाषा से पृथक्की-करण	भाषिक 'विशेषताएँ'
7.	वेल्लेण्डर	अभिव्यक्ति	सामान्य से विलगाव	विलगाव
8.	ग्रॉसगुड	भाषा	मानकपथ से विचलन	विचलन
9.	ग्रीनी	अभिव्यंजना	विशिष्ट अभिव्यंजना	विशिष्टता
10.	कागान	रूप के समस्त तत्त्व	तर्कसंगत समन्वय	तर्कसंगत
11.	कोवालयोव	रूप	असामान्य विशेषताएँ (नियम)	असामान्य
12.	हिल	भाषा का अन्त-वाक्यीय रूप	अन्तर्वाक्यीय विशिष्टता	विशिष्टता

(1) उक्त तालिका से प्रथम तो यह स्पष्ट है कि सभी साहित्यशास्त्रियों ने शैली को अभिव्यक्ति के एक 'माध्यम' से सम्बन्धित किया है। यह माध्यम 'शब्द', 'भाषिक संरचना', 'भाषागत इकाइयाँ', 'भाषिक रूप', 'अभिव्यक्ति', 'भाषा', 'रूप' तथा 'भाषा का अन्तर्वाक्यीय रूप' आदि हैं। ये सभी उक्तियाँ भिन्न-भिन्न संज्ञाओं को अपनाते हुए भी अन्ततः भाषा के लिए ही प्रयुक्त हैं, इनका व्यंग्यार्थ भाषा ही है।

(2) इसी सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि सभी साहित्यशास्त्रियों ने शैली की पहचान भाषा के माध्यम से ही की है। अतः शैली के अध्ययन के लिए भाषा का अध्ययन ही आधारभूत अध्ययन है। भाषा से परे शैली का अस्तित्व नहीं है।

(3) भाषा वस्तुतः एक संरचना है—एक संश्लिष्ट संरचना। जाहिर है कि यह संरचना किसी निश्चित प्रक्रिया से गुजरती होगी। अतः शैली के संघटन को तब

तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि भाषा की संरचनात्मक प्रक्रिया का आकलन नहीं हो जाता। इसलिए साहित्यशास्त्रियों ने भाषा की संरचनात्मक प्रक्रिया के संकेतों को भी शैली की परिभाषा में समाविष्ट कर लिया है। कतिपय परिभाषाकारों ने शब्दों के (उचित, सर्वोत्तम) 'क्रम-प्रयोग' पर जोर दिया है तो कतिपय ने 'चयन' पर। सामान्य भाषा से 'विचलन', 'विलगाव', 'अन्तराव', 'पृथक्कीकरण', 'असामान्यीकरण' 'वैशिष्ट्य' आदि शब्दों के माध्यम से यह सूचित किया गया है कि शैली का सम्बन्ध जिस भाषा से है, उसकी संरचना-प्रक्रिया सामान्य भाषा की संरचना-प्रक्रिया से 'विशिष्ट' प्रकार की है।

(4) भाषा-संरचना की विशिष्टता के सम्बन्ध में तो सभी साहित्यशास्त्री सहमत हैं, अतः यहाँ तक तो इन सभी में विचार-साम्य पाया जाता है, किन्तु संरचना-प्रक्रिया के स्वरूप के सम्बन्ध में परस्पर विभिन्नता नजर आती है और इसी आधार पर उनके शैली-सम्बन्धी दृष्टिकोणों में भी अन्तर देखा जा सकता है। स्फुट उचित स्थल पर 'उचित' शब्दों के प्रयोग से ही शैली का सम्बन्ध मानते हैं, अतः संरचना-प्रक्रिया के लिए औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार वारवर्ग 'उपयुक्तता', कागान, 'तर्क-सम्मतता' तथा क्लीनथ ब्रूक्स, बर्नार्ड ब्लाख एवं हिल 'विशिष्टता' पर जोर देते हैं तो हॉकेट, वेलेण्डर, आंसगुड, कोवालयोग क्रमशः 'भिन्नता' 'विलगाव', 'विचलन' और 'असामान्यता' से ही 'संतुष्ट' हो लेते हैं। उक्त सभी में एंक्विष्ट ऐसे साहित्यशास्त्री हैं जो शैली की संरचना के लिए किसी विशेषता की आवश्यकता महसूस नहीं करते और शैली को एक स्वनिष्ठ भाषा-संरचना के रूप में स्वीकार करते हैं—किसी भी प्रकार के विशेषण से रहित।

वस्तुतः शैली की सभी परिभाषाएँ परिभाषाकारों की भाषा एवं साहित्य के सम्बन्ध में अपनाई गई धारणाओं से ही जुड़ी हुई हैं। जिन भाषाविदों ने साहित्य में एक विशिष्ट भाषा के प्रयोग को स्वीकारा है, वे शैली की परिभाषा में भाषा के वैशिष्ट्य पर ही केन्द्रित हैं। भाषा में वह वैशिष्ट्य, चाहे 'विचलन' (डीवियेशन) से आता हो या भाषाई तत्त्वों के आवृत्त्यात्मक 'संयोजन' से, किन्तु वह वैशिष्ट्य ही शैली का विधायक है। रोमन याकोब्सन, मोरिस हाले आदि भाषा का विश्लेषण उसकी प्रकार्यात्मक (फंक्शनल) भूमिका के आधार पर करते हैं। वे विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न उद्देश्यों के साथ भाषा के विभिन्न कार्यों को स्वीकारते हैं, जिनमें भाषा का काव्यात्मक प्रकार्य भी एक है। याकोब्सन काव्यात्मक प्रकार्य को समतुल्यता के सिद्धांत पर आधारित मानते हैं, जो कि चयन की धुरी से संयोजन की धुरी तक जुड़ा हुआ रहता है।¹ यहाँ शैली का सम्बन्ध कविता में व्याप्त समतुल्यता के सिद्धांत एवं

1. 'द पोयटिक फंक्शन प्रोजेक्ट्स द प्रिंसिपल ऑव इंक्विजेंस फ्राम द एक्सिस ऑव सलेक्शन इण्टू द एक्सिस ऑव कोम्प्रीनेशन।'

—रोमन याकोब्सन-स्टाइल इन लैंग्वेज—टी. ए. सवोक, पृ. 358।

भाषाई तत्त्वों के चुनाव तथा संयोजन का अध्ययन करने से है। और जैसा कि याकोब्सन का कहना है कि भाषा का यह प्रकार्य तथाकथित कविता के अतिरिक्त अन्य भाषाई अभिव्यक्तियों में भी देखा जा सकता है तथा काव्य-भाषा में भाषा के अन्य काव्येतर प्रकार्यों को ढूँढ़ा जा सकता है। अतः शैली का सम्बन्ध केवल 'काव्य' तक सीमित नहीं रहकर सम्पूर्ण भाषा के सम्पूर्ण प्रकार्यों एवं उपयोगों तक फैल जाता है।

मोरिस हाले भी भाषा की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए समानता एवं सन्निहित (सिमिलरिटी एण्ड कॉण्टीग्यूटी) के क्षेत्र में एक व्यक्ति की पूर्वाभिष्टि एवं अधिमान्यता (प्रिडाइलेक्शन एण्ड प्रिफरेंसेज) को ही उसकी शैली का आधार मानते हैं।¹

शैली के इसी स्वरूप के सम्बन्ध में डेविड क्रिस्टल और डेरिक डेवी की भी यही मान्यता है कि शैली का सम्बन्ध विभिन्न सामाजिक सन्दर्भों में प्रयुक्त होने वाले भाषा-रूपों का विश्लेषण करने से है।² और ये सामाजिक सम्बन्ध काव्य से लेकर धर्म, पत्रकारिता, न्याय, खेलों की कमेण्ट्री आदि कहीं तक भी हो सकते हैं। एंक्विस्ट की परिभाषा भी सांख्यिकीय एवं तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित है तथा उसमें भी भाषा प्रयोग की व्यापकता के साथ शैली को जोड़ दिया गया है।

भाषाविज्ञान में भाषा की प्रकृति को केन्द्र में रखकर शैली-विषयक की गई सभी परिभाषाएँ भाषाई विविधता का विश्लेषण करती हैं और उसी विविधता में साहित्यिक भाषा को भी सम्मिलित कर लिया जाता है; किन्तु साहित्यिक भाषा के वैशिष्ट्यको केन्द्र में रखकर की गई परिभाषाएँ भाषा के साहित्यिक रूप तक ही सीमित रही हैं। पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों में रैने वैंलेक शैली को उन भाषाई उपकरणों तक ही सीमित रखना चाहते हैं जो सौन्दर्य से सम्बन्धित हैं। उनके अनुसार संरचना की सम्पूर्णता और उसकी आणविकता, दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी सौन्दर्यजनक तत्त्वों का विश्लेषण शैलीविज्ञान का विषय है।³

वस्तुतः शैली भ. 1 के संरचनागत सौन्दर्य से जुड़ी रही है और आधुनिक युग में भाषाविज्ञान ने भाषा का जो प्रकार्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसके अन्तर्गत भाषा का सौन्दर्यमूलक प्रकार्य स्पष्ट रूप से उभर कर आया है। इसलिए आधुनिक शैलीविज्ञान ने शैली को भाषा के संरचनागत सौन्दर्य का ही पर्याय समझा है। भाषा विज्ञान के विकास से शैली को समझने की ऐसी स्पष्ट दिशा प्राप्त हुई है, जो संस्कृत साहित्यशास्त्र में तो उसके भाषादर्शन के समृद्ध होने के कारण पहले से ही प्राप्त हो चुकी थी। अब पश्चिम में भी शैली से आशय भाषा के उस 'भाषत्व' से लिया जाने लगा है, जो काव्यत्व की सृष्टि करता है। इस दृष्टि से शैली को काव्यात्मा के रूप में जाना जाने लगा है, जिसका विवेचन आगामी प्रकरण में किया जा रहा है।

1. फण्डामेंटल्स ऑफ लैंग्वेज—रोमन याकोब्सन एण्ड मोरिस हाले, पृ. 91।
2. इन्वेस्टिगेटिङ् इंग्लिश स्टाइल—डेविड क्रिस्टल एण्ड डेरिक डेवी, पृ. 10।
3. क्लोजिङ् स्टेटमेंट—रैने वैंलेक—स्टाइल इन लैंग्वेज—टी. सिवोक, पृ. 418।

(ई) शैली बनाम काव्यात्मा

शैली की रचना-केन्द्रित सभी परिभाषाएँ रचना की भाषा में किसी ऐसी 'विशिष्ट' संरचना की अपेक्षा रखती हैं, जो सामान्य भाषा में नहीं पायी जाती। संरचना की यह विशिष्टता ही संस्कृत साहित्यशास्त्र में 'अलंकार' के नाम से संज्ञायित की गई है, जिसको कोई अलंकार-विशेष नहीं, सौन्दर्य का पर्याय समझा गया है—सौन्दर्य-मलंकारः।¹ यही तत्त्व (काव्यात्मा का पद प्राप्त करते हुए) प्रकारान्तर से रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य के नाम से विवेचित हुआ है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में यह भी माना गया है कि भाषा में इन तत्त्वों को 'कर्णकुण्डलन्याय' से पिरोया नहीं जाता, बल्कि 'पटतंतुन्याय' से ये स्वयं ही एक 'निर्मिति' होते हैं। तन्तुओं की बुनावट ही 'पट' को अस्तित्व प्रदान करती है। पट का अस्तित्व बचाते हुए पट से तन्तुओं को अलग नहीं किया जा सकता। तन्तुओं की बुनावट का कीशल तन्तुओं के साथ व्यष्टि-रूप में नहीं होता, वह तो बुनावट की प्रक्रिया में संश्लिष्ट रूप में ही निहित रहता है। इस दृष्टि से शैली भाषायी उपादानों की बुनावट का ही परिणाम है। उसको न भाषा से अलग किया जा सकता है और न ही शैली के अभाव में काव्य-भाषा की कल्पना ही की जा सकती है। तन्तु और पट की यह अविभाज्यता ही अलंकार और अलंकार्य तथा शैली और काव्य की अविभाज्यता ही है। कुन्तक ने इस सम्बन्ध में कोई भी भ्रम नहीं छोड़ा है। वे कहते हैं कि अलंकार और अलंकार्य (शब्दार्थ-रूप-काव्य-शरीर) को अलग-अलग करके उनकी विवेचना उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने में (ही) की जाती है। (वास्तव में तो) अलंकारसहित (शब्द और अर्थ, अर्थात् तीनों की समष्टि) काव्य है।² इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य युगनद्ध हैं और शैली तथा काव्य भी। यही कारण है कि काव्य को 'उपचार' से शैली कहा जा सकता है,³ कहा जाता है। शैली का यही व्यापक अर्थ जो काव्यत्व का पर्याय है, पाश्चात्य शैलीविज्ञान में विकसित हुआ है और संस्कृत साहित्यशास्त्र तो इसी अर्थ से ओतप्रोत है। अतः शैली काव्य है, काव्यत्व है, शैली अलंकार है, रीति है, ध्वनि है, वक्रोक्ति है, अनुमिति है, औचित्य है, शैली काव्यात्मा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में शैली को इसी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

(घ) शैली तथा सम्बन्धित उपादान

शैली के विवेचन में उन उपादानों की विवेचना करना भी आवश्यक है जो किसी ने किसी रूप में शैली को प्रभावित करते हैं या शैली को व्यक्त करते हैं अथवा

1. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन, 1, 1, 2।

2. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-6।

3. भारतीय शैलीविज्ञान—डॉ. सत्यदेव चौधरी (1979) पृ. 269।

जो शैली के बहुत समीप पड़ते हैं। शिल्प, व्यक्तित्व, विषय और भाषा इसी प्रकार के उपादान कहे जा सकते हैं।

(अ) शैली और शिल्प

शैली और शिल्प में आधारभूत समानता संरचना के तत्त्वों की कलात्मक अन्विति को लेकर है। दोनों में ही रचना के अवयव अपनी अन्विति के कौशल से एक पूर्ण इकाई की सृष्टि करते हैं और वह सृष्टि सौन्दर्यात्मक प्रभाव को उत्पन्न कर सकने में सक्षम होती है। किन्तु शैली और शिल्प में मूलभूत अन्तर भी है, जिसे भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने स्पष्ट महसूस किया है। काव्य के हेतुओं में साहित्य-शास्त्रियों ने सर्वप्रथम स्थान प्रतिभा को दिया है, जिसे मम्मट ने 'शक्ति' कहा है।¹

भट्टताम ने इसी प्रतिभा की परिभाषा—प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता की है। शैली का सम्बन्ध प्रतिभा की इस 'नव-नव उन्मेषशालिनी' विशेषता से ही है। रचना में नवीन उन्मेष ही उसको निजी व्यक्तित्व प्रदान करता है, यह नवीनता सामान्य (Norm) से विचलन, विलगाव या वक्रता का कारण होती है। शिल्प में इस नवीनता की अपेक्षा नहीं होती। रचना की शिल्प-संरचना में चली आती हुई परम्परा का ही पुनःपुनः निर्वाह करना पड़ता है। प्रतिभा के अतिरिक्त काव्य का दूसरा हेतु 'निपुणता' शिल्प का प्रथम हेतु होता है। यह निपुणता कला-सम्बन्धी परम्परित शास्त्र-ज्ञान को प्राप्त कर लेने से प्राप्त हो जाती है। बहुत से साहित्यकार भी (हिन्दी में रीतिकाल के अनेक कवि) प्रतिभा-न्यूनतावश इस निपुणता को ही अपनाते हैं और साहित्य की शिल्पकारी प्रस्तुत करते रहते हैं। इस प्रकार के साहित्य में नवीनता और वैयक्तिकता नहीं होती, अतः उसमें शैली भी नहीं होती। शैली में परम्परित शिल्प का अतिक्रमण भी होता है तथा नवीन शिल्प की स्थापना भी।

लियोनिद लियोनोव के अनुसार "एक वास्तविक कला-रचना विशेष रूप से साहित्यिक, हमेशा अपने रूप में आविष्कार और कथ्य में शोध करती रहती है।"² इस प्रकार की आविष्कृतियाँ और शोधें मायाकोवस्की, ब्रैख्त, नरूदा आदि के साहित्य में, रूप एवं कथ्य दोनों ही स्तरों पर, देखी जा सकती हैं। ये नवीन आविष्कार और शोध ही शैली को जन्म देते हैं। संक्षेप में जब शिल्प 'नव-नव उन्मेष' से समन्वित होता रहता है, तब वह शैली कही जाती है, और जब शैली अपनी नवीनता-रहित पुनरावृत्ति को ही प्राप्त करती जाती है, तब शिल्प कही जाती है।

(आ) शैली और व्यक्तित्व

शैली और व्यक्तित्व का सम्बन्ध साहित्यशास्त्र में एक क्लासिकी प्रश्न रहा है। पश्चिमी साहित्यशास्त्र में रचनाकार में 'सहज सामाजिक व्यक्ति' और 'रचना-

1. शक्तिनिपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यशिक्षयाम्यास इति हेतुस्तदुद्भवम् ॥

—काव्यप्रकाश—मम्मट, 1-3।

2. लियोनिद लियोनोव लिट्रेचर एण्ड टाइम, पृ. 282 (रूसी में) उद्धृत: द राइटर्ज क्विटेड इण्डिविजुअलिटी एण्ड द डिवलपमेंट ऑफ लिट्रेचर—एम. ग्रापवेंको, पृ. 149।

कार' इन दो व्यक्तियों को एक ही मान लेने के कारण शैली और व्यक्तित्व की अन्तः-सम्बन्धता या विलगाव-सम्बन्धी अन्तविरोधी धारणाएँ चल पड़ीं। भारतीय साहित्य-शास्त्री शैली और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में शुरू से ही स्पष्ट धारणाएँ लेकर चले, अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की पेचीदगियाँ उत्पन्न नहीं हुईं।

दण्डी ने 'कवि-मार्ग' की चर्चा करते हुए शैली एवं कवि-व्यक्तित्व की परस्पर सम्बद्धता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि परस्पर सूक्ष्म भेदों के कारण पृथक् हुए मार्गों के अनेक भेद हैं, उनमें से स्पष्ट भेद के कारण पृथक् रूप से परिलक्षित वेदभी तथा गौड़ी मार्गों का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक के अपने-अपने स्वरूप के पृथक् निरूपण से ये दोनों मार्ग भिन्न हैं। प्रत्येक कवि (की रचनाओं) में लक्षित विभिन्न भेदों (के अपरिमित होने के कारण) का वर्णन कर सकना कठिन है।

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।

तत्रवेदभर्गौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरी ॥1-40॥

+

+

+

इति मार्गं द्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥ 1-101 ॥

—काव्यादर्श-दण्डी

अर्थात् मार्ग के भेदों का आधार कवि है और कवियों की असंख्यता के अनुसार मार्गों के भी असंख्य भेद हो सकते हैं, किन्तु विश्लेषण-विवेचन की दृष्टि से मार्गों की असंख्यता का अध्ययन नहीं किया जा सकता, अतः प्रमुख विशेषताओं के आधार पर वेदभी एवं गौड़ी दो मार्गों का ही विवेचन किया गया है। राजशेखर ने भी कहा है कि "कवि का जैसा स्वभाव होता है, वैसी ही उसकी कविता भी होती है। कहावत प्रसिद्ध है कि चित्रकार अपने ही अनुरूप चित्र बनाता है।"¹ और इसी संदर्भ में राजशेखर ने उत्कृष्ट काव्य-रचना के लिए कवि से वाणी, मन और शरीर की पवित्रता की अपेक्षा की है।²

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-हेतुओं में कवि-प्रतिभा को प्रधान हेतु माना था तथा कवि के लिए प्रतिभा को नैसर्गिक उपलब्धि कहा था। अतः प्रारम्भ से ही प्रतिभा में वैयक्तिकता को स्वीकार लिया गया और रचनाकार की वैयक्तिकता काव्य के साथ सदैव जुड़ी रही। इस विषय पर अधिक वाद एवं विवाद प्रस्तुत नहीं हुआ।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में सुकरात से ही यह स्वीकार कर लिया गया कि "जैसा व्यक्ति है वैसी ही उसकी वाणी होगी" और इसी प्रकार की उक्तियाँ प्लेटो,

1. काव्यमीमांसा—राजशेखर (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना), पृ. 122।

2. वही, पृ. 121।

मैनेण्डर और सेनेसा आदि ने व्यक्त की।¹ आगे चलकर कॉलरिज ने भी यही कहा कि जैसा वह है वैसा ही लिखता है”² राजखेर और सुक्रात तथा कॉलरिज में यहाँ रोचक साम्य देखा जा सकता है। पश्चिम में सुक्रात की उक्त धारणा की अब तक एक लम्बी परम्परा रही है। अरस्तू ने रिटोरिक में कहा है कि “भाषण कला का उद्देश्य कुछ निर्णयों को प्रस्तुत करना होता है; किन्तु फिर भी वक्ता को एक निश्चित विशिष्ट व्यक्ति के रूप में भी प्रस्तुत करना चाहिए।”³ तीन शताब्दी बाद लॉजाइनस ने भी कहा कि “शैली की घनीभूतता महान व्यक्तित्व की अनुगूँज है।”⁴ सिसरो के अनुसार व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न रुचियों और प्रवृत्तियों के कारण शैली में भिन्नता उत्पन्न होती है।⁵ कार्ल वेकसन और आर्थर गैज के अनुसार “जब किसी लेखक की शैली का गुण-विशेषण अत्यन्त सूक्ष्म होने लगता है, तब उसका अन्त लेखक के व्यक्तित्व के विवेचन में ही होता है।”⁶ रॉय डवान जॉन्सन, मारी शेलैकैम्प तथा लॉयड ए. गैरिसन के अनुसार संसार में जितने भी अच्छे लेखक हैं, उतनी ही अच्छी शैलियाँ भी हैं।⁷ एडवर्ड गिवन के मतानुसार शैली लेखक के मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब होनी चाहिए; किन्तु भाषा का चयन और उस पर अधिकार अभ्यास की परिणति से होना चाहिए।⁸

शैली और व्यक्ति सम्बन्धी एकरूपता को प्रकट करनेवाली प्रबलतम धारणा फ्रांसिसी लेखक बुफों की है। उनके अनुसार “शैली ही व्यक्ति है।” इसी तरह ब्राउन के अनुसार जिस रचना से उसके रचयिता के व्यक्तित्व का भान न हो, जिसमें कुछ वैशिष्ट्य न हो, और जिससे यह पता न चले कि उसका स्रष्टा कौन व्यक्ति रहा है, वह रचना शैली-विहीन तथा सदोष मानी जायेगी।⁹ शोपेनहावर शैली को मस्तिष्क की मुखाकृति तथा चरित्र की परिचायिका मानते हैं। पोकाक लिखते हैं कि “जब शैली का समुचित निर्माण हो जाता है, तब वह लेखक के व्यक्तित्व का अंग बन जाती है और वह आपको खोलकर दूसरों के सामने रख देती है। विषय भले ही आपका मन पसंद न हो, परन्तु शैली तो बस, आप ही हैं—आपकी रुचि, आपकी शिक्षा-दीक्षा, आपका

1. एपिस्टले, पृ. 114। उद्धृत : स्टाइल-लुकास, पृ. 51 की टिप्पणी।

2. सो ही इज : सो ही राइट्स।

उद्धृत : द ट्रू वॉइस ऑव फीलिंग-हर्वर्ट रीड, पृ. 15।

3. उद्धृत : स्टाइल— एफ.एल. लुकास, पृ. 50।

4. वही, पृ. 50।

5. उद्धृत : शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 42।

6. ए रीडर्स गाइड टू लिटरेरी टेम्प, पृ. 214।

7. कम्प्यूनिकेशन : हैण्डलिङ्ग आइडियाज ईफेक्टिवली, पृ. 288। उद्धृत : शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 6।

8. एडवर्ड गिवन : ऑटोबायोग्राफी, उद्धृत : वही, पृ. 11।

9. थर्ड सिरीज : पृ. 227, उद्धृत : वही, पृ. 15।

चरित्र—ये सब-के-सब आपकी कलम से निकल पड़ते हैं और कागज के पन्ने पर आप चाहें या न चाहें, आकर जम जाते हैं ।....अब आप अपने विचारों को अपने ही शब्दों में व्यक्त करते हैं, तब आप पाठकों के लिए मानो अपने मस्तिष्क के गवाक्ष ही खोल कर रख देते हैं ।”¹

यूजीन वेरो ने बुफों की धारा के अनुकूल अपना भी मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा है कि संसार में अनेक लेखकों और कवियों ने एक ही सर्व सुलभ विषय पर अनेकानेक रचनाएँ की हैं; परन्तु उनकी शैली उन रचनाओं में परस्पर वैभिन्न्य उत्पन्न करती हुई वैशिष्ट्य प्रदान करती है। शैली का अस्तित्व ‘पार्थक्य सिद्धान्त’ (लॉ ऑफ सैपरेशन) से अनुस्यूत है। संसार में किसी भी प्राणी का अस्तित्व इस कारण है कि वह अन्य प्राणियों से भिन्न है।

लुकास के अनुसार “एक व्यक्ति शैली के माध्यम से दूसरों के साथ सम्पर्क स्थापित करता है। शब्दों की पोशाक में व्यक्तित्व तथा वाणी की पोशाक में चरित्र ही होता है। यदि अक्षरों के लिखने मात्र से चरित्र प्रकट हो जाता है तो शैली तो और भी अधिक व्यक्त कर देती है, जब तक कि वह इतनी रंगशून्य या जीवन-शून्य नहीं हो कि वह शैली ही नहीं रहे ।”²

सोवियत साहित्यशास्त्रियों ने भी शैली का सम्बन्ध वैयक्तिकता और व्यक्तित्व से जोड़ा है। भिरमुन्स्की शैली को लेखक के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति मानते हैं।³ एल. एन्निन्स्की कहते हैं कि ‘कविता व्यक्ति की भावात्मक दुनिया की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।’⁴ मार्सल प्राउस्ट के अनुसार “शैली स्वयं जीवन है, वह विचार का जीवन-रक्त है।”⁵

मार्क्सवादी साहित्यशास्त्रियों ने शैली और व्यक्ति को समाज से भी सम्बद्ध करके देखा है। सोकोलोव के अनुसार एक अलग ही शैली का अस्तित्व नहीं हो सकता, जब तक कि उसमें कुछ ‘सामान्यता’ न हो। शैली सदैव ही एक सामूहिक स्रोत से निकलती है।⁶ वैयक्तिक शैली सामूहिक शैली का ही वैयक्तिक भाषान्तरण (इण्ड-

1. पेन एण्ड इंक—गाइ. एन. पोकाक, पृ. 53।

2. स्टाइल—एफ.एल लुकास, पृ. 49।

3. उद्धृत : राइटर्स क्रियेटिव इन्डिविजुएलिटी एण्ड द डिवेलेपमेंट ऑफ लिट्रेचर, मिखेल, रत्रापचेंको, पृ. 91।

4. उद्धृत : वही, पृ. 148।

5. वही, पृ. 146।

6. द थियरी ऑफ स्टाइल—ए. सोकोलोव, पृ. 175 (रूसी में)।

उद्धृत : दी राइटर्स क्रियेटिव इन्डिविजुएलिटी एण्ड द डिवेलेपमेंट ऑफ लिट्रेचर—मिखैल. रत्रापचेंको, पृ. 155।

विजुएल वशेन) है। चिचेरिन पूछते हैं कि “क्या शैली नितान्त वैयक्तिक होती है? वे स्वयं ही जवाब देते हैं कि ‘नहीं’, जर्मन या फ्रांसिसी शैली होती है। नोवालिस, होफमैन, एवेनडोर्फ केवल एक ही शैली के विभिन्न रूप हैं।”¹ रूसी साहित्यशास्त्र में साहित्यिक शैलियों की तुलना वृक्ष के विकास से करते हैं। एन. असादुल्लाव लिखते हैं कि “एक रीति की जड़ (या तना) से फूटी हुई अनेक शाखायें ही शैलियाँ हैं।”² गोर्की ने व्यक्ति, समाज और शैली के सम्बन्धों पर विचार प्रकट करते हुए कहा है कि “हमारा साहित्य रूप की दृष्टि से वैयक्तिक होना चाहिए और आधारभूत निर्देशात्मक विचार समाजवादी एवं लैनिनवादी होने चाहिए।”³ सोकोलोव, चिचेरिन तथा असादुल्लाव आदि साहित्यशास्त्रियों की मान्यताएँ भारतीय साहित्यशास्त्रियों द्वारा वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि स्थान-विशेष से सम्बन्धित या गुण-विशेष से सम्बन्धित शैलियों की मान्यता से जोड़ी जा सकती हैं। शैली में वैयक्तिकता का स्थान होते हुए भी परिवेश के प्रभाव, संस्कृति, साहित्यिक मान्यताएँ, भाषाई प्रकृति आदि का इतना अधिक समान प्रभाव पड़ता है कि एक परिवेश के भिन्न-भिन्न लेखक एक सामूहिक शैली की शाखाएँ जान पड़ते हैं। किन्तु शैली की वैयक्तिकता एवं सामूहिकता का यह सन्तुलन तब टूट जाता है, जब कोई महान् प्रतिभाशाली कवि शैली के सामूहिक स्वरूप को अत्यधिक छिन्न-भिन्न और आक्रांत कर लेता है तथा ऐसी वैयक्तिक शैली का सृजन करता है कि उसके समकालीन एवं भावी रचनाकार उसकी वैयक्तिक शैली का अनुगमन करने लगते हैं, जैसा कि चिचेरिन कहते हैं कि—“फ्लाबर्ट की शैली का वैयक्तिक भाषान्तरण ही मोपासाँ की रचनाएँ हैं तथा ल्यूडमिल की कुछ कृतियाँ टॉल्स्टॉय की अनुगामिनी हैं।”⁴

शैली और वैयक्तिकता के सम्बन्ध में भाषावादी साहित्यशास्त्रियों ने भी पर्याप्त चर्चा की है। भाषा और वैयक्तिकता के सम्बन्ध में सर्वप्रथम फर्डिनेण्ड ससूर ने भाषा को ‘लॉग’ (लैंग्वेज-भाषा का सार्वजनिक रूप-भषा) एवं ‘पैरोल’ (भाषा का वैयक्तिक रूप-वाणी) में विभाजित किया एवं ‘वाणी’ को ही अध्ययन के योग्य ठहराया। ससूर के शिष्य चार्ल्स वाली ने वाणी को भावात्मक, एक व्यक्ति की रुचि, भावना, प्रसन्नता-अप्रसन्नता, स्वीकृति-अस्वीकृति की अभिव्यंजना से रंगी हुई माना। वाणी को भाषा के विचलन के रूप में स्वीकार किया, अतः वाणी शैली की अवधारणा से स्वतः जुड़ गई।

1. आडियाज एण्ड स्टाइल-ग. चिचेरिन, पृ. 7 (रूसी में)।
उद्धृत : वही पृ. 1, 56।
2. द हिस्ट्रीरिज्म, थियरी एंड टाइपोलोजी ऑफ सोशलिस्ट रियलिज्म-असादुल्लाव, पृ. 169 (रूसी में), उद्धृत : यूनिटी-प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1975, पृ. 53।
3. कलैक्टड वर्क्स, वोल्यूम 27, पृ. 340 (रूसी में), उद्धृत : वही पृ. 40।
4. आडियाज एण्ड स्टाइल-ए. चिचेरिन, पृ. 7 (रूसी में), उद्धृत : द राइटर्स क्रियेटिव इण्डिवि-जुएलिटी एण्ड द डिवेलपमेंट ऑफ लिटरेचर, पृ. 156।

शैली और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में मुख्य विवाद रचना के विश्लेषण में कवि की वैयक्तिकता और रचनाकार की निर्वैयक्तिकता को एक मान लेने से उत्पन्न हुआ। भारतीय साहित्यशास्त्री इस सन्दर्भ में शुरू से ही सतर्क रहे। आनन्दवर्धन ने कहा कि “अनन्त काव्यजगत् में (उसका निर्माता) केवल कवि ही एक प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसे जैसा अच्छा लगता है, यह विश्व उसी प्रकार बदल जाता है।”¹ यदि कवि काव्य में शृंगारी (रसिक) हो तो सारा संसार रसमय हो जाता है और और वही वीतराग हो तो यह सब ही नीरस हो जाता है।² आनन्दवर्धन अपने प्रथम श्लोक के माध्यम से रचना में रचनाकार के व्यक्तित्व को ही व्याप्त देखते हैं।

मम्मट ने भी कवि को काव्य का निर्माता माना है, ब्रह्मा से भी अधिक स्वतंत्र और सम्पन्न। क्योंकि कवि की भारती (वणी-सरस्वती) नियति के द्वारा निर्धारित नियमों से रहित केवल आनन्दमात्र स्वभावा, अन्य किसी के अधीन न रहनेवाली तथा नौ रसों से मनोहारिणी काव्य-सृष्टि की रचना करनेवाली सर्वोत्कृष्टशालिनी है।³ किन्तु यहाँ कवि-व्यक्तित्व का तात्पर्य कवि के निजी व्यक्तित्व से न होकर उसके रचनाकार व्यक्तित्व से ही है। अभिनवगुप्त इसीलिए आनन्दवर्धन के उक्त मन्तव्य के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देते हैं कि ‘शृंगारी’ से तात्पर्य शृंगारोक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की चर्चणा-रूप प्रतीति रखनेवाला, न कि स्त्री-व्यमनी, मन्तव्य है। अतएव भरत मुनि ‘कवि के अन्तर्गत भाव’ को ‘काव्य के अर्थों का भावन करता है’ इत्यादि में ‘कवि’ शब्द को ही मूर्धाभिषिक्त रूप में प्रयोग करते हैं।⁴ स्पष्ट है कि कवि में रचनाकार के व्यक्तित्व को अलग करके देखना और काव्य-रचना के संदर्भों में उसके इसी व्यक्तित्व की चर्चा करना भरत मुनि से ही प्रचलित था। भारतीय साहित्यशास्त्र में रचनाकार की सर्जन-सम्बन्धी निर्वैयक्तिकता की धारणा प्रारम्भ से ही विद्यमान है।

इस सम्बन्ध में प्रो० एस० के० डे का यह निष्कर्ष कि ‘संस्कृत काव्यशास्त्र ने उस कवि-व्यक्तित्व की उपेक्षा की है, जिसके कारण कोई कलाकृति वैशिष्ट्य प्राप्त करती है,’⁵ मूलतः अतिमूलक है क्योंकि “संस्कृत-आचार्यों ने कवि-व्यक्ति की उपेक्षा भले ही की हो; किन्तु कवि-व्यक्तित्व अथवा कवि के ‘काव्यात्मक’ व्यक्तित्व के महत्त्व

1. अपारे काव्यसंसारे कविरैकः प्रजापतिः।

यथास्मै रीचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ ध्वन्यालोक, 3-43।

2. शृंगारी चैकविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।

स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥ ध्वन्यालोक, 3-43 ॥

3. काव्य प्रकाश-मम्मट, 1-1।

4. ध्वन्यालोकलोचन-अभिनवगुप्त (चीखम्बा विद्याभवन, 1965); पृ. 530।

5. संस्कृत पोयटि बस एज ए स्टडी ऑव एस्थेटिक्स-एस.के.डे, पृ. 72।

को सदैव स्वीकार किया है।¹ अभिनवगुप्त ने कवि के निजी व्यक्तित्व और काव्यात्मक व्यक्तित्व की भूमिकाओं और प्रकृतियों का स्पष्ट विश्लेषण आदिकवि वाल्मीकि के प्रथम उद्गार के सम्बन्ध में किया है—“कौंच के द्वन्द्ववियोग से अर्थात् सहचरी के मारे जाने से, साहचर्य के ध्वंस हो जाने के कारण उत्पन्न शोकरूप स्थायी भाव, निरपेक्ष भाव होने के कारण, विप्रलम्भ शृंगारोचित रति स्थायी भाव से अतिरिक्त ही है....न कि मुनि का शोक है, यह मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा होने पर उस कौंच के दुःख से वह भी दुःखित हो जाता है, फिर रसात्मकता की बात नहीं बनेगी।² रोचक बात यह है कि अमरीकी आलोचक जॉर्ज टी० राइट, इलियट, यीट्स और एजरा पाउण्ड के काव्य में उक्तिनिबद्ध-व्यक्तित्व के स्वरूप पर विचार करते हुए यही कहते हैं कि—‘काव्य प्रगीत हो या नाट्य, प्रत्येक स्थिति में सीधे कवि के अनुभव को व्यक्त नहीं करता; बल्कि उसमें उस अनुभव का काव्य-रूप ही होता है।’³ अभिनवगुप्त का ‘मुनि का शोक’ तथा ‘निरपेक्ष भाव’ राइट का ‘कवि का अनुभव’ एवं ‘अनुभव का काव्यरूप’ ही है।

काव्य-रचना की निर्वैयक्तिकता के सम्बन्ध में पश्चिमी साहित्यशास्त्रियों की निम्नलिखित धारणाएँ शैली और व्यक्तित्व के सम्बन्ध को भारतीय साहित्यशास्त्र की निर्वैयक्तिक धारणा के अनुरूप ही व्यक्त करने का प्रयास करती हैं—

“कलाकार किसी उच्चतर शक्ति का माध्यम या प्रवक्ता-मात्र है....वह सुनता भर है, स्वयं शोध नहीं करता, वह केवल ग्रहण करता है, यह नहीं पूछता कि कौन देता है....चुनाव की स्वतंत्रता मेरे लिए कभी नहीं रही।”

नीत्से—कण्डलर : व्यूटी एण्ड ह्यूमन नेचर, पृ. 329 पर उद्धृत।

“गीतों ने मुझे बनाया है, इन्हें मैंने नहीं; गीतों ने मुझे अपने वश में कर रखा है।”

गेटे—एन एनाटमी ऑफ इन्सपिरेशन—रोजामण्ड ई. एम. हार्डिज, पृ. 14 पर उद्धृत।

“मैं सचमुच यह नहीं कह सकता कि पुस्तक लिखी गई। वह कुछ ऐसा था, जिसने मुझे अपने वश में कर लिया और जो चाहा मुझसे करवा लिया।”

थॉमस बुल्क—एन एनाटमी ऑफ इन्सपिरेशन—रोजामण्ड-हार्डिज पृ. 15।

“सृजन को शुद्ध स्वतः स्फूर्त करना रॉमैण्टिक अतिशयोक्ति है।”

गोटशाक—आर्ट एण्ड द सोशल ऑर्डर, पृ. 66।

1. रस-सिद्धांत और सौन्दर्यशास्त्र—डॉ. निमला जैन, पृ. 430।

2. ध्वन्यालोक—लोचन, पृ. 86-88।

3. द पोयट इन द पोयम—जॉर्ज टी. राइट पृ. 7-8।

“ प्रत्येक वस्तु गर्भाधान है और फिर प्रसव । प्रत्येक प्रभाव और अनुभूति के बीच को अन्धकार में, अनिर्वचनीय में, अवचेतन में, अपनी समझ के परे अपने-आप पूर्णता प्राप्त करने दो और गहरी विनम्रता तथा धैर्य से एक नवीन विशदता के जन्म-क्षण की प्रतीक्षा करो । जो ऐसा करता है, केवल वही कलाकार का जीवन जीता है, कृति में भी और समझ में भी ।”

रेनर मारिया रिल्के—

—लैटर्ज दू ए यंग पोस्ट, पृ. 27-28 ।

यदि पहले प्रकार का सृजन कलाकार में वैयक्तिक स्तर पर घटता होता है तो दूसरे प्रकार के सृजन की प्रक्रिया नितान्त निर्वैयक्तिक होती है; किन्तु वैयक्तिक एवं निर्वैयक्तिक दोनों ही स्तरों पर अन्ततः सृजन-व्यापार अवचेतन में ही रहता है ।

युंग (मनोवैज्ञानिक)

साइकोलोजी एण्ड लिटरेचर 'मैल्विन रेडर द्वारा सम्पादित 'ए माडर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स', पृ. 140-154 ।

प्रतिभा-सम्पन्न मनुष्य ऐसे ईथरीय रसायनों के समान होते हैं, जो उदासीन तथा तटस्थ बुद्धि पर क्रियाशील होते हैं, किन्तु उनका स तो अपना कोई व्यक्तित्व होता है और न कोई निश्चित चरित्र ही ।”

कीट्स—लैटर्ज ऑफ जॉन कीट्स, सम्पादित—एम. बी. फोरमैन, पृ. 66 ।

“हम केवल यह कह सकते हैं कि कुछ अर्थ में कविता का अपना जीवन होता है; कि इसके अवयव साफ-सुथरे, व्यवस्थित, जीवनीपरक तथ्यों के पुंज से नितान्त भिन्न रूप ग्रहण करते हैं, कि कविता की परिणति जिस अनुभूति या संवेग अथवा अन्तर्दृष्टि में होती है, वह कवि की मनोगत अनुभूति या संवेग अथवा अन्तर्दृष्टि से कुछ भिन्न होती है ।”

टी. एस. इलियट—द सेक्रेड बुड, भूमिका, पृ. 10 ।

“यह आवश्यक है कि कलाकृति को स्वसंगत होना चाहिए कि कलाकार को जाने-अनजाने एक वृत्त खींच लेना चाहिए, जिसका अतिक्रमण उसे नहीं करना है । एक और वास्तविक जीवन सदैव विषय-सामग्री है, दूसरी ओर वास्तविकता जीवन से अपसरण (एब्स्ट्रैक्शन) कलाकृति के सृजन के लिए आवश्यक शर्त है ।”

टी. एस. इलियट—सलेक्टेड एसेज, पृ. 111 ।

“इलियट ने सृजन-कार्य में संलग्न कवि की उपमा एक 'उत्प्रेरक' से दी है जो सम्पूर्ण रासायनिक प्रक्रिया का विधायक होते हुए भी निमित्त-मात्र होता है । उदाहरण के लिए यदि प्लेटिनम के एक टुकड़े की उपस्थिति में दो गैसों का मिश्रण किया जाए तो गंधकीय तेजाब तैयार हो जाता है, किन्तु उस नव-निर्मित तेजाब में प्लेटिनम का कोई अंश नहीं होता और वह प्लेटिनम भी उस तेजाब से सर्वथा अप्रभावित रहता है ।”

“कलाकार जितना ही प्रौढ़ होगा उतना ही पूर्ण उसके अन्दर भागनेवाले मनुष्य और सृजन करनेवाले मस्तिष्क में पार्थक्य होगा।”

टी. एस. इलियट—द स्केड बुड, पृ. 54-55।

कला वस्तुतः एक आन्तरिक शक्ति है, जो मानव-प्राणी को सर्वथा अपने वश में करके उसे अपना यन्त्र बना लेती है। कलाकार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से सम्पन्न अपने लक्ष्यों की सिद्धि ढूँढ़नेवाला व्यक्ति नहीं; बल्कि ऐसा प्राणी है जो अपने माध्यम से कला को अपने प्रयोजन की सिद्धि करने देता है। एक मानव-प्राणी के नाते उसमें संवेग, इच्छाएँ और व्यक्तिगत लक्ष्य हो सकते हैं; किन्तु कलाकार के नाते वह एक उच्चतर अर्थ में मानव है—वह एक सामूहिक मानव है, जो मानव जाति के मानसिक जीवन के अवचेतन को वहन और रूपायित करता है।

युंग—द क्रियेटिव प्रोसेस, सं. वूस्टर गिर्जेलिन, पृ. 221।

कला और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पश्चिमी और भारतीय साहित्यशास्त्रियों की उपर्युक्त धारणाएँ प्रकारान्तर से शैली और व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। कतिपय पश्चिमी साहित्यशास्त्रियों ने एक ओर कला में वैयक्तिकता देखी, और यही नहीं उसकी अपेक्षा भी की, दूसरी ओर कुछ साहित्यशास्त्रियों ने सृजन-प्रक्रिया में निर्वैयक्तिकता की धारणा प्रचलित की। इन विरोधाभासी धारणाओं ने शैली और व्यक्तित्व के सम्बन्ध को भी अनिश्चित कर दिया। किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में उक्त वर्णित धारणाओं के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है।

(1) सृजन-प्रक्रिया में निर्वैयक्तिकता से आशय कवि की काव्यात्मकता से इतर वैयक्तिकता से तटस्थ रहने से है। काव्यात्मकता से इतर कवि का व्यक्तित्व भावों-विचारों का मात्र भोक्ता होता है, उनका रचयिता नहीं। अतः भोक्ता के रूप में उसकी जो वैयक्तिकता होती है, वह उसको काव्येतर जीवन-शैलियों से सम्बन्धित हो सकती है, काव्य-शैलियों से नहीं। काव्य-सर्जन की मनः स्थिति में कवि की निजी वैयक्तिकताएँ प्रभावकारी हो सकती हैं, होती भी हैं, किन्तु उनका रूप सदैव व्यंग्य होता है; काव्यात्मक होता है। उनकी अभिव्यक्ति व्यक्ति-निरपेक्ष रूप में होती है।

(2) सृजन-प्रक्रिया में कवि की मनः स्थिति की अपनी वैयक्तिकता होती है, जो उसकी निजी वैयक्तिकता से तो तटस्थ होती है, अतः तथाकथित रूप में निर्वैयक्तिक ही होती है; किन्तु काव्यात्मक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर वह सर्वथा विचित्र होती है। इसीलिए वह अन्य कवियों की अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों से भिन्न होती है। यह भिन्नता ही उसकी वैयक्तिकता है और यही उसकी शैली की वैयक्तिकता का कारण होती है।

(3) सृजन-प्रक्रिया में कवि अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकान्वित स्थिति में जीता है, अतः अनुभूति और अभिव्यक्ति में इतनी समीपता और समतरंगता होती

है कि विचार और भाषा, दृष्टिकोण और अभिव्यक्ति सब एक रूप हो जाते हैं। इसीलिए शैली और व्यक्तित्व एक ही रूप में प्रकट होते हैं। बुफों की उक्त परिभाषा- 'व्यक्ति ही शैली है' (स्टाइल इज द मैन) को 'सर्जक-व्यक्ति ही शैली है' स्टाइल इज द क्रियेटर मैन' के रूप में परिशुद्ध कर दिया जाये, तो शैली और व्यक्तित्व तथा कला और वैयक्तिकता को लेकर छिड़ा यह विचार स्वतः शांत हो जाता है।

(4) साहित्यकार के व्यक्तित्व की इस द्विरूपता को समझ लेने के बाद कवि के निजी व्यक्तित्व और उसकी कृति में पाये जानेवाले अन्तर्विरोध भी स्वतः समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि साहित्यकार के दो व्यक्तित्वों में भिन्न-भिन्न होने की सम्भावनाएँ भी होती हैं।

सारांशतः शैली का रचनाकार के उस व्यक्तित्व से सम्बन्ध है, जो काव्य-सर्जन में क्रियाशील रहता है।

(इ) शैली और विषय

शैली का रचनाकार ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा अधिक नियम-रहित (स्वतन्त्र) अधिक आनन्दमय और अधिक रसपूर्ण सृष्टि का सृष्टा होता है, किन्तु फिर भी यह नहीं माना जा सकता कि उसकी सृष्टि के कोई नियम ही नहीं होते। वह अपने समाज में व्याप्त विचार-धाराओं, स्थितियों, अपने समुदाय की भाषा, पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्पराओं आदि तत्त्वों की सीमाओं से परोक्षतः प्रत्यक्षतः चेतन-अचेतन रूप में नियन्त्रित रहता है। शैली यद्यपि रचनाकार की अभिव्यक्ति है, किन्तु रचनाकार का कथ्य जिनसे प्रभावित होता है उसकी शैली भी उनसे प्रभावित रहती है। इन तत्त्वों में एक तत्त्व रचना का विषय है, जिसको रचनाकार अभिव्यक्ति के लिए चुनता है। शैली और विषय का यह सम्बन्ध भारतीय एवं पश्चिमी साहित्यकार पहले से ही विश्लेषित करते आ रहे हैं।

अरस्तू विषय और शैली की घनिष्टता को सूचित करते हुए कहते हैं कि 'अच्छी शैली में विषयानुकूल उत्थान और पतन अपेक्षित है।....कोई भी अध्यापक ज्यामिति पढ़ाते समय भड़कीली भाषा का प्रयोग नहीं करता।' रीतिशास्त्र के प्रत्येक प्रकार की अपनी उचित शैली होती है, लिखित गद्य (साहित्य) की शैली, वाद-विवादों की शैली से भिन्न होती है, इसी प्रकार राजनीतिक भाषणों की (संसदीय) शैली भी न्यायालयों में दिये गये भाषणों की शैली से भिन्न होगी।¹ डेमेट्रियस के अनुसार 'बहुत अंशों तक प्रतिपाद्य ही शैली का नियामक तत्त्व है, इसलिए कभी-कभी तो औदात्य और लालित्य मूल विषय में ही अन्तर्निहित रहते हैं तथा ओजपूर्ण विषय-वस्तु से ओजस्वी शैली एवं सीधे-सादे विषय से सरस शैली की उत्पत्ति होती है।'²

1. उद्धृत : शैली-रामचन्द्र प्रसाद पृ. 33।

2. वही, पृ. 54।

लॉजाइनस ने अपने उदात्त सिद्धान्त के प्रतिपादन में उदात्त शैली के लिए उदात्त प्रतिभा और उदात्त विचार को महत्त्व देकर विषय एवं शैली को सम्बद्ध कर दिया। सिसरो का यह कथन भी विषय और शैली को जोड़ देता है कि 'छोटी-छोटी चीजों का वर्णन सरल शैली में, मध्यम कोटि की चीजों का वर्णन मध्यवर्ती शैली में, और महान चीजों का वर्णन उच्चतम शैली में करना ही सच्ची वाग्मिता है।

पश्चिम के मध्यकालीन साहित्यशास्त्री पटनम कहते हैं कि अभिव्यक्ति और विषय-वस्तु में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। महत्त्वपूर्ण और गम्भीर विषयों का प्रतिपादन दुरूह अथवा सुगम शब्दों में न हो और यह स्मरण रखा जाये कि उदात्त शैली में कृत्रिमता का लेश भी न आने पाये.... इतिहास और त्रासदियों की रचना उदात्त शैली में होनी चाहिए।¹

रूसी साहित्यशास्त्री शैली के सम्बन्ध में विषय की महत्ता बतते हुए लिखते हैं कि 'यह मानना बहुत बड़ी भूल है कि यदि लेखक प्रतिभाशाली है तो वह किसी भी विषय पर लिख सकता है। विषय को क्षण-प्रतिक्षण अनुभूत किये बिना लेखक की वाणी खोखली ध्वनि है। उसमें न कोई सामाजिक मूल्य है और न वह अव्यावहार्य अमूर्तता है।² मार्क्सवादी साहित्यशास्त्री शैली की रचना और उसके रूपान्तरण के लिए सामाजिक स्थितियों और उन्हीं से प्राप्त होनेवाले विषय को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। एक देश और काल-विशेष में एक शैली-विशेष के प्रचलित होने का कारण यही माना जाता है कि एक देशकाल के लेखक एक विशिष्ट परिवेश से प्रभावित रहते हैं। अतः उनके विषय और अनुभवों में तो समानता रहती ही है, साथ ही उनकी शैलियों में भी बराबर समानता पायी जाती है।³ विषय और शैली के विश्लेषण के सम्बन्ध में वार्ड सुरुोवसेन लिखते हैं कि 'शैली स्वयं में विषय को समाहित नहीं करती (और एक ही विषय अनेक शैलियों में भी अभिव्यक्त किया जा सकता है—एक प्रकट सत्य है) लेकिन विषय के विश्लेषण के बाहर शैली का ठोस विश्लेषण भी नहीं किया जा सकता।'⁴

शैली के सम्बन्ध में राष्ट्रीय शैली या सांस्कृतिक शैली आदि की धारणाएँ इस तथ्य की द्योतक हैं कि एक राष्ट्र एवं संस्कृति-विशेष में व्याप्त कला के विषय कला की शैलियों में समरूपता स्थापित करते हैं।

1. उद्धृत : शैली—रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 64-65।

2. द आर्टिस्ट्स केयर्स—बी. पनोवा,

उद्धृत : द राइटर्स क्रियटिव इण्डिविजुएलिटी एण्ड द डिवलपमेंट ऑफ लिटरेचर—एम. ब्रापचैको, पृ. 102।

3. युनिटी—प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को (1975), पृ. 58।

4. वही, पृ. 59।

पश्चिम के भाषावैज्ञानिक विकास में समाजशास्त्रीय एवं मानवशास्त्रीय भाषाविज्ञान का विकास हुआ है, जिसमें बोआस, सापिर, बोर्फ, हैलीडे आदि ने भाषा का सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है। इसी संदर्भ में विषय की विविधता से भाषा में आने वाली विविधता को नव-फर्तीय शैली-विज्ञानिकों ने 'रजिस्टर' कहा है और 'रजिस्टर' का शैली के सन्दर्भ में भी अध्ययन किया है। रजिस्टर अर्थविज्ञान, शब्द-समूह, व्याकरण एवं उच्चारण आदि की दृष्टि से कुछ विशेषताएँ लिए हुए वे भाषाई रूप हैं जो 'स्थिति'¹ (सिच्वेशन) या सन्दर्भ के अन्तर के कारण उत्पन्न होते हैं² तथा शैलीवैज्ञानिक अध्ययन में इनका अत्यधिक महत्त्व है। रिफातेअर ने भी शैलीविज्ञान के सम्बन्ध में समष्टि संदर्भ (Macro-Context) की धारणा प्रस्तुत करते हुए भाषाभिव्यक्ति में व्यक्ति (भाषा का प्रयोक्ता) के चारों तरफ व्याप्त संदर्भ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।³ ब्रोजवार ने इसी संदर्भ में 'द वेस्ट लैण्ड' जैसी काव्य-कृतियों के अध्ययन के लिए तो 'समष्टि सन्दर्भ' के विश्लेषण को अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण ही माना है।⁴

पाश्चात्य भाषाविज्ञान और व्याकरण वाक्य-विश्लेषण को आधार मानकर विकसित हुआ है, अतः विषय और सन्दर्भ को उसमें विशेष स्थान नहीं मिल पाया। किन्तु भाषाविज्ञान ने जब अपने शैलीवैज्ञानिक प्रसार में कृति को विश्लेषित करने का प्रयास किया तो उसे एक ओर परावाक्य भाषा-संरचना का अध्ययन करना पड़ा, दूसरी ओर भाषा एवं विषयों तथा सन्दर्भों के सम्बन्धों को भी विश्लेषण करने की आवश्यकता हुई। विषय के बिना शैली का अध्ययन अधूरा ही जान पड़ा, अतः कृति की शैली में विषय की भूमिका की खोज अधुनातन शैलीवैज्ञानिकों का ध्येय बन चुकी है।

भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने प्रारम्भ से ही काव्य-वृत्त (पोयटिक सर्किट⁵) की धारणा विकसित कर ली थी, जो जगत्, कवि, रचना एवं सहृदय—इन चार घटकों से पूरी होती थी। जगत् ही काव्य का विषय है, अतः कवि कविता में उसी की रचना करता है। अभिनवगुप्त के विद्यागुरु भट्टतटोत ने कवि के सम्बन्ध में कहा है कि वह 'अनृषि' नहीं होता—कवि ऋषि ही होता है। वस्तु के विचित्र भाव को, उसके अन्तर्निहित धर्म को तत्त्वरूप से जानना ही दर्शक कहलाता है।.... परन्तु लोक में कवि की संज्ञा दर्शन तथा वर्णन के कारण से एक विशिष्ट अर्थ में रूढ़ है, कवि वही है।"

1. ए लिग्विस्टिक गाइड टू इंग्लिश पोयट्री—जोफ्री लीच, पृ. 10।

2. इन्वेस्टिगेटिङ्ग इंग्लिश स्टाइल—डेविड क्रिस्टल एवं डेरिक डेवी, पृ. 10।

3. वड—16 (पत्रिका, 1960), 'स्टाइलिस्टिक कॉण्टेक्स्ट' माइकेल रिफातेअर—पृ. 107-218।

4. टैन्स इन द नोवेल—डब्लू जे. एम. ब्रोजवार, पृ. 30।

5. संस्कृत पोयटिक्स—कृष्णचैतन्य, पृ. 34।

भारतीय साहित्यशास्त्र में विषय और शैली को लेकर वाद-विवाद शुरू से ही नहीं हुआ, क्योंकि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटक पर आधारित पाँचवे वेद 'नाट्य-शास्त्र' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि—“धर्म, अर्थ तथा यश की प्राप्ति करनेवाले, शास्त्र वचनों के उपदेश-सहित, लोक-ज्ञान के संकलन से युक्त, लोक के लिए भविष्य में सब कर्मों के मार्ग का निर्देश करनेवाले, सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ को व्यक्त करनेवाले सभी शिल्पों को प्रेरणा देनेवाले नाट्य पर आधारित पाँचवे वेद की रचना इतिहास के सहित मैं करता हूँ।”¹ नाट्यशास्त्र की रचना के उद्देश्य में नाटक के विषय और 'शिल्प' दोनों को समान महत्त्व दिया है। भरतमुनि के अनुसार नाटक, वेद, शास्त्र, लोक के ज्ञान को ही 'शिल्पों' के उपयोग के साथ प्रस्तुत करता है, अतः एक ओर विषय का निश्चय किया गया है तो दूसरी ओर उसकी शिल्पीय अभिव्यक्ति की अनिवार्यता भी मानी गई है।

विषय और शैली के बीच रचनाकार होता है, जो विषय का ग्रहणकर्ता और शैली का रचयिता है। किन्तु रचनाकार एक ओर जहाँ विषय से प्रभावित होकर शैली का स्वरूप तय करता है, दूसरी ओर शैली की प्रकृति भी उसके विषय को प्रभावित करती है, जिसमें 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का भी सुन्दर संयोग रहता है। दर्शन है आंतरिक गुण और वर्णन है बाह्य गुण। इन दोनों का मजुल सामंजस्य होने पर ही कविता की स्फूर्ति होती है। दर्शन तथा वर्णन का सम्मिश्रण ही काव्यकला के चरम विकास की आवारपीठ है।² कवि का यह 'जगत-दर्शन' ही काव्य का विषय है और उसका 'वर्णन'—काव्यात्मक अभिव्यक्ति—ही दार्शनिक और कवि में अन्तर करता है। भट्टताई ने यहाँ प्रकारान्तर से विषय और शैली की सम्बद्धता को ही स्पष्ट किया है।

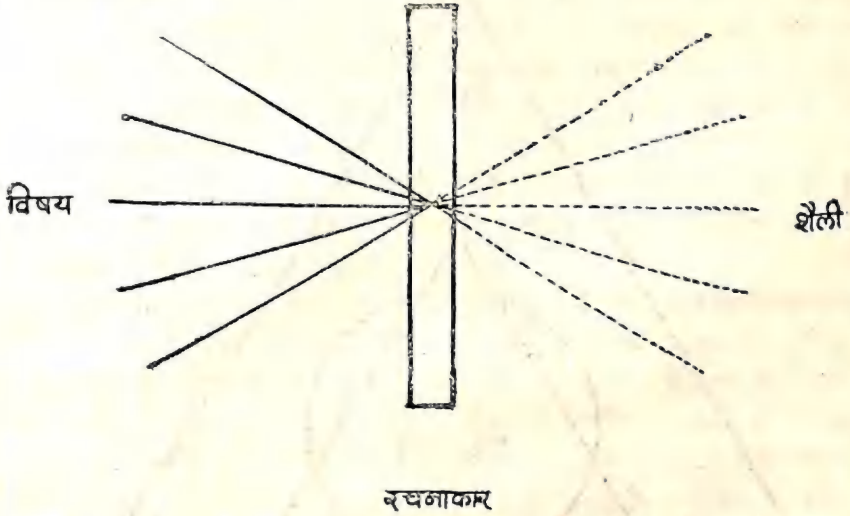
दण्डी ने महाकाव्य के लक्षणों की विवेचना में महाकाव्य के लिए वर्ण्य-विषयों की ओर संकेत किया है,³ जो महाकाव्य के विषय एवं उसकी शैली के सम्बन्ध को ही दर्शाता है। वामन ने काव्य के साधनों में (1) लोक-व्यवहार (स्थावर-जड़गमात्मक लोक का व्यवहार), (2) विद्या (चौदह अथवा अठारह भेदों से प्रसिद्ध समस्त विद्या) और (3) प्रकीर्ण (काव्यों का ज्ञान आदि) को सम्मिलित किया है और इनके ज्ञान को अच्छे काव्य की रचना के लिए आवश्यक माना है। वामन का यह प्रतिपादन काव्य की रीति (शैली) के लिए विषय की महत्ता का ही सूचक है। क्षेमेन्द्र ने पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, और निपात के औचित्य के साथ काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व आदि के औचित्य को भी काव्य के लिए अनिवार्य मानकर शैली तथा विषय के औचित्यपूर्ण सम्बन्ध को स्थापित किया है। रचनाकार को विषय जैसा रुचता है वह वैसा उसे प्रकट कर देता है। उसकी

1. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि, पृ. 1-14 एवं 15।

2. उद्धृत : संस्कृत आलोचना-बलदेव उपाध्याय, पृ. 14।

3. वही, पृ. 132

शैली में वैयक्तिक विशिष्टाएँ होते हुए भी अनेक विशेषताएँ विषय द्वारा ही निर्धारित हो जाती हैं।



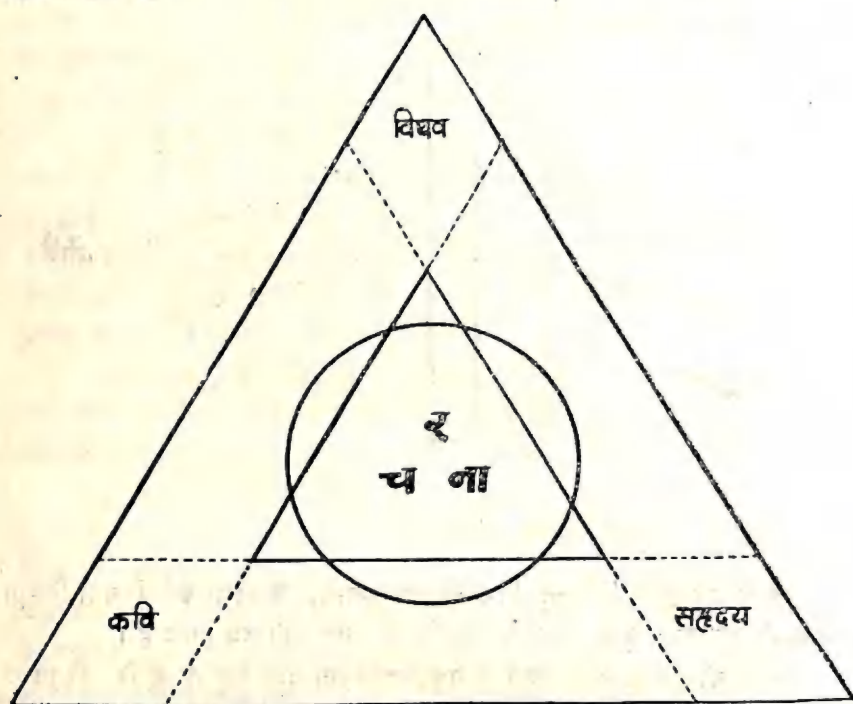
रचनाकार द्वारा विभिन्न विधाओं का चुनाव, विधाओं का संरचना-विधान एवं भाषायी रूप बहुत कुछ विषय की प्रकृति के अनुरूप ही तय होता है।

विषय और शैली के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि विषय न केवल रचनाकार से जुड़ा होता है, बल्कि वह सहृदय से भी सम्बन्धित रहता है। रचनाकार की रचना एक अभिव्यक्ति है, जो सहृदय की भी अपेक्षा करती है। अतः रचना-प्रक्रिया में एवं शैली के निरूपण में एक सहृदय, काल्पनिक ही सही, उसके सामने बैठा रहता है। इस प्रकार रचना एक एकालाप (मोनोलॉग) होते हुए भी वार्तालाप होती है। सभी रचनाएँ यहाँ तक कि प्रकृतिचित्र (लैंडस्केप) भी, एक प्रकार का वार्तालाप है।¹ अतः अभिव्यक्ति की मूलतः सार्थकता उसके वार्तालाप होने में है, सामूहिक होने में है। कृति की सामूहिकता की प्रकृति उसे विषय, रचनाकार, शैली और सहृदय, इन चारों को एक सूत्र में बाँध देती है और रचना-संसार इन चारों तत्त्वों की अन्विति से ही पूर्ण होता है।

रचना-संसार की इस प्रकृति से यह बात उभरती है कि शैली और विषय का सम्बन्ध भी निरपेक्ष रूप से विश्लेषित नहीं किया जा सकता। दोनों के अध्ययन

1. लितरेचरनया रोशिया, 13 नवम्बर, 1964-मिखेल स्वेतलोव,
उद्धृत : द राइटर्स क्रियेटिव इण्डिविजुएलिटी एण्ड डिवेलपमेंट ऑव लिट्रेचर,
एम. आपचैको, पृ. 103।

में सहृदय, कवि की, प्रकृति परम्परित विधा की परम्पराओं आदि को भी ध्यान में रखना पड़ता है।



(ई) शैली और भाषा

भाषा एक सामाजिक उत्पाद है, सामाजिक अनिवार्यता है। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के सभी विषयों को, सभी प्रकार के निमित्तार्थ भाषा द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। शैली भाषा की इस सामाजिक पृष्ठभूमि में वैयक्तिक रेखा है—भाषा के ही धरातल पर भाषा की ही बनी हुई स्पष्ट दृष्टिगोचर रेखायें। अतः भाषा और शैली की प्रकृतियों एवं भूमिकाओं में काफी समानता होते हुए भी स्पष्ट अन्तर भी है। शैली का अस्तित्व भाषामय होते हुए भी सामान्य भाषा से भिन्न दिखने में है। अतः भाषा और शैली परस्पर की वक्रता, अन्तर्विरोध या विशिष्टता के सूत्रों के बल पर एक-दूसरे की विपरीत दिशाओं में भूलते हुए भी एकसूत्रता से संतुलित बनी हुई रहती है।

फ्रांसिसी भाषावैज्ञानिक ससूर ने भाषा की प्रकृति की शोध में भाषा के ही दो रूप माने—(1) भाषा (लांग) और (2) वाणी (पैरोल), क्योंकि शैली की धारणा सापेक्षिक धारणा है, अतः सार्वजनिक भाषा के स्वरूप के अभाव में वैयक्तिक वाणी का कोई अर्थ नहीं। इसलिए शैली का अस्तित्व एक ओर सहज सामान्य भाषा के

होने में है और दूसरी ओर उसके व्यतिरेकी (कण्ट्रास्ट) होने में है। इस प्रकार शैली भाषा के व्यतिरेकी रूप से सम्बन्धित है।

पश्चिमी और भारतीय साहित्यशास्त्र दोनों में ही शैली की धारणा सहज भाषा की तुलना में भाषा के विशिष्ट प्रयोग के रूप में विकसित हुई है। सार्वजनिक भाषा को स्थिर एवं परिष्कृत करने के लिए व्याकरण का विकास हुआ, पश्चिम में भी और भारत में भी। किन्तु भाषा के रचनात्मक स्वरूप ने सदा ही भाषा की सार्वजनिकता और स्थिरता के प्रति विद्रोह किया। इस विद्रोह को समझने और उसके भी व्याकरण को तैयार करने में ही साहित्यशास्त्र और शैलीविज्ञान का जन्म हुआ। अतः सार्वजनिक भाषा और शैली में एक प्राणमय अनवन रहते हुए भी दोनों का सम्बन्ध भाषा और शैली दोनों के विकास के अनुकूल रहता है। भाषा और शैली के सम्बन्ध की यही रोचकता रही है।

संरचनावादी भाषाविद् एवं रचनान्तरणपरक व्याकरण (ट्रांसफॉर्मेशनल जनरेटिव ग्रामर) के अनुगामी वाक्य का विश्लेषण करके भाषाई प्रवृत्ति का अन्वेषण करना चाहते हैं। उन्होंने वाक्य-विश्लेषण के बूते पर शैली का अध्ययन कर लेने की भी ठानी है, किन्तु जिस प्रकार भाषा वाक्य के परे “महावाक्य” की धारणा से विश्लेषित होती है और साहित्यिक रचना भाषा द्वारा व्यक्त होकर भी भाषा से भिन्न संरचनात्मक घटकों को भी समाहित किये हुए होती है, उसी प्रकार शैली भी भाषामयी होकर भाषा के घटकों से भी परे होनी है। इसलिए रैने वैंलेक कहते हैं कि “जहां पर भाषावैज्ञानिक विश्लेषण समाप्त हो जाता है वहां से साहित्यिक विश्लेषण शुरू होता है”¹ अर्थात् साहित्यिक विश्लेषण में शैली के अध्ययन के लिए वर्तमान भाषावैज्ञानिक विश्लेषण से भी परे जाना होगा अथवा वर्तमान भाषा-विज्ञान को “महाकाव्य”, प्रबन्ध एवं पाठ के समस्त सन्दर्भों के साथ विश्लेषित करने की क्षमता प्राप्त करनी होगी। अधुनातन भाषाविज्ञान में “डिस्कोर्स, एनेलिसिस”, “टैक्स्ट ग्रामर”, “परावाक्य व्याकरण” आदि की चर्चा होने लगी है। इस चर्चा के साथ ही भाषा और शैली के वृत्त समान होने लगे हैं। भाषा अपने वाक्य-केन्द्रित वैयाकरणीय स्वरूप से ऊपर उठने लगी है तथा भाषाई अनुसंधान के माध्यम से शैली को अधिक से अधिक विषयगतता के साथ विश्लेषित किया जाने लगा है। भारतीय साहित्यशास्त्र में वाणी, पद, प्रत्यय वाक्य आदि की वक्रता के साथ-साथ प्रकरण और प्रबन्ध की वक्रता का भी वर्णन करके वाक्य से ऊपर की संरचनाओं को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है।

(ड) शैली, शैलीविज्ञान और भाषाविज्ञान

पिछले सौ वर्षों में भाषाविज्ञान कीबहुआयामी प्रगति ने अनेक चुनौतियाँ

1. लिटरेरी एनेलिसिस बिगिन्ज व्हेअर लिम्बिस्टिक एनेलिसिस स्टोप्स्-रैने-वैंलेक।

उद्धृत : स्टार्डल इन लैंग्वेज—टी. ए. सिबोक, पृ. 417।

स्वीकार कीं। भाषाविज्ञान के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन ने अनेक मानव-शास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय गुणधर्मों को खोला और भाषा के माध्यम से सांस्कृतिक अध्ययन कर सकने की क्षमता विकसित की। मानव मस्तिष्क की कार्य-पद्धति को समझकर मनुष्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का बीड़ा भी भाषाविज्ञान ने उठाया। भाषाविज्ञान ने भाषा की प्रकृति का ऐसा गहन अध्ययन भी प्रारम्भ किया, जिससे भाषा का एक पूर्ण व्याकरण तैयार किया जा सके। भाषा का व्याकरण तैयार करने में ही भाषा का वह साहित्यिक रूप भी सामने आया जो सामान्य भाषा के लिए तैयार किये व्याकरण से उबर जाता था। एक कठिन समस्या यह पैदा हो गई कि यदि कोई ऐसा व्याकरण तैयार किया जाये, जिसमें साहित्यिक भाषा के नियम भी समाहित हो जायें, तो इस व्याकरण के आधार पर ऐसे वाक्य तैयार होने लगेंगे जो व्याकरण के नियमों की दृष्टि से तो सही होंगे, किन्तु जिनका कोई भी अर्थ नहीं बैठ सकेगा—जैसे “ताजमहल गुस्से में हँसता-हँसता खरटे ले रहा है।” साहित्यिक भाषा के अन्तर्विरोधों को भी व्याकरण में समाहित कर लेने की परिणति इसी प्रकार के वाक्यों की भाषा के रूप में होगी। दूसरी समस्या यह उठ खड़ी हुई कि यदि सामान्य भाषा के आधार पर ही व्याकरण तैयार करली जाये तो—

आज नदी बिल्कुल उदास थी

सोयी थी अपने पानी में

उसके दर्पण पर

बादल का वस्त्र पड़ा था।

मैंने उसको नहीं जगाया

दवे पाँव घर वापस आया।

— केदारनाथ अग्रवाल

या

और यह समय है

जब रक्त की शिरा

शरीर से कट कर अलग हो जाती है।

और यह समय है

जब मेरे जूते की एक नन्हीं सी कील

तारों को गड़ने लगती है।

—केदारनाथ सिंह ‘फर्क नहीं पड़ता’ कविता का अंश।

जैसी कविताओं को व्याकरणसम्मत नहीं माना जायेगा और उन्हें भाषा कहने से ही विमुख होना पड़ेगा।

इस शताब्दी के उत्साही भाषाविज्ञान ने सामान्य भाषा, व्याकरण और भाषा के बीच विद्यमान सम्बन्धों का अन्वेषण करने के लिए अपने एक विशिष्ट क्षेत्र

को विकसित किया, जिसे शैलीविज्ञान कहा गया है। यह मानकर कि साहित्य भी भाषा ही है और भाषाविज्ञान पर भाषा के सभी रूपों और स्तरों की विवेचना करने का दायित्व आता ही है, इसलिए साहित्यिक भाषा का विश्लेषण करने के लिए भाषाविज्ञान ने शैलीविज्ञान को आगे लाने में एक अनिवार्य और वांछनीय पहल की। लेकिन भाषाविदों में शैलीविज्ञान की परिधि को लेकर उमी प्रकार की बहस छिड़ी हुई है, जैसी बहस कि शैली की परिधि को लेकर भी है। भाषाविदों का एक वर्ग सामान्य भाषा के रूप से विचलित किसी भी प्रकार के भाषायी रूप को शैली एवं उसके अध्येताशास्त्र को शैलीविज्ञान मानता है। चाल्ज वाली, रोमन याकोब्सन, मोरिसक हाले, नाये आदि भाषाविद् 'सामान्य भाषा' (लॉग) से भिन्न 'वाणी' (पैरोल) — भाषा का वैयक्तिक रूप (चाहे वह साहित्यिक हो या साहित्येतर) — का अध्ययन शैलीविज्ञान के जिम्मे प्रस्तुत करते हैं। इससे भिन्न लिओ स्पित्ज़र, उलमान, रैने वैलेक, एंक्विस्ट, जोफ्री लीच आदि विद्वान हैं, जो शैलीविज्ञान में केवल साहित्यिक भाषा का ही अध्ययन करना चाहते हैं। स्पित्ज़र कहते हैं कि रचना की व्याख्या का अर्थ उसके सौन्दर्य की समीक्षा ही है।¹ रैने वैलेक तो और भी स्पष्ट घोषणा करते हैं कि "शैलीविज्ञान साहित्यविद्या का अंग तभी बन सकेगा, जब वह सौन्दर्य-सम्बन्धी जिज्ञासा को केन्द्र में रखकर चलेगा।"² जोफ्री लीच कहते हैं कि "शैलीविज्ञान से मेरा आशय साहित्यिक शैली के अध्ययन से है या और स्पष्ट कहा जाये तो साहित्य में काम में आनेवाली भाषा के अध्ययन से है।"³

इसी सन्दर्भ में भारतीय साहित्यशास्त्र में कुन्तक की धारणा और उनका विवेचन अभूतपूर्व माना जा सकता है। वे कहते हैं कि काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करनेवाले व्यापार से सुन्दर (शब्द और अर्थ की) वह कुछ अनिवर्चनीय (अति सुन्दर) स्थिति पद (व्याकरण) आदि (वाक्य-मीमांसा तथा प्रमाण न्याय-शास्त्र वाङ्मय का सार—सर्वोत्तम भाग) 'साहित्य' (शब्द से) कहा जाता है।"⁴ इसी का आगे स्पष्टीकरण करते हैं कि व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा साहित्य—चारों का ही प्रत्येक वाक्य में प्रयोग होता है। (1) शब्द प्रातिपदकार्य, लिंग, परिमाण, वचन और कारक आदि के सम्बन्ध का अध्ययन पदसंस्कारशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में होता है (2) पदों के परस्पर अन्वय रूपसम्बन्धमूलक अध्ययन 'वाक्य-विचार-

1. लिन्विस्टिक्स एंड लिटरेरी हिस्ट्री, पृ. 128।

2. थियरी ऑफ लिटरेचर—रैने वैलेक—पेंथिन, पृ. 180।

3. ए लिन्विस्टिक गाइड टू इंग्लिश स्टाइल—जोफ्री एन. लीच, पृ. 1।

4. वक्रोक्तिजीवितम् कुन्तक, 1-17-36।

शास्त्र" (मीमांसा) में होता है (3) युक्तियुक्तत्व का प्रतिपादन 'प्रम.ए.शास्त्र'—(न्याय) का प्रयोजन है और (4) यह (वाक्य विशेष) ही स्वभावगत सौन्दर्य से सहृदयों को सहृदयहारिता को प्राप्त हो जाता है, यह साहित्य (शास्त्र) की उपयोगिता है। कुन्तक की इस धारणा से भाषा, भाषाविज्ञान एवं शैलीविज्ञान के सम्बन्ध में अनेक बातें स्पष्ट होती हैं।

1. भाषा अध्ययन के विभिन्न आयाम हैं—व्याकरण, मीमांसा, न्याय आदि।
2. भाषा के अन्य कार्यों के अतिरिक्त सहृदय को आह्लादित करने-वाली विशिष्ट अभिव्यक्ति से परिचित कराना उसका सारभूत और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है।
3. भाषा में साहित्यिक तत्त्व की खोज सौन्दर्य से सम्बन्धित है।
4. साहित्यशास्त्र भाषा से उसी प्रकार जुड़ता है जिस प्रकार व्याकरण, मीमांसा, न्याय आदि; किन्तु साहित्यशास्त्र वाक्य की विशिष्ट आह्लादकारी सुन्दर अभिव्यक्ति के सौन्दर्य-विश्लेषण से ही सम्बन्धित है।
5. कुन्तक का साहित्यशास्त्र (वक्रोक्तिजीवितम्) भाषाई संरचना के आधार पर उक्ति की वक्रता का ही विश्लेषण करता है, अतः आधुनिक भाषाविदों के लिए यह शैलीविज्ञान का ही ग्रंथ ठहरता है।

कुन्तक की यह वक्रोक्तिजीवितम् की धारणा रौने वेलक से नहीं मिलती जो कहते हैं कि 'शैलीविज्ञान कविता की संरचना को समझने में सहायक हो सकता है, उसकी संघटना के विश्लेषण में वह मदद दे सकता है, पर वह आलोचना का एक अंग है, पूरी साहित्यिक आलोचना नहीं। शैलीविज्ञान कविता की उस संरचना, संघटना, 'नाम' और कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है जो मूल्यों को अपने भीतर बाँधे रहता है, पर कविता की आलोचना का मुख्य धर्म मूल्यों का अन्वेषण है।'¹ विनोकुर का मत है कि कविता की भाषा अपनी विशेष संरचना के फलस्वरूप भाषाविज्ञान की परिधि के बाहर निकल जाती है और वह जिन समस्याओं को हमारे समक्ष लाती है, भाषाविज्ञान के माध्यम से उसका समाधान नहीं ढूँढ़ा जा सकता। विनोकुर के मतानुसार जिन व्याकरणिक नियमों एवं व्यवस्था के द्वारा भाषा का बोलचाल का रूप बँधा होता है उससे कहीं भिन्न व्यवस्था कविता की भाषा की होती है।'² रूसी विद्वान कोभिन्सोव भी यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि "क्या संघटनात्मक काव्यशास्त्र संभव है? उनके अनुसार कविता भाषा से भिन्न 'संघटना' की माँग

-
1. उद्धृत : शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 71-72।
 2. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 72।
 3. वही।

करती है।¹ इसी तरह रैबिजन,² तोपोरोव³, सोल सपोटा⁴ आदि विद्वान शैली-विज्ञान को मात्र भाषाविज्ञान के क्षेत्र की वस्तु समझते हैं और कविता में सामान्य भाषा के अतिरिक्त अन्य संघटनाओं की अवस्थिति मानकर उसके विश्लेषण के लिए शैलीविज्ञान को अक्षम मानते हैं—इस आधार पर कि काव्यशास्त्र और शैलीविज्ञान की अध्ययन-प्रणाली के साथ-साथ उनके लक्ष्य भी भिन्न हैं, काव्यशास्त्र और शैली-विज्ञान को ज्ञान के दो अलग-अलग विषय घोषित करना चाहते हैं।⁵ इन विद्वानों के अनुसार भाषाविज्ञान सामान्य भाषा का विश्लेषण करता है, शैलीविज्ञान भाषा के विशिष्ट रूप का तथा काव्यशास्त्र कविता में विद्यमान उन सौन्दर्य-घटकों का विश्लेषण करता है जो भाषा एवं भाषेतर स्तरों पर विद्यमान होने हैं।

कुन्तक भी भाषा के सौन्दर्य-सर्जक तत्त्वों के अन्वेषण-विश्लेषण को काव्य-शास्त्र का ही विषय मानते हैं। वे कविता का 'जीवितम्' वक्रोक्ति को मानकर काव्य-सौन्दर्य को उक्ति की वक्रता में ही समेट लेते हैं और इस वक्रता के अध्ययन के लिए जिस काव्यशास्त्र को प्रस्तुत करते हैं, वह भाषाई संघटकों का ही अध्ययन है। अतः वह प्रकारान्तर से भाषा का शैलीगत अध्ययन ही है, वह शैलीविज्ञान ही है। इस दृष्टि से कुन्तक कविता के सभी सौन्दर्य-तत्त्वों को वक्रोक्ति-अध्ययन में समेट लेते हैं।

पश्चिमी विद्वानों में दूसरा दृष्टिकोण रोमन याकोब्सन का है जो शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान का ही एक अंग मानते हैं। उनके अनुसार भाषाविज्ञान का कार्यक्षेत्र भाषा के समस्त कार्यों का विश्लेषण करना है जिनमें एक कार्य काव्यात्मकता का भी है। अतः कविता में विद्यमान भाषा के काव्यात्मक कार्य (पोयटिक फंक्शन) को भाषाविज्ञान में सम्मिलित कर लेने से शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान का अभिन्न अंग ही ठहरता है। जिस प्रकार चित्रकला की विवेचना का सम्बन्ध चित्रों की संघटना से सम्बन्धित रहता है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र का सम्बन्ध शाब्दिक संघटन की समस्याओं के साथ रहता है और शाब्दिक संघटना के अध्ययन का मूल विज्ञान भाषा-शास्त्र है, अतः काव्यशास्त्र भाषाविज्ञान का अपना (विशिष्ट) एक अंग है।⁶

रोमन याकोब्सन के अनुसार भाषाविज्ञान में कुन्तक के व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा काव्यशास्त्र सभी समाहित हो जाते हैं। भाषा की समस्त प्रकार की संघ-

1. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 72।
2. कथ्यात्मक रचनाओं के संघटनात्मक अध्ययन के लक्ष्य : साहित्यिक समस्याएँ—7 (1965), पृ.-73-87 (रूसी में)।
3. 'भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र (याकोब्सन की समीक्षा रूपवादी, टाइडोलोजिकल विश्लेषण), पृ. 264-66।
4. द एप्लीकेशन ऑव लिक्विस्टिक्स टू द स्टडी ऑव पोयटिक लैंग्वेज—संकलित : स्टाइल इन लैंग्वेज—सिबोक पृ 82-83।
5. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 76।
6. उद्धृत : शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका...डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 78।

टनाओं, भाषा के समस्त प्रकार के कार्यों और उपयोगों का अध्ययन भाषाविज्ञान में समाहित हो जाता है। किन्तु कुन्तक कविता के सौन्दर्य को भाषागत सृष्टि मानते हुए भी काव्यशास्त्र को (याकोव्सन की तरह ही) भाषा के केवल काव्यात्मक कार्य तक ही सीमित मानते हैं।

पश्चिमी साहित्यशास्त्रियों में शैलीविज्ञान के सम्बन्ध में भारतीय काव्यशास्त्र के सर्वाधिक अनुकूल और समीप पड़नेवाली धारणा लिओ स्पित्जर की है। “यह कहने के बजाय कि कविता शब्द-निर्मित नहीं होती और कविता में शब्द अपने अर्थ से मुक्त होकर, बौद्धिक प्रत्यय के पार जाकर लयात्मक प्रत्यय का सृजन करते हैं, मैं यह कहना चाहूँगा कि कविता शब्द-निर्मित ही होती है और उन शब्दों का अर्थ भी उसमें स्थित रहता है। लेकिन कवि की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा, जो काव्य-संघटना को एक समग्र दृष्टि के लयात्मक प्रत्यय में बाँधती है, इन शब्दों एवं उसमें स्थित अर्थ को बौद्धिक प्रत्यय के पार ले जाकर लयात्मक प्रत्यय तक पहुँचा देती है। और यह भाषाशास्त्र के अध्येता का कार्य है कि वह इस तथ्य का विश्लेषण करे कि निर्देशित रूपान्तरण की प्रक्रिया क्या है। कविता के अबोधिक पक्ष भाषावैज्ञानिक आलोचक के हाथों में अपनी सत्ता खो नहीं देते अथवा उनके हाथों उनका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसके ठीक विपरीत वह कवि के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए कार्य करेगा। (यह बात दूसरी है कि वह कवि स्वीकृति की अपेक्षा नहीं करेगा) और धैर्य पूर्वक विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेते हुए उस पथ को ढूँढ़ने का प्रयत्न करेगा जो बौद्धिक से अबोधिक की ओर कविता को ले जाता है और जिस दूरी को कवि अपनी एक छलांग में ही तय कर लेता है।”¹

स्पित्जर को ‘बौद्धिक-प्रत्यय’ एवं ‘लयात्मक-प्रत्यय’ की इसी धारणा को कुन्तक ‘वक्रोक्तिजीवितम्’ में प्रकट कर चुके हैं। काव्य की परिभाषा में कुन्तक कहते हैं कि ‘काव्यमर्मज्ञों के आल्हाद-कारक, सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार से मुक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य (कहलाते) हैं।

शब्दाथौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

—वक्रोक्तिजीवितम्, 1-7।

इस श्लोक के ‘शब्दाथौ सहितौ’ पदों का स्पष्टीकरण देने हेतु कुन्तक प्रश्न उपस्थित करते हैं कि ‘शब्द और अर्थ अर्थात् वाचक और वाच्य सदा सब कालों में ‘सहित’ अर्थात् अवियुक्त रूप में ही प्रतीति अर्थात् ज्ञान में स्फुरित अर्थात् प्रतिभासित होते हैं। तब उन्हीं दोनों को सहित अर्थात् अवियुक्त कहकर कौनसी नई बात कर रहे हैं? ² इसका उत्तर देते हुए कुन्तक कहते हैं कि ‘वस्तुतः शब्द और अर्थ के वाच्य-

1. श्री पोयम्ज ऑव एक्स्टेंसी, संकलित—एसेज ऑन इंग्लिश एण्ड अमेरिकन लिटरेचर (प्रिंसटन)। उद्धृत : शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डा. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 94।
2. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 58।

वाचक रूप नित्य सम्बन्ध को लेकर 'साहित्य' नहीं कहा गया है। क्योंकि इस (नित्य सम्बन्धमूलक साहित्य) (स्तर के बौद्धिक प्रत्यय को लेकर चलनेवाला शब्दार्थ) का साहित्य शब्द के कथन मानने पर (तो) क्लिष्ट कल्पना द्वारा रचे गये 'गाङ्कुटादि (गाङ्कुटादिम्योऽणिञ्ङित' पाणिनि व्याकरण के 1, 2, 1 इस सूत्र रूप) वाक्य और गाड़ीवान आदि के असम्बद्ध वाक्य आदि सब ही (वाक्य) 'साहित्य' कहलाने लगेंगे। उससे व्याकरण (पद), मीमांसा (वाक्य) और न्याय (प्रमाण) से भिन्न 'साहित्य' कुछ और ही तत्त्व है यह विभाग भी न हो सकेगा। (इसलिए शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध-मूलक 'साहित्य' यहां अभिप्रेत नहीं है।)

(प्रश्न) व्याकरणादि शास्त्रों से भिन्न, (पदादिव्यति रक्तं) जो साहित्य (नामक शास्त्र) है, वह भी प्रसिद्ध ही है। फिर (आज जो उसका लक्षण कर रहे हैं) उसको कहने से पुनरुक्ति क्यों नहीं होती ?

(उत्तर) इसीलिए हम कहते हैं कि यह जो (वास्तविक) 'साहित्य' है वह आज तक (अर्थात् ग्रंथकार कुन्तक के समय तक) इतने (विस्तृत) असीम समय की परम्परा में केवल (नाममात्र को) 'साहित्य' शब्द से प्रसिद्ध रहा है। परन्तु कविकर्म के कौशल की काष्ठा प्राप्ति से रमणीय इस (साहित्य शब्द) का यह वास्तविक अर्थ है। इस बात का आज (तक) भी किसी विद्वान ने तनिक भी विचार नहीं किया है।¹

इसके उपरान्त 'साहित्य' को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—“ (काव्य की) शोभाशालिता (सौन्दर्यावायकता) के प्रति इन दोनों (शब्द तथा अर्थ) की न्यून और आधिक्य से रहित (परस्पर स्पर्द्धाभाव से) कुछ अनिवर्चनीय (लोकोत्तर) मनोहर स्थिति (ही) साहित्य (शब्द का यथार्थ अर्थ) है।

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥

वक्रोक्तिजीवितम्, 1-17।

और इसी सन्दर्भ में कुन्तक आगे यह भी कहते हैं कि—“काव्य मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करनेवाले व्यापार से सुन्दर (शब्द और अर्थ की) वह कुछ अनिवर्चनीय (अतिसुन्दर) स्थिति पद (व्याकरण) आदि (वाक्य) मीमांसा तथा प्रमाण न्यायशास्त्र (वाङ्मय का सार—सर्वोत्तम भाग) साहित्य (शब्द से) कहा जाता है।

—वक्रोक्तिजीवितम् 1-17-36।

कुन्तक का यह उद्धरण यद्यपि काफी लम्बा हो गया है, किन्तु इससे कुन्तक की 'साहित्य' (कविता) सम्बन्धी धारणा स्पष्ट होती है कि वह शब्दार्थ (भाषा) होते हुए भी तथा व्याकरण, मीमांसा और न्याय का विषय होते हुए भी, इन सबसे

भिन्न वह उस अनिर्वचनीय स्थिति को भी समाहित किये होता है। जो काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करता है। यहाँ कुन्तक काव्य को शब्दार्थ ही मानते हैं, अतः शब्दार्थ के विश्लेषण द्वारा साहित्य के सौन्दर्य-तत्त्व को विश्लेषित करने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु यहाँ भाषा के जिस कार्य (काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करनेवाला व्यापार) की ओर उनका संकेत है, वह काव्यशास्त्र का ही विषय है, व्याकरण, मीमांसा या न्याय का नहीं—जबकि ये शास्त्र भी भाषा का ही विश्लेषण करते हैं, यद्यपि भिन्न दृष्टियों से। स्पित्ज़र की अवधारणा को तब बल और भी मिल जाता है, जब हम यह जानते हैं कि कुन्तक एवं अन्य भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने भाषा के काव्यात्मक घटकों का विश्लेषण करने में भाषा के व्याकरण, मीमांसा एवं न्याय आदि की सामग्री का भी भरपूर प्रयोग किया है। स्वयं कुन्तक ने वक्रोक्ति को वर्ण, पद, प्रत्यय, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध के स्तरों पर विश्लेषित किया है। अतः व्याकरण, मीमांसा और न्याय के स्तरों पर वक्रोक्ति की धारणा को प्रस्थापित करके व्याकरण, मीमांसा, न्याय, एवं काव्यशास्त्र के लक्ष्यों और स्वरूपों को स्पष्ट कर दिया है।

यहाँ कुन्तक और रोमन याकोब्सन में भी अभूतपूर्व समानता रखी जा सकती है : याकोब्सन ने भाषा के विभिन्न कार्यों के आधार पर भाषा में विभिन्न “पैटर्न” एवं “सब-पैटर्न” की कल्पना की है। उन्हीं में से एक “पैटर्न” काव्य-त्मकता का भी है शैलीविज्ञान इस काव्यात्मकता के “पैटर्न” का ही अध्ययन करता है। कुन्तक भी भाषा की विभिन्न भूमिकाओं की ओर संकेत करते हैं, उसके संघटकों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की (वैयाकरणिक, मीमांसिक, न्यायिक) कल्पना करते हैं और काव्य-शास्त्र के लिए केवल शब्दार्थ के सौन्दर्यमूलक अनिर्वचनीय सहृदयआल्लाहदक सम्बन्ध को ही विवेच्य मानते हैं। अतः याकोब्सन का शैलीविज्ञान और कुन्तक का ‘वक्रोक्तिजीवितम्’ काव्य-शास्त्र समानान्तर धारणाओं को लेकर चलनेवाले देखे जा सकते हैं।

कुन्तक की उक्त धारणा के अनुकूल धारणा ओल्गा अब्बमनोवा ने भी प्रस्तुत की है। “यदि वे भाषा की इकाइयाँ सन्देश-प्रेषण के अपने मुख्य कार्य के अलावा दूसरे उद्देश्यों के लिए प्रतीकात्मक मूल्यवत्ता प्राप्त कर लेती हैं, तो वे अपने मुख्य और उपादानगत कार्य के साथ-ही-साथ एक अतिरिक्त प्रयोजकता भी प्राप्त कर लेती हैं। यह अतिरिक्त प्रयोजकता रीति-विज्ञान या लिंग्वोस्टाइलिस्टिक्स का विचार विषय है।”¹

उक्त तुलनात्मक विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं:—

(1) शैली के सम्बन्ध में दो धारणाएँ विद्यमान हैं— (क) सामान्य भाषा

1. ओल्गा अब्बमनोवा : दि प्रिंसिपल एण्ड मैथड्ज ऑव लिंग्वोस्टाइलिस्टिक्स, पृ. 8।

उद्धृत। रीतिविज्ञान-डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 94।

से किसी भी उद्देश्य अथवा किसी भी सन्दर्भ से परिचालित भाषा का विचलन शैली है। (ख) भाषा का यह विशिष्ट रूप जो अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य के स्रष्टा-घटकों का परिणाम है—शैली है।

- (2) शैली की उक्त धारणाओं के अनुसार शैलीविज्ञान भी दो परिघियों के साथ माना जाता है (क) कुछ विद्वान शैलीविज्ञान में भाषा के किसी भी प्रकार के विचलन और वैशिष्ट्य का अध्ययन करते हैं। (ख) कुछ विद्वान शैलीविज्ञान में केवल साहित्यिक भाषा के वैशिष्ट्य का ही अध्ययन करते हैं।
- (3) शैलीविज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों का एक वर्ग यह विश्वास करता है कि साहित्य भी भाषा ही है और शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान का ही अंग है, अतः शैलीविज्ञान साहित्य का विश्लेषण कर सकता है।
- (4) शैलीविज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों का दूसरा वर्ग यह मानता है कि साहित्य भाषा से भी इतर संघटनाओं को समाहित किये रहता है और भाषाविज्ञान केवल भाषा का ही विवेचन-विश्लेषण है, अतः भाषेतर संघटनाओं के विश्लेषण में असमर्थ है। भाषाविज्ञान के अंग के रूप में शैलीविज्ञान साहित्य की पूर्ण समीक्षा नहीं कर सकता है।
- (5) कुछ विद्वान यह मानते हैं कि साहित्य वस्तुतः उक्ति की वक्रता ही है और उक्ति का अध्ययन-विश्लेषण भाषावैज्ञानिक पद्धति से किया जा सकता है, किन्तु क्योंकि साहित्य की भाषा का कार्य व्याकरण, मीमांसा, न्याय (तर्क) आदि के अन्तर्गत विश्लेषित हो सकनेवाली भाषा से भिन्न है—ऐसे अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य की सृष्टि करना जो सहृदय को आल्हादित कर सके—इसलिए भाषाविज्ञान को भी साहित्य की भाषा का अध्ययन करने के लिए अपने भिन्न दृष्टिकोण एवं भिन्न मापदण्डों को अपनाना चाहिए। और भिन्न दृष्टिकोण और भिन्न मापदण्डों का यह भाषाविज्ञान ही शैलीविज्ञान है, जिसका पारम्परिक नाम काव्यशास्त्र है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का विवेचन मूलतः भाषावैज्ञानिक विवेचन ही है, किन्तु यह भाषाविज्ञान व्याकरण, मीमांसा एवं न्यायशास्त्र से प्रकृततः भिन्न है क्योंकि उसका भाषा-विश्लेषण का उद्देश्य ही भिन्न है—शब्द और अर्थ के उस सम्बन्ध का विश्लेषण करना जो अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य का कारण है। अतः भारतीय काव्यशास्त्र प्रकारान्तर से शैलीविज्ञान ही है और रोमन याकोब्सन की दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र भाषाविज्ञान ही है।

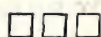
(च) निष्कर्ष

शैली के अभिप्राय और उसके विभिन्न आयामों से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित बिन्दु उभरते हैं—

1. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में 'स्टाइल' और भारतीय साहित्यशास्त्र में 'शैली' एवं उसके अन्य समीपवर्ती शब्द हजारों वर्षों की दीर्घ साहित्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा में अनेक दिशाओं में विकसित होते रहे हैं। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शब्द तो एक ही—'स्टाइल'—प्रयुक्त होता रहा है; किन्तु उसके अर्थ में समय-समय पर संकोच और विस्तार होता रहा है। भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली के लिए रीति, प्रवृत्ति, वृत्ति, संघटना, मार्ग आदि शब्द विभिन्न काव्यात्माओं के अनुरूप अर्थ के संकोचन-विकोचन के साथ प्रयोग में लिये जाते रहे हैं।
2. शैली का सम्बन्ध काव्य-भाषा से रहा है और काव्य-भाषा अपने आप में एक 'विषय' (ओब्जेक्ट) होने के बावजूद वह किसी के द्वारा रचित और किसी के द्वारा भाषित होती है। इसलिए शैली-विश्लेषण का आयाम काव्य-भाषा के वस्तुगत भाषावैज्ञानिक विवेचन से लेकर रचनाकार की रचना-क्षमता और सहृदय के आस्वादन-धरातल की समीक्षा करने तक फैला हुआ रहा है। फलस्वरूप शैली को परिभाषित करने में रचनाकार, रचना और सहृदय—इन तीनों आधार-भूमियों को चुना है।
3. शैली रचनाकार की दृष्टि से उसके रचनाधर्मी व्यवितत्व का अंकन है, सहृदय की दृष्टि से उसको प्रभावित करनेवाली भाषा-क्षमता है और रचना की दृष्टि से वह उन अभिव्यक्तिगत विशिष्टताओं का समुच्चय है जो उसे समान्य भाषा से अलग करता है तथा काव्यत्व की सृष्टि करता है। लाक्षणिक रूप में शैली काव्यत्व का पर्याय है, काव्यत्व ही शैली है, शैली ही काव्यात्मा है, शैली साहित्य का आराध्य और साहित्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य-केन्द्र है।
4. शैली एक रचनाकार द्वारा निर्मित भाषा-शिल्प है, इसलिए वह रचनाकार, भाषा और शिल्प से जुड़ी रहती है। वह इन सबसे घनिष्ठ रूप में जुड़ी हुई रह कर भी इन सबसे स्वतन्त्र है। उसमें रचनाकार की प्रतिभा की नवीनता, गत्यात्मकता और वैयक्तिकता है, भाषा की सार्व-जनीनता है, शिल्प की सुष्ठु-योजना है और विषय या सन्देश की संवहनता है।
5. शैली भाषा में ही रमती है, अतः भाषावैज्ञानिक विवेचन की अपेक्षा रखती है। शैली भाषा में निहित सौन्दर्यधर्मी शक्तियों का सामंजस्य है, इसलिए उसके अध्ययन के लिए भाषा का सौन्दर्यशास्त्रीय विश्लेषण आवश्यक होता है। इस प्रकार शैलीविज्ञान भाषा का सौन्दर्यशास्त्रीय

भाषाविज्ञान है। पाश्चात्य एवं भारतीय आभिजात्य साहित्यशास्त्रों ने अपने को इसी रूप में अंकुरित किया था और मध्यकालीन दीर्घ पतझड़ के बाद आधुनिक युग में पुनः वे इसी रूप में फूटने लगे हैं। शैली भाषा के सौन्दर्यधर्मी कलेवर के रूप में पुनः पहचाने जाने लगी है। लगता है शैली के अर्थ-चक्र ने अपनी एक परिक्रमा पूरी करली है और दूसरी परिक्रमा की यात्रा पुनः प्रारम्भ करदी है।

शैली-सम्बन्धी इस तात्त्विक विवेचन के उपरान्त पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र में शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि दो चिन्तनश्री के उन सूत्रों को प्राप्त किया जा सके जिनके परस्पर जुड़ने पर एक व्यापकतर और समृद्धतर शैलीविज्ञान के विकसित होने की संभावनाएँ उभर सकें।



शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएँ और पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र आमने-सामने

प्रस्तुत अध्याय में पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों को आमने-सामने रख कर, उनको प्रतिबिम्बित करके, उनकी शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने हेतु शैली, शैलीविज्ञान और उनसे सम्बन्धित सभी प्रमुख अवधारणाओं का विवेचन किया जा रहा है। इन प्रमुख अवधारणाओं में सामान्य भाषा और काव्य-भाषा, रचना की स्वायत्तता, शैलीविश्लेषण के विविध कोण, शैली और चयन तथा विचलन, शैली और औचित्य, शैली और सन्दर्भ, शैली और मार्ग-विवेचन तथा शैली और मूल्य से सम्बन्धित प्रकरणों को सम्मिलित किया गया है। यहाँ उक्त बिन्दुओं का ही क्रमिक विवेचन प्रस्तुत है।

साहित्य के सन्दर्भ में शैली का प्रश्न साहित्य में प्रयुक्त होनेवाली उस भाषा-संरचना से जुड़ा रहता है जो अपनी संरचना के स्तर पर सामान्य भाषा की संरचना से 'विशिष्ट' होती है। इसीलिए शैली की ओर-ओर चर्चा करने से पूर्व सर्वप्रथम सामान्य भाषा और काव्य-भाषा से सम्बन्धित अवधारणाओं का विवेचन किया जा रहा है।

(क) सामान्य भाषा और काव्य भाषा¹

प्रस्तुत ग्रन्थ में शैली का सम्बन्ध साहित्य से है और साहित्य निश्चय ही भाषा है। लेकिन भाषा केवल साहित्य ही नहीं हुआ करती, इसलिए भाषा और तदुपरान्त साहित्य के जन्म के साथ ही यह 'क्लासिक' प्रश्न भी उद्भूत हुआ कि जब साहित्य भी भाषा ही है तो फिर भाषा और साहित्य-भाषा में अन्तर क्या है? विचारों की अभिव्यक्ति के कार्य को सम्पादित-करने हेतु भाषा का जन्म हुआ; किन्तु, विचारों की अभिव्यक्ति के विभिन्न उद्देश्यों को लेकर भाषा के प्रकारों का भी विभाजन हुआ। इतिहास, व्याकरण साहित्य आदि विचाराभिव्यक्ति की विभिन्न भाषा-विधाओं में भाषा के विभिन्न प्रकारों और भाषा के अध्ययन के भिन्न-भिन्न लक्ष्यों को देखा जा सकता है। भाषा की उक्त विभिन्न विधाओं के संदर्भ में पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्रों में भाषा-चिन्तन के अन्तर्गत काव्य-भाषा को विश्लेषित करने हेतु

सामान्य भाषा और काव्यभाषा का रूप-विश्लेषण निरन्तर जीवन्त चर्चा का विषय रहा है, जिसको यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पश्चिम में ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में पिण्डार तथा गोजियास ने ही सामान्य भाषा और काव्य-भाषा के अन्तर को समझ लिया था। पिण्डार ने काव्य-भाषा में साकेतिकता और संक्षिप्त व्यंजना को सराहनीय माना था तथा गोजियास ने काव्य-भाषा को 'छन्दात्मक भाषा' घोषित कर दिया था। इसी तरह श्रैसीमैकस ने काव्य-भाषा में लयात्मकता को आवश्यक माना था। वस्तुतः पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में काव्य-भाषा के साथ 'शिल्प' की अवधारणा प्रारम्भ से ही जुड़ी रही है। भाषा के साथ शिल्प के अतिरेक (आडम्बर) से चिड़कर ही तो प्लेटो ने साहित्यकारों से 'एलर्जी' विकसित करली थी। अरस्तू ने काव्य और काव्य-भाषा को अधिक संयत और स्वस्थ ढंग से अपनाया। उन्होंने काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कहा कि—“काव्य भाषा में भाषा-शिल्प का प्रयोग होता है, उसमें ललित कल्पना की क्रीड़ा होती है, जो श्रोता के मन का अनुरंजन करती है। इस प्रकार की भाषा का अपना वास्तविक, किन्तु सीमित महत्त्व है”¹ अरस्तू ने अपनी इस अवधारणा में 'शिल्प' और अनुरंजन-कारिता' के गुणों को प्रतिष्ठापित किया और शिल्प में उसके कलात्मक स्वरूप तथा 'अनुरंजनकारिता' में उसके प्रकाय की ओर संकेत किया। सामान्य भाषा की संरचना का आग्रह न तो किसी भाषायी शिल्प के निर्माण की ओर होता है और न उस शिल्प के बूते पर अनुरंजन करने की क्षमता की ओर ही। सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा के बीच यही मूलभूत अन्तर है कि लोक-भाषा जहाँ अभिव्यक्ति का साधन मात्र होती है वहाँ काव्य-भाषा स्वयं में साध्य भी। अरस्तू ने काव्य-भाषा की लोक-भाषा से भिन्नता स्पष्ट करते हुए (1) प्रचलित, (2) अपरिचित, (3) लाक्षणिक, (4) आलंकारिक, (5) नवनिर्मित और (6) व्याकुचित, संकुचित या परिवर्तित आदि छः प्रकार के शब्दों का विभाजन किया है, जिनसे काव्य की शैली 'साधारण एवं क्षुद्र धरातल' से ऊपर उठ सके। निश्चय ही यहाँ 'साधारण' धरातल सामान्य भाषा का धरातल है और असाधारण धरातल काव्य-भाषा का।

सिसरो ने विचार और अभिव्यक्ति की अविभाज्यता स्वीकार करके अर्थ और शब्द की सश्लिष्टता प्रतिपादित की। होरेस ने चयन की अवधारणा प्रस्तुत करके काव्य-भाषा को सामान्य भाषा से 'चयनित' माना। डायोनिसियस और डेमेट्रियस ने भी शब्द-चयन और शब्द-संयोजन से उत्पन्न काव्य-सौन्दर्य पर अधिक जोर दिया। लौजाइनस ने अलंकारों के समुचित प्रयोग, शब्द-शिल्प की उदारता और रचना-विधान की उत्कृष्टता के आधार पर ही काव्य-भाषा को सामान्य भाषा से अलग माना

1. 'भाषा-शास्त्र' भाग 3, अध्याय 1, 1404 ए। 28 वेसिक बक्स ऑफ एरिस्टोटल, पृ. 1436—

उद्धृत : अरस्तू का काव्यशास्त्र—अनुवादक डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ. 142।

और काव्य-भाषा में उपर्युक्त भाषाई गुणों के आधार पर ही महान शैली की अवस्थिति मानी ।

क्विंटिलियन ने शब्दों की संघटना, अलंकारों के कलात्मक विधान द्वारा ही उक्ति-सौन्दर्य माना । वे काव्य-सौन्दर्य के लिए शब्द-चयन और वाक्य-वक्ता पर बराबर जोर देते रहे । दरअसल क्विंटिलियन की दोनों पुस्तकें 'वक्तृत्व-कला का ह्रास' (द कॉजिस करप्ते एलोक्यून्सिया) तथा 'वक्ता की शिक्षा' (इन्स्टीट्यूटियो ओस्टेरिया) सामान्य-भाषा से काव्य-भाषा या वक्तृत्व भाषा को अलग बनाये रखने के ही प्रयास हैं । उन्होंने भाषा की ध्वन्यात्मकता से लेकर शब्द-चयन, शब्द-संयोजन वाक्य-संरचना आदि सभी स्तरों पर काव्य-भाषा को कलात्मक बनाये रखने का आग्रह प्रस्तुत किया । दाँते ने कहा है कि श्रेष्ठ कवि कविता में सदैव अपनी बोल-चाल की भाषा से दूर हटते जाते हैं ।¹

सिडनी ने काव्यात्मक आनन्द को काव्य-भाषा के रूप और शैली में ही ढूँढा, काव्य-वस्तु में नहीं । नव्यशास्त्रवादियों ने भाषा-शिल्प के आधार पर ही काव्य-भाषा की परख की । झाइडन ने तो आनन्दवर्धन की तरह काव्य-भाषा में व्यंजना को प्रधानता दी तथा सत्याभास (प्रोवेविलिटी ऑव ट्रूथ) वाली भाषा को श्रेष्ठ माना जो कि सामान्य भाषा से एक दम भिन्न होती है । स्विफ्ट ने काव्य-भाषा की कसौटी के रूप में 'उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त चयन' माना और उसे सामान्य भाषा का 'चयनित' रूप ही सिद्ध किया ।

स्वच्छन्दतावादियों में वर्डस्वर्थ ने अवश्य काव्य-भाषा को सामान्य भाषा के समीप लाने का प्रयास किया; किन्तु उन्हीं के समकालीन समीक्षक कॉलरिज ने पुनः 'सर्वोत्कृष्ट शब्दों के सर्वोत्कृष्ट चयन' को ही काव्य-भाषा स्वीकार किया । उन्होंने वर्डस्वर्थ की उत्कृष्ट कविताओं में ही काव्य-भाषा को सामान्य भाषा से भिन्न सिद्ध कर दिया । वर्डस्वर्थ की इस अवधारणा के आधार पर कि कविता आवेगमय भावों का उच्छ्वलन होती है, कॉलरिज ने कहा कि भावों के आवेग से काव्य-भाषा भी सामान्य भाषा से 'विशिष्ट' हो जाती है । बोल-चाल की भाषा में गहन भावनाओं की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है ।²

वॉल्टर पेटर वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक काव्य-भाषा को सामान्य भाषा से भिन्न मानते हैं । हर्वट रीड शब्द-चयन एवं आलंकारिक प्रयोग के आधार पर काव्य-भाषा का विश्लेषण करते हैं । टी. एस. इलियट ने यद्यपि यह कहा कि कविता को दैनिक बोलचाल की भाषा से बहुत दूर नहीं हटना होगा'³ तथा काव्य के क्षेत्र में

1. प्योरिटी ऑव डिक्शन इन इंग्लिश वर्स-डोनाल्ड डेवी (लन्दन, 1952) पृ. 75 ।

2. द पोयटिक एप्रोच टू लैंग्वेज-वी. के. गोकक (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1952, पृ. 159 ।

3. ऑन पोयट्री एण्ड पोयट्स—टी. एस. इलियट (लन्दन, 1965), पृ. 29 ।

प्रत्येक क्रान्ति लोक-भाषा की ओर प्रत्यागमन के रूप में घोषित हुई है और ऐसा होना भी चाहिए¹; किन्तु उनका भी यह मानना था कि कविता में प्रयुक्त लोक-भाषा का रूप भी स्वतः “वैशिष्ट्य” को प्राप्त कर ही लेगा। रैने वैंलेक कहते हैं कि साधारण जीवन की भाषा से काव्य-भाषा को उतना भिन्न होना चाहिए, जितना वह हो सकती है।² वैंलेरी कवि से आशा करते हैं कि वह सामान्य भाषा को शुद्धतर (प्योरर) भाषा के रूप में ढाले।³ इसी तरह जेराल्ड मॅन्ले हॉफ़िस के अनुसार कविता की भाषा युग की सामान्य वाणी के मुहावरे का उन्नयन है⁴ क्लियेन्थ ब्रुक्स भी काव्य-भाषा को साधारण वाणी का विशिष्टीकरण मानते हैं।⁵ आई. ए. रिचर्ड्स सामान्य भाषा में शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग मानते हैं; जबकि काव्य में संवेगात्मक प्रयोग को प्रधानता देते हैं। इस प्रकार काव्य-भाषा को संवेगात्मक भाषा मानते हैं।⁶

सामान्य भाषा और काव्य-भाषा के सम्बन्ध में प्राग स्कूल के विद्वान मुकारोवस्की की अवधारणाएँ महत्वपूर्ण हैं। वे मानते हैं कि काव्य-भाषा सामान्य भाषा का ब्राण्ड नहीं होती। वस्तुतः काव्य-भाषा सामान्य भाषा की संरचना को तोड़कर संरचित होती है। सामान्य भाषा के ‘नॉर्म’ (Norm) का विधिवत् विपथन (Systemetic Voilation) ही भाषा का काव्यात्मक उपयोग है। इस विपथन के अभाव में कविता की रचना संभव नहीं है।⁷ मुकारोवस्की ने काव्य-भाषा का महत्वपूर्ण प्रकार्य अधिकाधिक अग्रप्रस्तुति (Foregrounding) में माना है।⁸ वे कहते हैं कि सामान्य भाषा अधिकाधिक नियमानुकूल होती है, जबकि काव्य-भाषा अधिकाधिक नियमभंग करती है।

आधुनिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में, बल्कि कहना चाहिए कि शैलीविज्ञान में काव्य-भाषा की एक भिन्न रूप में व्याख्या की जाने लगी है। जिसकी ओर काण्ट ने संकेत किया था कि काव्य-भाषा अपने कलात्मक लक्ष्य ‘उद्देश्य-विहीन उद्देश्य’ के निर्माण का कारण बनती है। अर्थात् काव्य-भाषा सन्देश-सापेक्ष तो होती है, पर साथ ही उसमें ‘सन्देश’ की अपनी संघटना पर बल होता है। काव्य भाषा सन्देश की

1. ऑन पोयट्री एण्ड पोयट्स-टी. एस. इलियट (लन्दन) 1965, पृ. 31।
2. हिस्ट्री ऑव मॉडर्न क्रिटिसिज्म-रैने वैंलेक (लन्दन, 1961) पृ. 41।
3. उद्धृत : संस्कृत पोयटिक्स-कृष्ण चैतन्य (बम्बई, 1965) पृ. 141
4. अण्डरस्टेण्डिङ् पोयट्री-क्लियेन्थ ब्रुक्स और राबर्ट पेनवारन (न्यूयार्क, 1950) इण्ट्रोडक्शन पृ. 11।
5. उद्धृत : काव्यभाषा-डॉ. सियाराम तिवारी (मैकमिलन, 1976), पृ. 91।
6. द मीनिङ् ऑव मीनिङ्-आई. ए. रिचर्ड्स, पृ. 149-50।
7. स्टेडण्ड लैंग्वेज एण्ड पोयटिक लैंग्वेज-मुकारोवस्की, संकलित : लिग्विस्टिक्स एण्ड लिटरेरी स्टाइल-फीमैन, पृ. 42।
8. वही, पृ. 43।

आन्तरिक संघटना पर बल देने के कारण उद्देश्यपूर्ण होती है, पर सन्देश का यह रूप बाह्य संसार के सन्दर्भ से कट कर निरुद्देश्य हो जाता है ।¹

उक्त तथ्य को ही मरे क्रियगर इस रूप में प्रकट करते हैं कि सामान्य भाषा (अकाव्यात्मक भाषा) केवल खिड़की के उस पारदर्शी शीशे के समान होती है जिसके सहारे बाह्य जीवन को देखा, समझा और उसका अनुभव किया जा सकता है, जबकि काव्य-भाषा एक साथ 'खिड़की का पारदर्शी शीशा' भी है और 'दर्पण का सैट' भी । पारदर्शी शीशे के रूप में एक स्तर पर वह बाह्य जीवन के उपादानों की ओर संकेत देती रहती है और काव्यात्मकता को बाँधते हुए एक दूसरे स्तर पर दर्पण के सैट के रूप में बाह्य जीवन की छवि को एक गुणात्मक भेद के साथ अनन्त रूप में अपने भीतर प्रतिबिम्बित भी करती रहती है ।²

रोलॉ वार्थेस कहते हैं कि काव्य-रचना को वस्तु और रूप इन दो तत्त्वों में विभाजित करके नहीं देखा जा सकता । वह गुठलीदार फल की तरह नहीं होती; प्याज की तरह पत-दर-पत से संचित होती है । वार्थेस की इस अवधारणा से काव्य-भाषा स्वयं में वस्तु भी है और रूप भी । वह स्वयं में स्वायत्त है, अविभाज्य है; जबकि सामान्य भाषा में वस्तु अलग से नजर आती है । एक प्रकार से क्रियगर और वार्थेस एक ही प्रकार की अवधारणा को लेकर चलते हैं । भारतीय साहित्यशास्त्र में भी इस अवधारणा को प्रमुखता प्राप्त हुई है, जिसका विवेचन आगे किया जायेगा ।

रोमन याकोब्सन ने भाषा के विभिन्न प्रकारों—भाव्यात्मक (Emotive), अभिधापरक (Conative), संकेतपरक (Referential), काव्यपरक, (Poetic), सम्पर्कपरक (Phatic) और तर्कपरक (Metalingual) का वर्णन करते हुए काव्य-भाषा के लिए कहा है कि काव्य-भाषा जिस प्रतीक-यद्धति को अपनाती है, वह समीकरण के सिद्धान्त पर नहीं, वरन् सम-मूल्य और तुल्यार्थक (Equivalence) सिद्धान्त पर आधारित होती है; जबकि सामान्य भाषा (तर्क भाषा) में प्रतीक (Sign) और संकेतिक वस्तु (Referent) के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति समानाधिकारिक (Equational or Oppositive) होती है । संस्कृत साहित्यशास्त्र की शब्दावली में सामान्य भाषा अभिधापरक होती है; जबकि काव्य-भाषा लाक्षणिक ।

सामान्य भाषा और काव्य-भाषा में अन्तर उसकी एकार्थता और बहुअर्थता को लेकर भी है । सामान्य भाषा किसी प्रतीक की अभिव्यक्ति करती है, और केवल प्रतीक की अभिव्यक्ति करती है; जबकि काव्य-भाषा व्यंजना-प्रधान होती है, जिसका प्रतीक को छेद कर बहुअर्थों में बिखर जाना अवश्यम्भावी होता है ।

1. शैलीविज्ञान और और आलोचना की नयी भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 47 ।

4. वही, पृ. 48 ।

संक्षेप में, पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में अंकित सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा की उक्त चर्चा का निम्नलिखित बिन्दुओं में समाहार किया जा सकता है:—

1. सामान्य भाषा अनलंकृत और एकार्थक होती है जबकि काव्य-भाषा अलंकृत और बहुअर्थक होती है।
2. सामान्य भाषा अभिव्यक्ति का साधन मात्र होती है, काव्य-भाषा साधन होने के साथ-साथ स्वयं में साध्य भी होती है। वह 'खिड़की का पारदर्शी शीशा और 'दर्पण का सैट' दोनों होती है।
3. काव्य-भाषा सामान्य भाषा का विधिवत विचलन (Systemetic Deviation) होती है।
4. सामान्य भाषा में संकेतित वस्तु के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति समानाधिकरणिक (Equational or oppositive) सिद्धान्त पर आधारित होती है; जबकि काव्य-भाषा सम-मूल्य और तुल्यार्थक (Equivalence) सिद्धान्त पर आधारित होती है।
5. सामान्य भाषा अभिधात्मक होती है; जबकि काव्य भाषा लक्ष्यात्मक एवं व्यंग्यात्मक होती है।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

भाषा के सामान्य बोलचाल के रूप और काव्य-रूप से भारतीय साहित्यशास्त्र अपने उद्भव-काल से ही परिचित रहा है। कथ्य के सौन्दर्य के अतिरिक्त कथन के, अपने उद्भव-काल से ही परिचित रहा है। कथ्य के सौन्दर्य के अतिरिक्त कथन के, 'वाणी' के, सौन्दर्य की जहाँ भी चर्चा हुई है; वहाँ भाषा के काव्यात्मक पहलू ने ही प्रधानता प्राप्त की है। ऋग्वेद का कवि छंद और शब्द के प्रयोग की 'विपुलता' के बारे में परिचित है 'कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः को घिण्ण्या प्रतिवाचं पवाद' (10.114.9)। वह जानता है कि गीत तो एक कटी-छटी-मँजी हुई (सुवृत्ति) रचना होती है। इस दृष्टि से पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की तरह भारतीय साहित्य-शास्त्र में भी काव्य-भाषा के साथ शिल्प की अवधारणा प्राचीनकाल—ऋग्वेद से ही जुड़ी हुई है।

भारत का 'नाट्यशास्त्र' तो समस्त कलाओं का शिल्प-विज्ञान ही है। उसमें अन्य कलाओं के साथ-साथ काव्य-भाषा की शिल्पात्मक संरचना की अवधारणा भी विद्यमान है।

विशुद्ध साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में साहित्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने सर्वप्रथम सामान्य भाषा और काव्य-भाषा का स्पष्ट अन्तर प्रस्तुत किया। उन्होंने सामान्य भाषा को 'वार्ता' कहा और उसके 'सर्गं शस्तं हो गयाः चन्दमा चमक रहा

भी काव्य है ?¹ भामह ने काव्य की परिभाषा में कहा कि 'शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं' (शब्दार्थी सहितौ काव्यम्)² और भामह की यह शब्दार्थ की 'सहितौ' वाली परिभाषा ही भारतीय साहित्यशास्त्र में सर्वदा प्रचलित रही। शब्दार्थ की यह 'सहितता' ही सामान्य भाषा और काव्य-भाषा में भेद करती है। वेद एवं मंत्र आदि के रूप में भाषा का कार्य शब्द-प्रधान होता है; इतिहास, शास्त्रादि में भाषा का कार्य अर्थ-प्रधान होता है; किन्तु साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता होती है, दोनों में अविभाज्यता होती है। संरचना की दृष्टि से काव्य-भाषा का उक्त लक्षण भामह द्वारा ही प्रचलित कर दिया था। जिसका विस्तृत स्पष्टीकरण कुन्तक ने दिया है। भामह ने आगे चलकर काव्य-भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलंकार (सौंदर्य) है³ अथवा वाणी की शोभा तो वक्र शब्द और अर्थ से ही निष्पन्न होती है।⁴ इस प्रकार 'वक्रता' एक ऐसे भाषा-प्रयोग के रूप में निखर कर आती है जिसकी विद्यमानता से भाषा काव्य-भाषा बन जाती है, और जिसके अभाव में वह सामान्य भाषा ही बनी रहती हैं। वस्तुतः 'वक्रता' सामान्य भाषा और काव्य-भाषा का विभाजक तत्त्व है।

दण्डी ने 'इष्ट अर्थ से युक्त पदावली'⁵ को काव्य-शरीर कहकर शब्दार्थ की 'युक्तता' और अर्थ की 'इष्टता' की ओर संकेत किया तथा सामान्य भाषा से काव्य-भाषा की विशिष्टता घोषित की। रुद्रट ने भामह की तरह काव्य को शब्द और अर्थ का संयोग (ननु शब्दार्थौ काव्यम्) कहकर काव्य-भाषा में शब्दार्थ की युगनद्धता ही प्रतिपादित की। वामन ने काव्य की पद-रचना को 'विशिष्ट' कहकर उसे सामान्य पद-रचना से भिन्न घोषित किया। आनन्दवर्धन ने काव्य-भाषा का लक्षण उसके व्यंग्य को माना और व्यंग्यार्थ के लिए शब्द और अर्थ की संयुक्ति पर जोर दिया।⁶ वह व्यंग्य अर्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द (ही) ही काव्य है। शब्द मात्र (सारे शब्द) नहीं।⁷ आनन्दवर्धन ने भाषा के व्यंजना-कार्य को पूर्णता के साथ आत्मसात किया और भाषा में उसकी प्रधानता अथवा गौरवता के अनुरूप ही काव्य-ध्वनि-काव्य और 'गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य' के रूप में विभाजन भी कर दिया। इस प्रकार आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत काव्य-भाषा का विवेचन रोमन याकोब्सन की तरह भाषा के प्रकायात्मिक पहलुओं पर ही आधारित है। इस दृष्टि से आनन्दवर्धन के लिए व्यंजना-कार्य से विहीन भाषा ही सामान्य भाषा है।

1. काव्यालंकार—भामह, 2-87।
2. वही, 1-16।
3. वही, 1-36।
4. वही, 5-66।
5. काव्यादर्श—दण्डी, 1-10।
6. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 1-8 कारिका।

कुन्तक ने भाषा की प्रकृति और प्रकार्यों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करके काव्य-भाषा एवं काव्येतर भाषा का स्पष्ट विभाजन प्रस्तुत किया है। वे काव्य का लक्षण करते हुए कहते हैं कि शब्द और अर्थ का साहित्य भाव ही काव्य है।¹ और इस साहित्यभाव की विस्तार से व्याख्या करते हुए कहते हुए कहते हैं कि शब्द और अर्थ की 'सहितता' अर्थात् अवियुक्तता तो नित्य सिद्ध है, जो व्याकरण (पद), मीमांसा (वाक्य) और न्याय (प्रमाण) आदि शास्त्रों में भी रहती है। लेकिन साहित्य में शोभाशालिता के प्रति शब्द और अर्थ की न्यून और आधिक्य से रहित कुछ अनिवर्चनीय मनोहर स्थिति ही रहती है।² इस प्रकार काव्य-भाषा का अपना निजी व्यक्तित्व काव्य-सौंदर्य के हेतु शब्द और अर्थ के 'समान' महत्त्व में है। शब्द और अर्थ का समान संतुलित संयोग ही काव्य-भाषा की रचना करता है; जबकि वेदादि में शब्द का तथा शास्त्रादि में अर्थ का प्रभुत्व रहता है, और यह संतुलन अनुपस्थित रहता है। काव्य-लक्षण के सन्दर्भ में कुन्तक द्वारा 'सहितो' पद की यह व्याख्या काव्य-भाषा की व्याख्या में एक क्रान्तिकारी कदम था, जिसकी दिशा में आधुनिक पाश्चात्य शैलीविज्ञान में क्रियगर, रोलाँ बार्थेस आदि विद्वान् अपने सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहे हैं।

सामान्यभाषा और काव्यभाषा के सम्बन्ध में भोज ने स्पष्ट कहा है कि शास्त्रभाषा और लोकभाषा 'अवक्र' होती है जबकि काव्य-भाषा वक्र होती है।³

महिम भट्ट ने भी काव्य-भाषा पर सूक्ष्मता से विचार किया तथा अर्थ के दो भेद—वाच्य और अनुमेय मानकर काव्य में अनुमेयार्थ की प्रधानता सिद्ध की। महिम का 'व्यक्ति-विवेक' 'ध्वन्यालोक' की आलोचना के लिए रखा गया, इसलिए ध्वन्यालोक के भाषा-विश्लेषण के प्रतिरूप को ही व्यक्ति-विवेककार ने भी अपनाया है। आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के आधार पर ही ध्वनि की कल्पना की थी, महिम ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की ही पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की तथा शब्द को हेतु और अर्थ को साध्य घोषित किया।⁴ उन्होंने आनन्दवर्धन की तरह शब्द को व्यञ्जक नहीं माना, उसे अर्थान्तर (आनन्दवर्धन के यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ और महिम के यहाँ वाच्यार्थ से अनुमेयार्थ में अर्थान्तर माना गया है।) का आश्रय भी नहीं माना। उनके अनुसार अनुमेयार्थ का आश्रय भी अर्थ ही है, शब्द नहीं। इस प्रकार शब्दार्थ के बीच 'अनुमान' की प्रक्रिया को तथा काव्य में अनुमेयार्थ की स्थापना करके काव्य-भाषा की नयी विवेचना प्रस्तुत की। आनन्दवर्धन की तरह

1. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-7।

2. वही—1-17 कारिका।

3. यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।

वक्र यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥

उद्धृत : हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्—सं. डॉ. नगेन्द्र, भूमिका (दिल्ली, 1955) पृ. 34।

4. व्यक्तित्वविवेक—महिम भट्ट, 1-38, कारिका।

महिम के अनुसार भी सामान्य भाषा में वाच्यार्थ की प्रधानता रहती है। स्पष्ट है महिम द्वारा प्रस्तुत काव्य-भाषा का विवेचन भी भाषा के प्राकार्यात्मक पहलुओं पर ही आश्रित है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र के बाद हिन्दी में भी काव्य-भाषा पर चिन्तन हुआ, सतही ही सही। हरिऔध ने काव्य-भाषा में कृत्रिमता को अनिवार्य माना।¹ शुक्लजी ने अनुभूति की विशिष्टता के साथ अभिव्यक्ति की विशिष्टता को स्वीकार करके काव्य-भाषा में 'वक्रता' को स्वाभाविक माना।² प्रसादजी ने शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता से ही विच्छिन्ति, छाया और कान्ति का सृजन स्वीकार किया।³ डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने काव्य-भाषा में 'उत्कृष्टतम क्रम' को महत्त्व दिया।

मोहन राकेश के अनुसार काव्य-भाषा की 'संजीवनी शक्ति' जनजीवन से जुड़े रहने और रचनाकार के अनुभव की सार्वजनीनता को प्रस्तुत करने में है।⁴ उन्होंने सर्जनात्मक भाषा में ध्वन्यात्मकता और लयात्मकता को भी महत्त्व प्रदान किया है।⁵ डॉ. रामचन्द्र तिवारी काव्य-भाषा को संस्कृत साहित्यशास्त्र की विचारधारा में ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भाषा और भाव में द्वैत नहीं होना चाहिए।⁶ डॉ. नगेन्द्र भी काव्य-भाषा को ऋजु पथ से विपथित भाषा मानते हैं।⁷ डॉ. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार काव्य-भाषा का सन्देश अपने गठन पर आश्रित होता है और सामान्य भाषा का सन्देश बाह्यार्थपरक होता है। काव्य-भाषा अन्तर्मुखी होती है, सामान्य भाषा बहिर्मुखी। काव्य-भाषा पर सामान्य भाषा की 'अपेक्षा' भाषागत सन्दर्भों का दबाव बहुत ज्यादा होता है।⁸

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार भी काव्य-भाषा सामान्य भाषा (तर्क भाषा) से अतिक्रमित होती है।⁹ वह विशिष्ट संरचनात्मक (Structural) और बुनावट (Textural) प्रक्रिया के सहारे ही अपना ठोस रूप और आकार ग्रहण करती है।¹⁰ सामान्य भाषा जहाँ संहिता (Code) सापेक्ष, अभिधामूलक, एक स्तरीय अर्थ-वाली, स्थिर प्रतीकवाली समानाधिकरणिक, वर्णन-विधि को तथा निर्वचनात्मक (Operational) अभिव्यक्ति-पद्धति को अपनानेवाली होती है; वहाँ काव्य-भाषा सन्देश (Message) सापेक्ष, लाक्षणिक और व्यंजक, बहुस्तरीय अर्थवाली, लचीले

1. बोलचाल—हरिऔध, पृ. 43।

2. 'कविता क्या है' चिन्तामणि (भाग-एक)—रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 181।

3. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, पृ. 123।

4. नयी कहानियाँ (जुलाई, 1963)—बकलम खुद, पृ. 63।

5. रममंच और शब्द—मोहन राकेश—नटरंग—18, पृ. 26 से 32।

6. काव्य-भाषा की चिन्ता—डॉ. रामचन्द्र तिवारी, नया प्रतीक (फरवरी, 1978), पृ. 44।

7. शैलीविज्ञान—डॉ. नगेन्द्र, पृ. 58।

8. रीतिविज्ञान—डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 40।

9. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 53।

10. आलोचना—43 (अक्तूबर-दिसम्बर, 1977), पृ. 55।

प्रतीकवाली तथा सममूल्य तुल्यार्थक वर्णन विधि को एवं प्रस्तुतीकरण परक (Presentational) अभिव्यक्ति-पद्धति को अपनानेवाली होती है।¹ डॉ. सुरेशकुमार की भी इसी तरह की धारणा रही है।² डॉ. कृपाशंकर सिंह के अनुसार काव्य-भाषा मानक भाषा का सर्जनात्मक विरूपण है।³ यह विरूपण ही कविता के तिलस्म की चावी है।⁴

भारतीय साहित्यशास्त्रियों की सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा के सम्बन्ध में निर्मित उपर्युक्त अवधारणाओं को निम्नलिखित बिन्दुओं में संक्षिप्त किया जा सकता है—

1. काव्य-भाषा को ऋग्वैदिक काल से ही 'सुवृत्ति' कटी-छँटी, शिल्पित भाषा के रूप में माना गया है।
2. सामान्य भाषा (वार्ता) और काव्य-भाषा का विभाजन-बिन्दु है— शब्दार्थ की 'वक्रता'। काव्य-भाषा वक्र होती है और सामान्य भाषा अवक्र।
3. शब्द और अर्थ की 'सहितता' (अविभक्तता) के स्तर पर तो सामान्य भाषा और काव्य-भाषा समान है; किन्तु काव्य-सौन्दर्य में शब्द और अर्थ की सहितता में न्यूनाधिकता का अभाव काव्य-भाषा का अपना निजी लक्षण है।
4. प्रकाय के स्तर पर काव्य-भाषा व्यंग्य-प्रधान होती है, जबकि सामान्य भाषा अविधा-प्रधान।

(इ) निष्कर्ष—पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र में सामान्य भाषा और काव्य-भाषा विषयक उक्त विवेचन से जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र के विकास के आरम्भिक काल में ही भाषा के सामान्य रूप और काव्य-रूप के अन्तर की स्पष्ट अवधारणा मिलती है। दोनों ही साहित्यशास्त्रों में काव्य-भाषा को एक परिष्कृत और भाषायी शिल्प के द्वारा गढ़ी हुई माना गया है। विचारों की सहज-सामान्य अभिव्यक्ति के लिए जहाँ सामान्य-भाषा का रूप विकसित हुआ, वहाँ काव्यात्मक अभिव्यक्तियों के लिए एक विशिष्ट शिल्पित भाषा भी तैयार हुई। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार्यों के लिए भाषा के अलग-अलग रूपों की विद्यमानता और उनका बोध भारत में

1. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 46 से 53।

2. शैलीविज्ञान—डॉ. सुरेशकुमार, पृ. 23 से 29।

3. शैलीविज्ञान अध्ययन की अवधारणा—डॉ. कृपाशंकर सिंह, आलोचना-41 (अप्रैल-जून, 1977) पृ. 55।

4. आलोचना—43 (अक्तूबर-दिसम्बर, 1977), पृ. 68।

ऋग्वेद काल तथा पश्चिम में ईसा से पाँचवी शती पूर्व के होमर, हिसियाड, सोफोकलीज, पिण्डार, गोजियास आदि साहित्यकारों के युग से ही मिलता है।

2. सामान्य भाषा से काव्य-भाषा की विशिष्टता का अनुसंधान दोनों ही साहित्यशास्त्रों में निरन्तर होता रहा है; किन्तु प्राचीन पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में वह वैज्ञानिक रूप नहीं प्राप्त कर सका। कारण स्पष्ट है कि पश्चिम में भाषा की प्रकृति के बारे में पर्याप्त शोध और अध्ययन नहीं हो सका, इसलिए काव्य-भाषाविषयक चिन्तन भी विकसित नहीं हो सका। आधुनिक पाश्चात्य चिन्तना भाषाविज्ञान, व्याकरण और शैलीविज्ञान में जितनी गम्भीरता से जुटी हुई है, उतनी ही उसको काव्य-भाषा की प्रकृति को परखने की क्षमता भी प्राप्त हुई है। भारतीय साहित्यशास्त्र में स्थिति एकदम विपरीत है। संस्कृत के व्याकरण, मीमांसा और न्याय-शास्त्र दो हजार वर्ष पूर्व ही अत्यधिक समृद्धि को प्राप्त कर चुके थे और उन्होंने काव्य-भाषा के अध्ययन के लिए प्रभूत सामग्री जुटा दी थी। परिणामस्वरूप भाषा और काव्य-भाषा के अन्तर का स्पष्ट बोध संस्कृत साहित्यशास्त्र को भी प्राप्त हो चुका था। इसीलिए भारतीय साहित्यशास्त्र को भाषा के विभिन्न स्वरूपों, प्रकारों और उद्देश्यों के सन्दर्भ में किसी प्रकार की भ्रान्ति, सन्देश या अनभिज्ञता नहीं रही। दुर्भाग्य से भारतीय मध्यकालीन साहित्यशास्त्र संस्कृत साहित्यशास्त्र के विकास को गति देना तो दूर, उसे यथावत जीवित भी नहीं रख सका। परिणामस्वरूप भारत का आधुनिक और यहाँ तक कि समसामयिक साहित्यशास्त्र भी, भ्रमित-सा दिखाई पड़ता है। आधुनिक काल में आधुनिक भारतीय भाषाओं का भाषावैज्ञानिक-वैयकरणिक अध्ययन पर्याप्त नहीं हो सकने के कारण साहित्यशास्त्र में भाषावैज्ञानिक और शैलीवैज्ञानिक संस्कार ही नहीं पनप पाये हैं। अब आधुनिक पश्चिमी साहित्यशास्त्र के प्रभाव से एवं संस्कृत साहित्यशास्त्र के पुनराख्यान से भारत का आधुनिक साहित्यशास्त्र भी भाषावैज्ञानिक एवं शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से सामान्य भाषा और काव्य-भाषा के सम्बन्ध में विचार करने लगा है।

3. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में एक अभूतपूर्व समानता यह है कि दोनों ने ही काव्य-भाषा-विषयक चिन्तन में काव्य-भाषा को अभिव्यक्ति का साधन एवं स्वयं में ही एक साध्य के रूप में पहचान कर उसकी मूल प्रकृति का दर्शन किया है। पश्चिम में काण्ट ने काव्य-भाषा को 'उद्देश्यविहीन उद्देश्य' कहा और परवर्ती साहित्यशास्त्रियों

ने उसे 'बिड़की का पारदर्शी शीशा' और 'दर्पण का सेंट' कहा तो भारतीय साहित्यशास्त्र में भी काव्य-भाषा को चतुर्वर्ग रूप फल से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करनेवाली कहा है।¹ इस प्रकार 'सन्देश' की महानता के साथ-साथ स्वयं वाणी के 'चमत्कार' की महानता भी साहित्यशास्त्रियों में प्रतिष्ठित रही। काव्य-भाषा में 'सन्देश' की वाहिका एवं स्वयं में एक 'सन्देश' होने की प्रकृति का परिचय दोनों ही छोटों के साहित्यकारों को प्राचीन काल से ही मिलता रहा है।

4. दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शब्द और अर्थ की युगनद्धता का विवेचन हुआ है; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र इस सन्दर्भ में अधिक सूक्ष्मता प्राप्त कर सका। शब्द और अर्थ के सम्बन्धों एवं भाषा के विभिन्न उपयोगों में उनकी प्रधानता-गौणता का परिचय यहाँ वैदिक मन्त्रों तथा शास्त्रादि के ज्ञान-विवेचन में मिल चुका था एवं व्याकरण, न्याय और भीमांसा-शास्त्रों में शब्द और अर्थ का भिन्न-भिन्न कोणों से अध्ययन भी हो चुका था। इसलिए साहित्यशास्त्रियों ने भी काव्य भाषा के सन्दर्भ में उक्त भाषा-अध्ययन का उपयोग करते हुए शब्दार्थ के सम्बन्धों का अत्यन्त सूक्ष्म-विवेचन प्रस्तुत किया, जो पर्याप्त वैज्ञानिक रहा। कुन्तक की वक्रोक्तिजीवितम् में 'शब्दाद्यौ सहितौ' के संबंध में 'सहितौ' पदकी व्याख्या अर्थ-विज्ञान और शैलीविज्ञान के चिन्तन की पराकाष्ठा को द्योतित करती है। आधुनिक भारतीय साहित्यशास्त्री तो इस व्याख्या पर विचार कर ही सकते हैं, पश्चिमी साहित्यशास्त्री भी इस व्याख्या से काव्य-भाषा-विषयक चिन्तन में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं।

5. भाषा के विभिन्न प्रकार्यों की संकल्पना विकसित करके भारतीय साहित्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धांत, अनुमतिवाद (महिम भट्ट) जैसे महान साहित्यसिद्धांतों की अवतारणा हुई और काव्य-भाषा का सामान्य भाषा से अर्थवैज्ञानिक घरातन पर विषयन सिद्ध किया। ठीक उसी तरह पश्चिम के आधुनिक शैलीवैज्ञानिक आई. ए. रिचर्ड्स, रोमन याकोब्सन, हैलीडे आदि ने भाषा के विभिन्न प्रकार्यों के आधार पर काव्य-भाषा का विवेचन प्रारम्भ किया। भाषा के प्रकार्यात्मक रूप को लेकर दोनों साहित्यशास्त्रों में हुए कार्य का एक विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

6. आधुनिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र की काव्य-भाषा विषयक अवधारणाओं में अभूतपूर्व एवं रोचक समान-

ताएँ हैं; किन्तु पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, जो अपनी अधिक और निरंतर शोध के बावजूद भी अधिक प्रगति नहीं कर पा रहा है तथा रुँधा हुआ जटिलाया प्रतीत होता है, वह संस्कृत साहित्यशास्त्र के भाषावैज्ञानिक और शैलीवैज्ञानिक चिन्तन से प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। काव्य-भाषा के अध्ययन के लिए संस्कृत साहित्यशास्त्र में पूर्व-निर्मित 'पैटर्नों' के आधार पर आधुनिक भाषाओं की प्रकृतियों के अनुकूल नवीन 'पैटर्नों' का निर्माण किया जा सकता है।

पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा से सम्बन्धित अवधारणाओं का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त, अब काव्य-भाषा से निर्मित रचना और उसकी स्वायत्तता के सम्बन्ध में उक्त साहित्यशास्त्रियों की अवधारणाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(ख) रचना की स्वायत्तता और जैविकता

सामान्य भाषा में वक्रता के उन्मेष के परिणामस्वरूप काव्य-भाषा रूपायित होती है और वह सामान्य भाषा का हर स्तर पर विपथन करके, व्यवस्था भंग करके, एक नवीन व्यवस्था का प्रतिपादन करती है। रचना में सामान्य भाषा की व्यवस्था को तोड़कर नयी हुई एक नव-निर्मित व्यवस्था भी होती है। इसलिए शैली और शैलीविज्ञान का क्षेत्र न केवल सामान्य भाषा के विपथन को ही स्पष्ट करने तक सीमित है; बल्कि विपथन से रचित रचना की 'व्यवस्था' का भी अन्वेषण और विश्लेषण करने तक फैला हुआ है। यहाँ सामान्य भाषा और काव्य-भाषा की अवधारणाओं का अध्ययन करने के बाद अब रचना की स्वायत्तता और उसकी जैविकता के सम्बन्ध में दोनों ही साहित्यशास्त्रियों की अवधारणाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के लिए यह अवधारणा अत्यन्त प्राचीन है कि रचना विचार और भाषा होते हुए भी स्वयं में एक स्वतन्त्र इकाई, एक स्वायत्त संघटन होती है। पश्चिम का आधुनिक संरचनावाद, जो अणु और जैविक 'सैल' की संरचना से सम्बन्धित आधुनिक वैज्ञानिक शोधों के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है, काव्य-रचना के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही विद्यमान रहा है। उसका सर्वप्रथम प्रमाण हमें यूनानी नाटककार पिण्डार के इस कथन में मिलता है कि जिस प्रकार मधुमक्खी अनेक पुष्पों के पराग को एकत्र करके मधुर मधु का निर्माण करती है, वही ध्येय कलाकार का होना चाहिए। मधु को विभिन्न पुष्पों के पराग से संचित मानते हुए भी उसको एक स्वतन्त्र संश्लिष्ट पदार्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। रचना में भी उसी प्रकार विभिन्न विचारों, भावों और भाषायी उपादानों का योग होने पर भी उसको मधु की सी स्वायत्तता प्राप्त रहती है।

रचना की स्वातंत्र्यता को ठोस और स्थाई आधार प्रदान करनेवाले विद्वान प्लेटो हैं। प्लेटो विचार और अभिव्यक्ति के पूर्ण सामंजस्य के पक्ष में थे, इसलिए उन्होंने रचना में आवश्यक अन्विति (ओरगेनिक यूनिटी) की धारणा को प्रचलित किया। 'फाएन्टस' में प्लेटो ने कहा कि "प्रत्येक कलाकृति की रचना एक जीवित प्राणी की रचना के समान होनी चाहिए; जिसका निजी कलेवर हो; जिसमें सर और पैर हों; जिसका आरम्भ, मध्य और अन्त हो और जिसके सभी अवयव एक दूसरे के प्रति और सम्पूर्ण कृति के प्रति पूर्ण संगत हों।"¹ 'गोर्गियस' में भी प्लेटो ने इसी अवधारणा को व्यक्त करते हुए कहा कि "कलाकार अपनी कृति के सभी अंगों का विन्यास एक निश्चित क्रम में करता है, वह प्रत्येक अवयव को अन्य अवयवों की संगति में रखता है, और इस प्रकार वह एक नियमित एवं व्यवस्थित 'पूर्ण रचना' का निर्माण करता है।"² वस्तुतः प्लेटो ने सृष्टि की अन्य जैविक रचनाओं की तरह काव्य-रचना को भी निर्मित होते हुए अनुभूत किया और उसकी पूर्णता की कसौटी भी जैविक रचनाओं के अनुकूल ही निर्धारित की। प्लेटो की यह अवधारणा पाश्चात्य शैलीविज्ञान का मेरुदण्ड रही और इसीलिए यह आज तक भी उतनी ही आधारभूत रही है।

अरस्तू ने प्लेटो की काव्य-विषयक अन्यान्य अवधारणाओं का प्रतिरोध करते हुए भी रचना की स्वायत्तता और जैविक अवधारणा का न केवल समर्थन ही किया; बल्कि उसे पुष्ट भी किया है। उन्होंने रचना के विभिन्न अंगों में 'पूर्ण सामंजस्य', 'सर्वांगीण सामंजस्य' की वकालत की। वे वस्तु, पात्र, संवाद, भाषा आदि सभी तत्वों में एक साव्यविक एकात्व देखना चाहते थे, क्योंकि वे मानते थे कि सौन्दर्य का प्रधान उपादान है आकार और सहज क्रमपूर्ण सामंजस्य। प्लेटो ने वस्तु (Plot) के सन्दर्भ में कहा है कि "त्रासदी एक ऐसे कार्य की अनुकृति है जो समग्र एवं सम्पूर्ण हो।" किन्तु साथ ही उन्होंने एक विस्तार की, आयाम की भी आवश्यकता महसूस की है।³ लेकिन यह सन्तुलित विस्तार भी सामंजस्य से परे नहीं हो सकता।

सिसरो ने भी रचना में विचार और अभिव्यक्ति के सामंजस्य को पूर्णतः स्वीकारा है। यही नहीं, उन्होंने अपने विद्यार्थियों से रचना को विभिन्न भागों में विभाजित करके समीक्षा नहीं करने का भी निर्देश दिया है। उन्होंने रचना को उसकी सम्पूर्णता के साथ स्वीकारने और समीक्षा करने का प्रस्ताव किया है। इस दृष्टि से सिसरो आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री कोचे के पथ में ही पूर्वगामी ठहरते हैं और रचना की संश्लिष्टता के हामी माने जाते हैं।

1. उद्धृत : समीक्षालोक-भगीरथ दीक्षित, पृ. 177।

2. उद्धृत : समीक्षालोक-भगीरथ दीक्षित, पृ. 177।

3. अरस्तू का काव्यशास्त्र—अनुवादक डॉ. नगेन्द्र और डॉ. महेन्द्र चतुर्वेदी (दिल्ली, संवत् 2014), पृ. 22-23।

होरेस ने प्लेटो की तरह ही रचना को प्राकृतिक जीवों की शरीर-रचना के समान माना और कहा कि काव्य-शरीर की भी प्राकृतिक जीवों की तरह रचना होनी चाहिए अन्यथा काव्य ठीक उसी प्रकार अर्थहीन और बेहूदा होगा, जिस प्रकार रूग्ण व्यक्ति के स्वप्नों में बेसिर-पैर की वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं।¹ लॉजाइनस ने भी कहा कि किसी रचना के औदात्य का एक प्रमुख कारण मानव शरीर की रचना की ही भाँति उसके विभिन्न अंगों के निवेक्षण में है, जिनमें अलग-अलग रहने पर कोई विशेषता नहीं होती; किन्तु सब मिलकर समग्र और सम्पूर्ण शरीर की रचना करते हैं। इसी प्रकार उदात्त तत्त्वों को यदि एक दूसरे से अलग कर दिया जाए तो उनके साथ औदात्य भी इधर-उधर बिखर जाता है; किन्तु जब उन सबको मिलाकर एका-न्वित कर दिया जाता है तो वे अपनी वतुलता के कारण ही कर्ण-मधुर हो जाते हैं।² इस प्रकार होरेस एवं लॉजाइनस प्लेटो की अवधारणाओं का ही अनुगमन करते हैं।

रचना की स्वायत्तता और जैविकता की अभिजात्य अवधारणा पश्चिम के आधुनिक साहित्यशास्त्रियों में भी संरक्षित रही। इटली के औलो गियानो पराजियो ने कृति में आद्योपान्त एक सुष्ठु संगठन और आवयविक अन्विति की अवधारणा को समर्थन दिया। जॉर्ज पटनम ने भी अभिव्यक्ति के आडम्बर के विरोध में विचार और अभिव्यक्ति के सामंजस्य तथा आवयविक अन्विति को अनिवार्य माना। बोइलो कहते हैं कि एक कलाकृति में एक अद्भुत कला के द्वारा सभी अंगों के संयुक्त हो जाने पर ही हमें एक पूर्ण इकाई के दर्शन होते हैं। पोप ने कहा कि "किसी भी कलाकृति की सुष्ठुता से उसका शैली-तत्त्व पृथक् नहीं किया जा सकता, कारण कि सौन्दर्य उसके पृथक्-पृथक् अंग-प्रत्यंगों की सुडौलता में न होकर उन सबकी सम्मिलित शक्ति में होता है।" इस प्रकार पश्चिम के सभी नवशास्त्रवादी साहित्यशास्त्रियों ने आवयविक अन्विति की अभिजात्य अवधारणा को ही अपनाया है।

गेटे ने कला-प्रक्रिया को 'कम्पोजीशन' मानने से इन्कार कर दिया और कहा कि कला तो एक मानसिक सृष्टि होती है। सम्पूर्ण कृति की एक आत्मा होती है; उसका एक कार्य होता है, उसमें एक जीवन स्फुरित होता है। वे कला की पूर्णता और स्वायत्तता में विश्वास रखते थे, इसलिए उन्होंने कहा कि 'कलाकृति' ऐसी होनी चाहिए कि उसकी सुन्दरता को देखकर कहा जा सके कि 'यह जैसी है' उससे बढ़कर उत्कृष्ट कुछ नहीं हो सकती थी।

वाल्टर पेटर ने स्थापत्य-विषयक अवधारणा (Architectural Conception of work) का प्रतिपादन किया। वे मानते थे कि रचना के प्रत्येक अंग-उपांग में

1. मैकजॉर्ज ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म (वोल्यूम प्रथम) सम्पादक बी. राजन एवं ए. जी. जॉर्ज (1966) पृ. 96।

2. काव्य में उदात्त तत्त्व—डॉ. नगेन्द्र (1961), पृ. 23।

रचनाकार उसके कोष-अवयवों के प्रति भी जागरूक रहता है। इस प्रकार उसकी रचना का अन्तिम वाक्य भी पूर्ण उरसाह के साथ आरम्भिक वाक्य का समर्थन और उसके औचित्य का प्रतिपादन करता है।¹

रचना की स्वायत्तता और जैविकता की अवधारणा की चरम पराकाष्ठा वेनेदेशी क्रोचे में देखी जा सकती है। उन्होंने तो रचना में विभिन्न अवयवों की अन्विति को भी नहीं माना; बल्कि उसे एक कोशीय जीव की भाँति अवयवों की बहुलता अथवा अंगोपांगता से रहित स्वीकार किया, साथ ही आवयविक विश्लेषण को भी असंभव और अनावश्यक ठहरा दिया। यद्यपि प्लेटो-अरस्तू के समय से ही रचना में जैविक एकता की अवधारणा को मान्यता मिली हुई है; किन्तु उसका विश्लेषण करने के लिए विभिन्न अंग-उपांगों की कल्पना की जाती रही है। क्रोचे ने इस सब के विपरीत रचना को विश्लेषण और आलोचना से परे ठहरा दिया, रचना के विवेचन को असंभव घोषित कर दिया। क्रोचे की इस अवधारणा को पश्चिम में सैद्धान्तिक समर्थन तो प्राप्त हुआ; किन्तु साहित्यशास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से रचना का विवेचन-विश्लेषण भी जारी ही रहा।

टी० एस० इलियट ने रचना की स्वायत्तता के सम्बन्ध में यह कहा कि वह कवि की उन वैयक्तिक अनुभूतियों से भी मुक्त रहती है जो कि 'साधारणीकरण' को प्राप्त नहीं कर पाती। इसी सन्दर्भ में उन्होंने निवैयक्तता की अवधारणा प्रस्तुत करके रचना को रचना के स्तर पर एवं समीक्षा के स्तर पर पूर्वाग्रहमुक्त रखा तथा वस्तुनिष्ठ समीक्षा का प्रतिपादन किया।

आधुनिक शैलीवैज्ञानिकों में आर्कीबाल्ड हिल ने शैली-विश्लेषण में 'उपमान योजना' की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए उपमान-योजना को गठन (Structure) और बुनावट (Texture) दोनों स्तरों पर माना तथा उनमें परस्पर सम्बद्धता देखकर सम्पूर्ण रचना को 'एक' प्रतीक ठहराया।

इसी शैलीविज्ञान में 'संरचनावाद' विकसित हुआ जिसमें रचना को एक अन्वितिमयी सृष्टि कहा; किन्तु उनका विश्लेषण भी अंग-उपांगों की अवधारणा की सहायता के साथ बराबर जारी रहा। संरचनावाद में माना गया कि संरचना में विभिन्न घटकों की अवस्थिति तथा उनकी उपादेयता ही सौन्दर्य का मापदण्ड है। रूसी और चैक शैलीविज्ञान संरचना के विभिन्न घटकों की उपादेयता का ही विवेचन रहा है।

फ्रांसीसी शैलीवैज्ञानिक रोलैं बार्थेस ने रचना की जैविकता और संश्लिष्टता को प्याज की संरचना के समान माना। प्याज में गुठली और गुदादार फल की तरह कथ्य और कथन की द्वैतता नहीं होती; बल्कि प्याज की विभिन्न पतों, और केवल

पतों की तरह कथ्य और कथन की संश्लिष्ट एकरूपता होती है।¹ अतः रचना का विश्लेषण भी द्वैतता-रहित होना चाहिए। रचना की संश्लिष्टता का यह अपूर्व विश्लेषण है। तोदोरोव भी प्रत्येक कथन को अपने आप में 'विशिष्ट' मानते हैं—तथा उसका एक दूसरे से विचलन भी नहीं मानते।² इस प्रकार रचना की पूर्ण स्वायत्तता और स्वतन्त्रता में ही विश्वास प्रकट करते हैं।

मरे क्रियगर ने काव्य-भाषा को 'खिड़की का पारदर्शी शीशा' और 'दर्पण सैट' दोनों कहकर रचना को दर्पण के सैट की तरह स्वयं में ही एक पूर्ण दृश्य निर्मित करने के लिए सक्षम मान लिया है। इस प्रकार रचना अपना ही दृश्य-जगत् अर्थात् सन्दर्भ-जगत् का निर्माण करने में सक्षम होने से स्वायत्त और स्वतन्त्र कही जाती है।

रैने वैलेक एवं ऑस्टिन वारेन,³ एम० के० दाञ्जिगेर एवं डब्लू० एस० जॉन्सन,⁴ जी० हफ⁵ आर० जी० कॉलिड्वुड⁶ आदि विद्वानों की भी यही धारणा है कि साहित्य एक ऐसी सृष्टि है जो अपनी सत्ता के लिए अपने पर ही अवलम्बित है तथा जिसके अपने ही नियम हैं। वह स्वतः सम्पूर्ण संरचना है। वह स्वतः साध्य है। उसकी सोद्देश्यता की व्याख्या व्यावहारिक मोद्देश्यता की दृष्टि से नहीं की जा सकती। वह हमारे तटस्थ चिन्तन का विषय है।⁷

रचना की स्वायत्तता और जैविकता की पाश्चात्य अवधारणाओं की प्रमुख एवं संक्षिप्त प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. रचना मानव शरीर की तरह स्वतन्त्र और स्वायत्त होती है। उसमें मानव शरीर की जैविकता की तरह विभिन्न अवयवों की एकान्विति होती है।
2. रचना का सौन्दर्य विभिन्न अंगों के सामंजस्य और एकान्विति में ही रहता है।
3. शरीर-विज्ञान में शरीर का परिचय प्राप्त करने के लिए शरीर को विभिन्न अंगों में विभाजित करके विश्लेषित किया जाता है, उसी

1. स्टाइन एण्ड इट्स इमेज-रोलॉ वायेंस, संकलित, लिटरेरी स्टाइल : ए सिम्पोजियम, सम्पादक-सैमूर चैटमैन (1971), पृ. 10।

2. ए प्लेस ऑव स्टाइल इन स्ट्रक्चर—तोदोरोव, संकलित : लिटरेरी स्टाइल : ए सिम्पोजियम, सम्पादक-सैमूर चैटमैन (1971), पृ. 32।

3. गियरी ऑव लिटरेचर - रैने वैलेक एवं ऑस्टिन वारेन (1963), पंक्तिन पृ. 19 एवं 139।

4. एन इण्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिटरेचर-दाञ्जिगेर एवं जॉन्सन (1965) पृ. 1-17।

5. एन प्लेस ऑन क्रिटिसिज्म. जी. हफ (1966) पृ. 9-41।

6. आर हिस्ट्री एण्ड साइन्स डिफरेंट काइण्डज ऑव नोलेज ?—आर. जी. कॉलिड्वुड—माइण्ड (पत्रिका), वोल्यूम-39 (1922) पृ. 449-50।

7. उद्धृत : शैलीविज्ञान —डॉ. सुरेश कुमार (मैकमिलन, 1977), पृ. 7-8।

प्रकार रचना की 'एक' जैविकता को भी अनेक अंगों-उपांगों में विभाजित कर विवेचित किया जा सकता है।

4. ऋचे जैसे सौन्दर्यशास्त्रियों ने रचना की 'एकता', स्वायत्तता को दार्शनिक स्तर पर विवेचित किया तथा उसे अविश्लेष्य, अविवेच्य माना।
5. वैज्ञानिक संरचनावाद के विकसित होने पर भाषा का भी, और रचना का भी संरचनावादी विश्लेषण शुरू हुआ, जिसमें काव्य-रचना की संरचना और बुनावट का सूक्ष्म विश्लेषण शुरू हुआ; किन्तु रचना की स्वायत्तता की अवधारणा प्रतिष्ठित ही रही।
6. रचना की स्वायत्तता के विश्लेषण में रूप और कथन को विभाजित करके देखने के बजाय रचना के हर सूक्ष्म स्तर पर (प्याज की तरह) उसका विवेचन करने की अवधारणा भी विकसित हुई।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

भारतीय साहित्यशास्त्र में भरत मुनि ने ही नाट्यशास्त्र में रचना के सामंजस्य और उसके विभिन्न अंगों की संकल्पना प्रस्तुत कर दी थी। उन्होंने भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भावों का अलग-अलग विवेचन किया, किन्तु उसके 'संयोग' से ही रस की 'निष्पत्ति' मानी यह 'संयोग' की अवधारणा ही रचना-सौन्दर्य की रीढ़ है। इसलिए सौन्दर्य को घटकों में नहीं, घटकों के संयोजन में माना। इसी प्रकार काव्य के लक्षणों में 'शब्दार्थो सहितौ' में 'सहितौ' पद शब्द और अर्थ, रूप और भाव के सामंजस्य की ओर ही संकेत करता है। शब्दार्थ की सर्वत्र सहितता रचना को एक संश्लिष्ट सृष्टि के रूप में घोषित करती है।

भारतीय साहित्यशास्त्र पर भारतीय अद्वैतवादी दर्शन का गहरा प्रभाव रहा है, इसलिए दार्शनिक और तात्त्विक चिन्तन के स्तर पर रचना की अद्वैतता को तथा व्यावहारिक और प्रायोगिक स्तर पर उसकी द्वैतता को मान्यता प्राप्त हुई। साहित्यशास्त्र में काव्य के विवेचन के सन्दर्भ में आत्मा और शरीर की संकल्पना भी इसी अद्वैतवादी दर्शन की छाया में करली गयी। इसके अतिरिक्त कवि को प्रजापति ब्रह्मा के समकक्ष 'स्वयंभू' कह कर उसकी काव्य-सृष्टि को एक स्वायत्त, स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया गया।

व्यंग्यार्थ के अनुसंधान के प्रयास में सर्व प्रथम आनन्दवर्धन ने रचना के विभिन्न अंगों के सामंजस्य पर विचार प्रकट किया। उन्होंने अंगनामों के लावण्य को, दरियों के सौन्दर्य को पृथक् दिखाई देनेवाले समस्त अवयवों से भिन्न माना है। किन्तु यह निश्चित है कि वह उन अवयवों के अभाव में नहीं हो सकता। उसी प्रकार रचना को वस्तु, अलंकार, रस आदि अनेक भेदों से दिखाया जाता है; किन्तु वह इन

भेदों से अलग ही है।¹ इस प्रकार काव्यरस को विभिन्न काव्यांगों के संयोग से ही प्राप्त किया जा सकता है, यद्यपि वह इनसे परे ही प्रतीत होता है।

रचना की जैविकता और स्वायत्तता के सम्बन्ध में कुन्तक का विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट है। उन्होंने कहा है कि काव्य में अलंकार और अलंकार्य की अलग-अलग सत्ता नहीं है, उनकी समष्टि का नाम ही काव्य है। व्यष्टि का कोई महत्त्व नहीं है। परन्तु जिस प्रकार समुदाय के अन्तःपाती असत्य पदार्थों का भी कभी-कभी व्युत्पत्ति के लिए, शास्त्रों में विवेचन पाया जाता है—जैसे व्याकरण में पदों के अन्तर्गत प्रकृति का और वाक्यों के अन्तर्गत पदों का—उसी प्रकार काव्य में शब्द तथा अर्थ अलंकार्य और अलंकारों का विश्लेषण किया जाता है। अतः वास्तव में तो अव्यवहित समस्त समुदाय की काव्यता ही सत्य है।² कुन्तक की इस विवेचना में यद्यपि क्रोचे की सहजानुभूति और अभिव्यक्ति की अभिन्नता की अवधारणा से सामीप्य नजर आता है; किन्तु कुन्तक ने तो काव्य की संश्लिष्टता को स्वीकार करते हुए भी साहित्यशास्त्रीय अपेक्षाओं के अनुकूल व्यावहारिक दृष्टि से विश्लेषणात्मक पद्धति अपनायी है और रचना की वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक हर स्तर पर विवेचना की है। इस प्रकार कुन्तक रचना की स्वायत्तता और संश्लिष्टता को स्वीकारने के बावजूद उसका भाषावैज्ञानिक और शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं।

महिम भट्ट ने भी काव्य की मूल प्रकृति निर्विकल्पात्मक³ मानी है जिसमें शब्दार्थ का पूर्ण सह-सम्बन्ध रहता है। इसलिए रचना में जैविकता निहित रहती ही है। यह तो आलोचक ही है जो अपनी सविकल्पात्मक बुद्धि से काव्य का विवेचन-विश्लेषण करता है।

हिन्दी साहित्यशास्त्रियों में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता को एक अपूर्व रसायन⁴ कह कर उसे संश्लिष्ट संरचना माना। प्रसाद ने कुन्तक की तरह ही कहा कि “कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न संज्ञा नहीं है”,⁵ उनके यहाँ भी अलंकार्य और अलंकार एक ही हैं। दोनों का कारण आत्मा की मूल संकल्पात्मक अनुभूति ही है। पन्त भी अलंकारों को वाणी की सजावट नहीं, भावाभिव्यक्ति के विशिष्ट द्वार मानते हैं।⁶ नन्ददुलारे वाजपेयी भी अनुभूति और अभिव्यक्ति की संश्लिष्टता और अभिन्नता सूचित करते हैं।⁷

1. ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धन 1-4।
2. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-6, कारिका।
3. व्यक्तिविवेक-महिम भट्ट-2-114, 115 और 116।
4. रसज्ञ-रंजन—महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ. 17-20।
5. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, पृ. 43।
6. पल्लव (भूमिका)—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 29।
7. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 68।

समसामयिक हिन्दी साहित्यशास्त्रियों में अज्ञेय का कहना है कि 'कविता ही कवि का परम वक्तव्य है और वे कविता को कवि एवं अन्य भाषा-संसार के बीच एक स्वायत्त अस्तित्व प्रदान करते हैं। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी भाव और शिल्प की सम्पृक्ति¹ मानते हैं, इसलिए काव्य-भाषा के विश्लेषण को वे संश्लिष्ट प्रमेय का ही विश्लेषण मानते हैं। डॉ० नामवर सिंह कहते हैं कि 'रचना-कर्म सम्पन्न होने के बाद वह कवि-सहृदय-निरपेक्ष रूप में अस्तित्व ग्रहण करती है।'²

निर्मल वर्मा ने भी इसी सम्बन्ध में स्पष्ट मान्यता प्रकट की है कि एक बार सृजन प्रक्रिया के समाप्त हो जाने के बाद जिस कलाकृति का जन्म होता है वह अपने में सम्पूर्ण और अन्तिम है। उसे केवल उसी में निहित तत्त्वों के आधार पर आँका जा सकता है। (शब्द और स्मृति-निर्मल वर्मा)। डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव कहते हैं कि साहित्य 'शाब्दिक कला' (Verbal Art) है और कृति के रूप में साहित्यिक रचना, भाषा की अपनी सीमा में बँधी एक स्वनिष्ठ (Autonomous) इकाई। साहित्यिक कृति न केवल अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती है; अपितु स्वयं भाषा के भीतर ही अपना जन्म ग्रहण करती है।³ डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने भारतीय काव्य-दृष्टि पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि भारतीय काव्य-दृष्टि अन्तर्गठन पर बल देती है, इसीलिए वह सतही यथार्थ को महत्त्व न देकर शुद्ध और बाह्य प्रभावों से परिशोधित गणितीय यथार्थ पर बल देती है। उसमें निहित शब्दार्थ-व्यापार सबसे अधिक वस्तुरूप में यथार्थ रहता है। वस्तुतः शब्दार्थ-व्यापार का वस्तुरूप यथार्थ ही काव्य का यथार्थ है और वह निश्चय ही काव्येतर यथार्थ से विशिष्ट और भिन्न होता है। भारतीय साहित्यशास्त्र की यह दृष्टि रचना को एक स्वायत्त सृष्टि के रूप में ही घोषित करती है। इस प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र में तो सभी साहित्यशास्त्रियों ने काव्य-रचना को स्वायत्त मानकर ही साहित्य-समीक्षा की है; किन्तु अब कतिपय हिन्दी के समसामयिक साहित्यशास्त्रियों ने भी कृति को स्वनिष्ठ, स्वायत्त, पूर्ण और स्वयं में उद्देश्यपूर्ण स्वीकार करने लगे हैं। वस्तुतः शुद्ध और वैज्ञानिक आलोचना के लिए यह एक शुभ संकेत है।

भारतीय साहित्यशास्त्र की उपर्युक्त अवधारणाएँ संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं:—

1. भारतीय साहित्यशास्त्र अद्वैतवादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में रचना को सैद्धान्तिक और तात्त्विक दृष्टि से अद्वैतमयी तथा व्यावहारिक दृष्टि से द्वैतमयी सृष्टि मानता है।

1. हिन्दी नवलेखन—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० 188।

2. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (भूमिका)।

3. कविता के नये प्रतिमान—डॉ० नामवरसिंह, पृ० 108।

2. रचना का सौन्दर्य विभिन्न घटकों के 'संयोग' में है। यह संयोग अलंकार्य और अलंकार, शब्द और अर्थ, विभावादि सभी स्तरों पर विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से जहाँ तक रचना की स्वायत्तता और संश्लिष्टता का प्रश्न है, भारतीय साहित्यशास्त्र कोचे की अभिव्यञ्जनाविधायक अवधारणा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र में अलंकार और अलंकार्य का भेद इसलिए किया जाता है कि ऐसा करने से काव्य-सौन्दर्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है।¹
3. रचना कवि की निर्विकल्पात्मक सृष्टि है, अतः उसकी रचना-प्रक्रिया में ही 'घटकत्व' नहीं है। 'घटकत्व' का अनुसंधान तो साहित्यशास्त्री की विकल्पात्मक दृष्टि का ही परिणाम है।
4. काव्य-रचना वेद, इतिहास, व्याकरण आदि शास्त्रों से भिन्न उद्देश्य को लेकर होती है और उसमें भाषा का प्रकाय एवं उद्देश्य भी भिन्न ही होता है, इसलिए रचना की सृष्टि भी एक स्वतन्त्र, स्वायत्त होती है। उसका उद्देश्य और संदेश उसी में निहित रहता है। कवि को, और उसकी रचना को भारतीय चिन्तना ने प्रारम्भ से ही एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान कर दिया था, इसलिए उनकी स्वायत्तताओं पर अलग से और बार-बार बहस नहीं छिड़ी। इसीलिए भारतीय साहित्यशास्त्र की दृष्टि इस रूप में शुरू से ही स्पष्ट है कि वह काव्य का वस्तुनिष्ठ विवेचन करता है, सारे विवेचन को काव्य की परिधि में ही समेटता है तथा काव्य से बाहरी संदर्भों और मूल्यों की मदद नहीं लेता।
5. संस्कृत साहित्यशास्त्र से पूर्व संस्कृत का समृद्ध व्याकरण विकसित हो चुका था। संस्कृत व्याकरण में वाक्य को अखंड मानकर भी उसकी पदों में और पदों को प्रत्ययों आदि में खंडित करके विश्लेषण किया जा चुका था। संस्कृत साहित्यशास्त्र ने व्याकरण के दर्शन और विश्लेषण-पद्धति दोनों को अपनाकर ही, रचना को पूर्ण मानकर भी, उसका विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया। रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्त संस्कृत व्याकरण के प्रतिरूप पर ही आधारित हैं।

(इ) निष्कर्ष—उक्त विवेचन के आधार पर रचना की स्वायत्तता और जैविकता के सम्बन्ध में दोनों साहित्यशास्त्र निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

1. अलंकृतिकार्यमपीदृश्यं विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।

1. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र, दोनों ही, अपनी प्रारम्भिक अवधारणाओं में ही काव्य-रचना को एक स्वन्त्र सृष्टि मानते हैं। इसलिए उनका रचना के साथ व्यवहार वैसा ही है जैसा किसी प्राकृतिक जीव के साथ या स्वयं प्रकृति के साथ। पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों ने प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन से इस अवधारणा को प्राप्त किया होगा तो भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने अपनी गहन दार्शनिक मान्यताओं से इसे विकसित किया होगा। दोनों ही साहित्यशास्त्रों में रचना-सौन्दर्य को मानव शरीर के साथ तुलनीय समझकर उसे जैविकता के गुण से सम्पन्न माना है।
2. दोनों ही साहित्यशास्त्रों में रचना की समीक्षा के लिए उसमें विभिन्न घटकों की कल्पना की है। किन्तु काव्य-सौन्दर्य को घटकों की इकाई में नहीं माना; बल्कि उनके 'संयोग' में माना है। इस दृष्टि से घटकों का 'संयोजन' ही काव्य-सौन्दर्य का प्राणत्व है। नवीनता का जन्म भी मूलभूत तत्त्वों की नवीनता में नहीं होता, उनके 'संयोजन' की प्रकृति में होता है, और यही अवधारणा काव्य-रचना के सम्बन्ध में भी मान्य रही। सभी साहित्यशास्त्रियों ने रचना को 'एक' माना; किन्तु कौचे को छोड़कर उसको अंगों-उपांगों में विभाजित भी किया। वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक अनेक स्तरों की कल्पना की और हर स्तर पर काव्य-सौन्दर्य की प्रक्रिया को जाँचा-परखा। इसलिए रचना को स्वायत्त, सश्लिष्ट और जैविक मानते हुए भी उसकी भाषा का नव-नव विश्लेषण चलता रहा।
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रचना की स्वायत्तता पर नैतिकता के आक्रमण होते रहे और आधुनिक भारतीय साहित्यशास्त्र में भी रचना से बाहर के मूल्यों को रचना में ढूँढ़ने का प्रयास करके रचना की स्वायत्तता को तोड़ा जाता रहा; किन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र और आधुनिक पाश्चात्य शैलीविज्ञान ने रचना की स्वायत्तता को दृढ़ता के साथ स्वीकार किया है। अब समसामयिक भारतीय और हिन्दी साहित्यशास्त्रियों ने भी साहित्येतर समीक्षाओं को त्यागना शुरू कर दिया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र ने स्रष्टा-ब्रह्म के समान कवि की स्वतन्त्र भूमिका को तथा उसकी काव्य-सृष्टि की अद्वितीयता और स्वायत्तता को बहुत प्रारम्भ में ही आत्मसात कर लिया था, इसलिए समीक्षाएँ सही और निश्चित वृत्त में होती रहीं। आधुनिक पाश्चात्य शैली-विज्ञान भी अपनी भाषावैज्ञानिक और वैयाकरणिक प्रगति के साथ-साथ, एवं काव्येतर समीक्षाओं के खतरों तथा अवैज्ञानिकता को

समझते हुए, रचना को ही उसकी समीक्षा का परम वृत्त मानने लगा है। दोनों साहित्यशास्त्रों में यह सुखद दिशा-एकता दिखाई देती है।

4. उक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर भी पहुँचा जा सकता है कि भारतीय साहित्यशास्त्र ने रचना को उसके भाषाई व्यक्तित्व के रूप में अधिक स्पष्टता के साथ परखने का दीर्घकालीन अनुभव प्राप्त किया है। उसने काव्य-रचना को वेद, व्याकरण इतिहासादि अन्य भाषा-रचनाओं के बीच सर्वव्यपि विशिष्ट भाषा-संरचना के रूप में पहचान कर, उसका एक अपना चिह्न स्थापित किया है, इसलिए पाश्चात्य साहित्यशास्त्र काव्य-रचना की स्वायत्तता और जैविकता के सम्बन्ध में भी भारतीय साहित्यशास्त्र से अधिक परिपक्व और वैज्ञानिक अवधारणाओं को अपना सकता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र ने काव्य-रचना का काव्यात्मक रूप सिद्ध करने के लिए व्यापक भाषा-विश्लेषण किया है, वह आधुनिक पाश्चात्य शैलीवैज्ञानिकों के वर्तमान श्रम से ही अपेक्षाकृत अधिक सिद्धि दिलवा सकने की क्षमता रखता है।

सामान्य भाषा और काव्य-भाषा तथा रचना की स्वायत्तता और जैविकता की अवधारणाओं पर चर्चा करने के बाद; किन्तु शैली के स्वरूप-सम्बन्धी अवधारणाओं की चर्चा करने से पहले, शैली-विश्लेषण के सम्बन्ध में व्याप्त विभिन्न कोणों का अध्ययन कर लेना उपयुक्त होगा। क्योंकि कोणों के बदल जाने से शैली-सम्बन्धी अवधारणाओं में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः शैली-विश्लेषण में किसी प्रकार का भ्रम नहीं हो, इसलिए इस प्रसंग को पहले लिया जा रहा है।

(ग) शैली-विश्लेषण के विविध कोण

शैली रचना से जुड़ी रहती है और रचना जुड़ी रहती है रचनाकार से, सहृदय से, स्वयं के ही संरचना-वृत्त में और अपने से बाहर एक विशाल भाषा-पारावार से। इसलिए रचना की समीक्षा, और फिर शैली-विवेचना का विषय बहु-आयामी बन जाता है; अन्ततः जटिल भी बन जाता है। पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों में शैली को अनेक आयामों से ही परखने का प्रयास हुआ है। रचना से बाहर के भाषा-पारावार का सवाल सामान्य भाषा और काव्य-भाषा में विवेचित हो चुका है; किन्तु रचनाकार, सहृदय और संरचना-वृत्त के कोणों से रचना की शैली को विवेचित करने का प्रयत्न इस अध्याय-खण्ड में प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली को रचनाकार, रचना और सहृदय—इन तीनों ही बिन्दुओं से परखने का विमर्श जारी रहा है। कभी शैली में रचनाकार का व्यक्तित्व ढूँढ़ा गया है और शैली को स्वयं में एक 'चरित्र' माना है; कभी शैली की

कसौटी सहृदय को प्रभावित कर सकने की क्षमता में स्थापित की गई है, तो कभी उसे एक विशिष्ट भाषाई संरचनात्मक व्यवस्था के रूप में पाया है।

होमर ने स्वर्ण की ढाल की पीली पृष्ठभूमि में भी मिट्टी के काले रंग को पाकर 'कलाकार' के रचना-कौशल को ढूँढ़ा और शैली को रचनाकार से सम्बद्ध कर दिया। प्लेटो ने तो स्पष्ट ही कहा कि शैली काव्यकार के चरित्र का प्रतिबिम्ब है। प्लेटो नीतिवादी था, इसलिए रचनाकार के चरित्र और शैली को एकाकार रूप में देखने की ही उसकी दृष्टि बनी हुई थी।

अरस्तू ने साहित्य और शैली पर छाये नीति, धर्म, राजनीति आदि के कोहरे को साफ किया और उसे एक स्वतन्त्र क्षेत्र प्रदान किया। अरस्तू ने साहित्य का प्रधान गुण उसकी सृजनात्मकता में ढूँढ़ा और नीति-उपदेश की गौणता स्थापित की। इस प्रकार अरस्तू ने शैली की विवेचना रचनाकार से हटाकर उसकी 'संरचना' से सम्बद्ध कर दी और शैली के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण का सूत्रपात किया। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में अरस्तू की यह उद्धोषणा शैली-विवेचन से वस्तुनिष्ठ कोण का शिलान्यास ही है कि—“रीतिशास्त्र का कार्य प्रभावित करना उतना नहीं है, जितना प्रत्येक विषय में विद्यमान प्रभावक साधनों की खोज करना।”¹ त्रासदी, कामदी, महाकाव्य, कथानक, चरित्र, भाषा आदि विषयों पर शुद्ध साहित्यिक संरचना की दृष्टि से विचार करना शैली के वस्तुनिष्ठ विवेचन का ही परिचय देता है। परवर्ती पाश्चात्य साहित्यशास्त्र अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर ही अग्रसर होता रहा।

लॉजाइनस ऐसे साहित्यशास्त्री हैं जिन्होंने शैली-विवेचन को कवि, कृति एवं सहृदय—तीनों ही कोणों से जोड़ा और शैली की उदात्तता को 'महान आत्मा (रचनाकार की आत्मा) के स्वर,' उदात्त भाषा-विधान और सहृदयों को 'समाधि की स्थिति' तक पहुँचा सकने की प्रभावशालिता से सम्बद्ध किया। इस प्रकार लॉजाइनस का शैली-विवेचन शैली के सभी कोणों को समावृत्त कर लेता है।

सिसरो शैली की ध्वन्यात्मकता का वस्तुनिष्ठ विवेचन करते हुए भी उसकी कसौटी श्रोताओं पर पड़नेवाले प्रभाव में ही निर्धारित करते हैं।

आधुनिक साहित्यशास्त्रियों में नव्यशास्त्रवादियों का शैली-विवेचन के बारे में दृष्टिकोण रचना-केन्द्रित ही रहा; किन्तु गेटे, बुफों, शोपेनहावर, शेरेन, डडली आदि ने तथा स्वच्छन्दतावादियों ने, विशेषकर वर्डस्वर्थ ने कवि और उसके वस्तु-दर्शन को शैली का कारण मानकर रचनाकार-केन्द्रित विवेचन प्रारम्भ कर दिया। समसामयिक शैलीविज्ञान में जर्मन और स्पेनी स्कूल में कुछ विद्वानों ने (कार्ल फोस्लर आदि) कुछ समय तक शैली-विवेचन का लक्ष्य रचनाकार के मानस का अध्ययन

करना बना लिया; किन्तु आंग्ल-अमरीकी, रूसी-चैक और फ्रांसीसी धाराओं में शैली के रचना-केन्द्रित विवेचन की परम्परा ही स्थापित हुई।

टी. ई. ह्यूम, बनार्ड शाँ, डी. विवन्सी आदि पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों का दृष्टिकोण¹ शैली को सहृदय पर पड़नेवाले प्रभाव के संदर्भ में ही विवेचित करने का रहा है। फ्रांसीसी शैलीविज्ञान के विद्वान रिफातेग्रर ने शैली-विवेचन में सहृदय की भूमिका को बहुत महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि शैली की अनुभूति सहृदय के व्याप्टि-संदर्भ (Micro-Context) के आधार पर ही होती है।

यद्यपि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली को रचनाकार के संदर्भ में 'मनुष्य का पर्याय' (वुफो) तक भी घोषित किया गया है और सहृदय के संदर्भ में शैली को 'सहृदय को अभिभूत करने का साधन मात्र माना गया है' (टी. ई. ह्यूम); किन्तु पाश्चात्य चिन्तना का मूल स्वर और विशेष रूप से आधुनिक चिन्तना का मूल कार्य शैली का केवल रचना के संदर्भ में, वस्तुनिष्ठ विवेचन करना रहा है।

आधुनिक भाषाविज्ञान ने भाषा का संरचनावादी विश्लेषण प्रारम्भ किया और शैलीविज्ञान ने भी काव्य-भाषा के अध्ययन में उसी का अनुसरण किया है। ससूर और बाली ने इस संरचनावादी शैली-विवेचन का सूत्रपात किया, रूसी और चैक शैलीविज्ञान ने रूपवादी विश्लेषण के अन्तर्गत रचना की वस्तुनिष्ठ समीक्षा को ठोस आधार प्रदान किया। आंग्ल-अमरीकी शैलीविज्ञान की वस्तुनिष्ठा की पृष्ठभूमि तो इलियट और रिचर्ड्स पहले ही बना चुके थे, उसे रूसी रूपवाद के विद्वान रोमन याकोव्सन और हैलीडे लीच ने और भी पुष्ट कर दिया।

रिफातेग्रर कहते हैं कि कृति की शैली का अध्ययन करनेके लिए कृति में निहित 'सन्दर्भ' ही वास्तविक संदर्भ हैं। लिओ स्पेंजर कृति की आन्तरिक संरचना के अध्ययन को ही शैलीविज्ञान का लक्ष्य मानते हैं। रोबर्ट कुतियस का तो कहना है कि "एक अकेले पाठ के विषय में जो हमें निश्चित कोटि की थोड़ी-सी भी जानकारी मिलती है, वह प्रणालियों की समस्त सैद्धान्तिक चर्चाओं से अधिक महत्वपूर्ण है।" उलरिख लिओ कृति की अन्तर्वाक्यीय व्याख्या (Inter-linear interpretation) को ही शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण मानते हैं। आरबाख का शैलीविज्ञान भी पाठ का संरचनात्मक भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण करता है। रोमन याकोव्सन शैली के अध्ययन को भाषा-विज्ञान की परिधि में ही समेट लेते हैं और उसका वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। स्पेनी शैलीवैज्ञानिक अमादो आलॉसो कृति के स्वनिर्णय (लय, छंद आदि) शब्द-गुण, वाक्यगत विश्लेषण को ही शैलीविज्ञान का विषय मानते हैं। संक्षेप में, पाश्चात्य शैलीविज्ञान की सभी चिन्तन-धाराएँ कृति-केन्द्रित शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण को लेकर ही चल रही हैं।

1. दूसरे अध्याय में शैली की 'सहृदय-केन्द्रित परिभाषाएँ, नामक शीर्षक में इनके दृष्टिकोण को देखा जा सकता है।

शैली के सम्बन्ध में पाश्चात्य शैलीविज्ञान के उक्त विवेचन को निम्नलिखित बिन्दुओं में संक्षिप्त कर सकते हैं—

1. शैली को रचनाकार से सम्बद्ध करके देखा गया है। शैली में रचनाकार के व्यक्तित्व की छाप ढूँढ़ी है। “मनुष्य ही शैली है” कहकर वैयक्तिकता को ही शैली की आत्मा घोषित किया है।
2. शैली की कसौटी और उसके लक्ष्य को सहृदय को प्रभावित करने में देखा है; किन्तु आधुनिक पाश्चात्य शैली-विज्ञान में सहृदय के अस्तित्व को अपेक्षित महत्त्व नहीं मिला है।
3. शैली-विश्लेषण का आधारभूत कोण कृति की संरचना ही है। शैली की आधुनिक चर्चा कृति की संरचना के विश्लेषण के इर्द-गिर्द ही रही है।
4. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली को कृति-केन्द्रित मानने एवं उसकी संरचना का वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक विश्लेषण करने की भोंक में रचनाकार की प्रतिभा तथा सहृदय की प्रतिभा को अपेक्षित महत्त्व नहीं मिल पाया है। शैली-विवेचन में वस्तुनिष्ठता का यह प्रति-आग्रह शैली-विवेचन को अपूर्ण बनाए हुए है तथा रचने वाले को जैसे विशुद्ध साहित्य-शास्त्रियों के लिए चिन्ता का विषय बना हुआ है। यद्यपि रिफातेअर जैसे शैलीवैज्ञानिक शैली को सहृदय के सन्दर्भ में भी विवेचित करने का प्रयास कर रहे हैं।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

भारतीय साहित्यशास्त्र में भी रचनाकार, सहृदय और कृति की संरचना-तीनों को ही केन्द्र मानकर शैली का विश्लेषण किया गया है। ऋग्वेद की शैली-विषयक धारणाओं के अनुसार गीत को भद्र, नव्य, सुकृत (सुरचित), कृत से प्रेरित (5, 29, 15 और 6, 36, 1) ‘अभ्राद् वृष्टि’ (7, 94, 1) और सजे हुए विजयी अश्व के समान (1, 130, 6,) एवं ‘सुवृत्ति’ होना चाहिए; ताकि वह देवताओं के हृदय को स्पर्श कर सके। इसमें गीत की सुरचना के उद्देश्य और उसकी कसौटी को सहृदय (देवता) के हृदय को स्पर्श करने में माना है। रचना के सम्बन्ध में यह धारणा संस्कृत में पं. जगन्नाथ तक चलती रही। दण्डी ने रचना को ‘इष्ट’¹ अर्थवाली माना; वामन ने रचना की उत्कृष्टता सहृदयों को कर्णगोचर होकर उनके चित्त को आह्लादित करनेवाली² और कुन्तक ने काव्य-सर्मज्ञों के लिए आह्लादक³ माना। आनन्द-

1. काव्यादर्श—दण्डी, 1, 10, 2।

2. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन, 1-2-21।

3. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-7।

वर्धन लिखते हैं कि किसी भी शब्दार्थ-युग्म का काव्यत्व सहृदयहृदयात्हादक होने में है।¹

महिम भट्ट ने तो शैली का बोध सहृदय की 'अनुमान-क्षमता' पर निर्भर माना। वे कहते हैं कि अनुमान-बोध में अभ्यस्त सहृदयों को शैली का बोध शीघ्र ही हो जाता है। विश्वनाथ ने तो काव्य-लक्षण में ही वाक्य को 'रसात्मकम्' माना जिसका बोध सहृदयपरक ही होगा। पं. जगन्नाथ ने भी काव्य-लक्षण में उसी शब्द को काव्य माना, जो 'रमणीय' अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला होता है। निश्चय ही यह रमणीयता सहृदय से जुड़ी हुई है।

सहृदय-केन्द्रित शैली-विवेचन को लेकर भारतीय काव्यशास्त्र में छिड़ी महत्त्व-पूर्ण बहस भारत के रस-सूत्र की व्याख्या के रूप में जानी जाती है जिसकी परा-काष्ठा भट्टनायक प्रतिपादित और अभिनवगुप्त द्वारा संवर्द्धित 'साधारणीकरण' की अवधारणा में हुई। 'साधारणीकरण' का सारा प्रसंग रचना और सहृदय के सम्बन्ध का विश्लेषण करता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र प्रारम्भ से ही प्रतिभा के दो भेद—कारयित्री (कवि-प्रतिभा) और भावयित्री (सहृदय-समीक्षक प्रतिभा)—मानकर चलता है। साधारणीकरण में कृति का भावयित्री प्रतिभा के द्वारा भावन की प्रक्रिया का अन्वेषण है। इसमें सहृदय के उस मनोविज्ञान का उद्घाटन है जो कृति के भावन में सक्रिय रहता है। यही नहीं, 'साधारणीकरण' के आधार पर कृति की उसी शैली को प्रामाणिकता प्राप्त हुई है जिसका भावन हो सकता हो। शैली की कसौटी रचना का साधारणीकरण है। और इसी बिन्दु से रचना की ओर, यहाँ तक की रचना की ओर साहित्यशास्त्रीय यात्रा प्रारंभ की गई है। साधारणीकरण का प्रसंग भारतीय साहित्यशास्त्र में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व साहित्यशास्त्र में असाधारण है एक महान उपलब्धि है। शैली-विश्लेषण में सहृदय को इतनी गूढ़ महत्ता भारतीय साहित्यशास्त्र में ही प्राप्त हुई है।

हिन्दी साहित्यशास्त्र में कृति और सहृदय के सम्बन्ध को रामचन्द्र शुक्ल ने 'अपनी' सूक्त वृक्ष से पुनः विवेचित किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।' यहाँ शुक्लजी के 'साधारणीकरण' की सीमाओं को द्योतित करना विषयान्तर होगा; मुख्य तथ्य तो यह है कि शुक्लजी ने शैली के सम्बन्ध में सहृदय-केन्द्रित अवधारणा को अपनाया।

अज्ञेय मानते हैं कि "हम सभी में कवित्व की अर्हता है, बल्कि उसी के सहारे

1. सहृदयहृदयात्हादिक शब्दार्थमयत्मेव काव्यलक्षणम्।

तो कविता हम तक पहुँचती है।¹ डॉ. नामवर सिंह कहते हैं कि “.... यह अनुभव सिद्ध सत्य है कि अपनी वस्तुनिष्ठ सत्ता के बावजूद प्रत्येक कविता ग्रहण की प्रक्रिया में कुछ-न-कुछ सहृदय-सापेक्ष होती है”² इसी प्रकार बहुत से साहित्यशास्त्रियों के बहुत से विचार हैं जो कृति की समीक्षा में सहृदय को केन्द्र में मानकर चलते हैं।

जहाँ तक भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली को रचनाकार के सन्दर्भ में विवेचित करने का प्रश्न है, यह परम्परा भी संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रारम्भ से ही पाई जाती है। काव्य के हेतुओं में प्रतिभा (कवि-प्रतिभा-कारयित्री), अग्न्यास एवं व्युत्पत्ति में सर्वाधिक महत्त्व कवि-प्रतिभा को ही प्राप्त है। दण्डी ने ‘मार्ग-विवेचन’ में, जो कि शैली-विवेचन ही है, कहा है कि—“मार्गों में अवान्तर प्रभेद कवि-भेद से अनन्त हैं’ उनका वर्णन असंभव है।”³ इसी प्रकार की धारणा कुन्तक भी रखते हैं। वे तो अपने काव्य लक्षण में ही काव्य को ‘कवि-व्यापार’ कहते हैं। उनके अनुसार प्रतिभा के तनिक स्पर्श से वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्ध-विन्यास में ताजगी और स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। कवि-प्रतिभा ही कवि-कर्म की निर्धारिका होती है। मार्गों की अनन्तता के बारे में ये कहते हैं कि ‘कवि स्वभावों के अनन्त होने के कारण मार्गों का भी अनन्तता को प्राप्त होना अनिवार्य है।’⁴ इस प्रकार मार्गों की अनन्तता की अवधारणा को कवि-प्रतिभा से जोड़कर शैली-विश्लेषण में रचनाकार की भूमिका को महत्त्व प्रदान किया गया है।

आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है कि ‘विशेष प्रतिभाशाली महात्माओं (महाकवियों) की इस प्रकार की (व्यंग्य से प्रकाशमान पदों-युक्त) रचनाशैलियाँ बहुतायत से पायी जाती हैं।’⁵ “यदि कवि में प्रतिभा-गुण हो तो ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के आश्रय से काव्य के (वर्णनीय, रमणीय) अर्थों की कमी समाप्त ही नहीं हो सकती है।”⁶ इस प्रकार रचना में शैली-वैभिन्न्य कवि-प्रतिभा की ही देन है, अतः शैली-विश्लेषण प्रकारान्तर से एक प्रतिभा का ही विदोहन सिद्ध होता है।

हिन्दी साहित्यशास्त्रियों में भी संस्कृत साहित्यशास्त्रीय अवधारणाओं का विरोध नहीं हुआ; बल्कि मनोवैज्ञानिक समीक्षा में रचना के माध्यम से कवि की प्रतिभा का विश्लेषण करने का प्रयास ही हुआ! किन्तु मनोवैज्ञानिक समीक्षा की

1. नया प्रतीक (मई, 1977), पृ. 19।

2. कविता के नये प्रतिमान—डॉ. नामवरसिंह, पृ. 108।

3. काव्यादर्श—दण्डी, 1-101 एवं 102।

4. वक्रोक्तिजीवितम्-कुन्तक, 1-24।

5. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 3—16 कारिका।

6. वही, 4—6।

विवेचना यहाँ अवान्तर है, क्योंकि उसमें रचना की शैली की वस्तुनिष्ठ विवेचना न होकर उसमें व्यक्ति, विचारधाराओं, वादों और मूल्यों का ही विश्लेषण हुआ है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में सहृदय-केन्द्रित और कवि-केन्द्रित शैली-विवेचना को उपेक्षित नहीं रखा गया और उसे रचना-केन्द्रित समीक्षा करने में सदैव एक प्रस्थापित अवधारणा के रूप में मान्य किया गया। किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली-विश्लेषण का कोण प्रधानतः रचना-केन्द्रित ही रहा और रचना में भी भाषा-केन्द्रित ही।

ऋग्वेदिक काल में ही काव्य को शिल्पित-सृष्टि के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी। एक ऋषि-परिवार की शिल्प-परम्परा का उसके अनुगामियों ने निर्वाह किया। भरत का 'नाट्यशास्त्र' तो कृति-केन्द्रित समीक्षा का आधारभूत और व्यापक ग्रन्थ है। उसमें रचना-विश्लेषण की पद्धति पूर्णतः वस्तुनिष्ठ है। भरत के बाद विकसित समस्त संस्कृत साहित्यशास्त्र 'शब्द और अर्थ' के विश्लेषण में ही लगा रहा। यह अवश्य हुआ कि 'शब्दार्थ' के 'व्यवस्थित', 'सहित', 'सालंकारी' या 'आल्हादिकारक', 'मनोहर', 'रमणीयार्थप्रतिपादक', 'रसात्मक' आदि विशेषण लगाये जाते रहे; किन्तु साहित्य-शास्त्रीय विवेचन की धुरी शब्दार्थ से परे नहीं गयी। भामह ने अलंकारों का विवेचन किया; दण्डी और वामन ने गुणों को और सम्मिलित कर लिया; आनन्दवर्धन ने विभिन्न अर्थों एवं कवि के विभिन्न अनुभवों (वस्तु, अलंकार, रस) की संकल्पना के साथ भाषा का ही विश्लेषण प्रस्तुत किया। कुन्तक ने वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक की वक्रता को लेकर काव्य-रचना के समस्त भाषाई घटकों का वस्तुवादी विवेचन प्रस्तुत किया। महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि का विवेचन भी काव्य-भाषा के विश्लेषण को लेकर ही रहा है। इस प्रकार समस्त संस्कृत साहित्यशास्त्र अपनी अनेकानेक मत-विभिन्नताओं के बावजूद एक स्वर से शैली का भाषा-केन्द्रित विवेचन करता है। अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस, औचित्य आदि सभी सिद्धान्तों की अवधारणाएँ रचना के संरचना सन्दर्भों में ही विकसित हुई हैं, इसलिए संस्कृत साहित्यशास्त्र विशुद्धतः रचना की शैली का ही शास्त्र है।

भारतीय साहित्यशास्त्र की रचना-केन्द्रकता के साथ-साथ एक और प्रकृति यह रही है कि यह न केवल रचना की भाषा का ही विश्लेषण करता है; बल्कि रचना के सम्पूर्ण संरचना-विधान को भी विवेचित करता है। इसीलिए इसमें वर्ण से लेकर वाक्य तक की विविधता तो है ही, वाक्य से परे प्रकरण और प्रबन्ध तक का भी विवेचन है। इसलिए संस्कृत साहित्यशास्त्र काव्य-भाषा का ही शास्त्र नहीं, काव्य-शिल्प का भी शास्त्र है जिसमें भाषा-शिल्प भी समाहित हो जाता है। पश्चिमी साहित्यशास्त्र आधुनिक भाषाविज्ञान की बैसाखियों के सहारे अब वाक्य-विश्लेषण तक ही पहुँच सका है, वाक्य से परे के घटकों की मंजिल उसे अभी प्राप्त करनी है, यद्यपि इस ओर उसने अपना प्रयाण शुरू कर दिया है।

हिन्दी साहित्यशास्त्र शैली की रचना-केन्द्रित समीक्षा में अत्यन्त पिछड़ा रहा है। वह आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही साहित्येतर वादों से इतना आक्रान्त रहा है कि वह अपने वृत्त से परे जाकर मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शन आदि के क्षेत्र में साहित्य को साहित्येतर कुशलताओं का निरर्थक प्रमाण-पत्र दिलवाने का व्यर्थ श्रम करता रहा। अतः उसमें अपनी साहित्यिकता की उपेक्षा के मूल्य पर ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से सम्पर्क साधने की अति उत्साही या कुण्ठाग्रस्त या भ्रमित ललक बराबर बनी रही। इसलिए वह रचना-केन्द्रित भी कम ही रहा और भाषा-केन्द्रित तो बहुत ही कम। संयोग से अब वह अपनी धुरी पर लौट रहा है। अज्ञेय, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश आदि के कतिपय प्रयासों में रचना-केन्द्रित समीक्षा की महत्त्व प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, डॉ. कृपाशंकर सिंह, डॉ. सुरेश कुमार, डॉ. कृष्णकुमार शर्मा आदि के ग्रन्थों में शैली-विश्लेषण का रचना-केन्द्रित स्वरूप और रचना का भाषायी विवेचन प्राप्त हुआ है।

इस प्रसंग में भारतीय साहित्यशास्त्र की प्रमुख अवधारणाओं को निम्नलिखित प्रकार से बिन्दुवत् प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. रचना को कवि की कारयित्री प्रतिभा का परिणाम माना गया है। अतः रचना का समस्त संरचना-विधान स्वतः रचनाकार से जुड़ जाता है। रचना में व्याप्त शैली रचनाकार का ही प्रतिबिम्ब है। कुन्तक का तो मार्ग (शैली)—विभाजन भी कवि-प्रतिभा पर ही आधृत है।
2. रचना-सौन्दर्य की कसौटी सहृदय की हृदयाल्हादकता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के अभाव में रचना सहृदय में रसोद्रेक करने में सफल नहीं हो सकती। अतः सहृदय के लिए काव्य के समस्त व्यापार का साधारणीकृत हो जाना ही शैली की सफलता है।
3. शैली को रचनाकार की प्रतिभा का परिणाम और सहृदय की आल्हादिता के निमित्त माना जाकर भी शैली का विश्लेषण उसके संरचना-मूलक घटकों के आधार पर ही किया गया। संस्कृत साहित्यशास्त्र की सभी प्रमुख अवधारणाएँ शैली के वस्तुगत विश्लेषण को लेकर ही हैं। रस-सिद्धान्त भी ध्वनि-सिद्धान्त के संस्पर्श से वस्तुगत विश्लेषण को प्राप्त हो सका है।
4. संस्कृत साहित्यशास्त्र का शैली-विश्लेषण एक साथ ही रचनाकार, रचना और सहृदय—तीनों के क्षेत्रों और भूमिकाओं को समझ कर चलता है, अतः उन्हें परस्पर सम्बद्ध देखता है। उसे इन तीनों कोणों में कोई अन्तर्विरोध नजर नहीं आता।

5. हिन्दी का आधुनिक संरचना-विधान—भाषा-विधान साहित्यशास्त्र रचना-केन्द्रित और रचना के संरचना-विधान—भाषा-विधान की धुरी को त्याग कर संरचना से इतर और साहित्य से इतर क्षेत्रों में भटकता रहा; किन्तु विगत एक दशक से उसमें पुनः कृति-केन्द्रित और भाषा-केन्द्रित होने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस पुनरावर्तन में समसामयिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की प्रेरणा का प्रमुख योग है।

(इ) निष्कर्ष—शैली-विश्लेषण के विविध कोणों को लेकर पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में विकसित अवधारणाओं का अलग-अलग विवेचन करने के बाद हम उनकी तुलना को लेकर निम्नलिखित निष्कर्षों को प्राप्त होते हैं :—

1. पाश्चात्य और भारतीय, दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शैली की संरचना के कारण रूप में रचनाकार की प्रतिभा को ही महत्ता प्राप्त हुई। शैली मात्र शिल्प नहीं है, उसमें गत्यात्मक नवीनता रहती है, जो कि प्रतिभा की ही देन हो सकती है। इसलिए शैली-विश्लेषण के सन्दर्भ में रचनाकार को कहीं भी नहीं भुलाया गया है।
2. सहृदय को ही शैली की सफलता की आत्यन्तिक कसौटी माना गया है। शैली की सफलता सहृदय की आह्लादकता में ही है। प्लेटो, अरस्तु, लॉजाइनस, आनन्दवर्धन, कुन्तक, जगन्नाथ आदि सभी साहित्यशास्त्री शैली को सहृदय-सापेक्ष मानकर ही चलते हैं। यद्यपि सहृदय की योग्यता, शैली के सम्बन्ध में उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन और भावयित्री प्रतिभा की शोध भारतीय साहित्यशास्त्र में अधिक व्यवस्थित ढंग से हो सकी है; अतः इस क्षेत्र में यह साहित्यशास्त्र अधिक समृद्ध और वैज्ञानिक रहा है।
3. दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शैली—विश्लेषण मुख्यतः रचना-केन्द्रित ही रहा। यद्यपि दोनों ही साहित्यशास्त्रों में ऐसे युग भी आये हैं, जब साहित्यशास्त्रीय अवधारणाओं के नाम पर असाहित्यिक मान्यताओं को स्थापित किया गया; किन्तु दोनों ही शास्त्रों का मूल स्वर तो रचना-केन्द्रित ही रहा। दोनों ही साहित्यशास्त्रों ने रचना के शिल्प-विधान का प्रयास किया; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र भाषा-विश्लेषण एवं भाषेतर उपादानों के विश्लेषण में अधिक व्यवस्थित और शैली-वैज्ञानिक रह सका है। इसीलिए संस्कृत साहित्यशास्त्र आधुनिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र को अधिक वैज्ञानिक बना सकने की सामर्थ्य रखता है।
4. भारतीय साहित्यशास्त्र में रचनाकार, रचना और सहृदय—इन तीनों बिन्दुओं को परस्पर संयोजित मानकर एक सम्पूर्ण 'काव्य-वृत्त'

(पौयटिक सर्किट) की अवधारणा प्रचलित रही है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त कहते हैं कि—“उसी कविगत साधारणीभूत संविन्मूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता है और वही संवित् वास्तव में रस है।....इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस है।....उससे वृक्षस्थानीय काव्य उत्पन्न होता है। उसमें पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमें फलस्थानीय सामाजिक का रसा-स्वादन होता है।”¹ इस प्रकार अभिनवगुप्त ‘रस’ के लिए कवि, काव्य और सहृदय—तीनों को माध्यम मानते हैं। तीनों के संयोग से ही ‘रस-प्रक्रिया’ पूर्ण होती है। उक्त अवधारणा प्रकारान्तर से शैली-विश्लेषण में तीनों ही कोणों को समाहित कर लेती है। वस्तुतः रचनाकार तो रचना के नेपथ्य में चला जाता है और सहृदय समीक्षक के नेपथ्य में। इसलिए सामने काव्य रह जाता है—भाषा के शरीर को लिए हुए। अस्तु, काव्य-वृत्त में तीनों बिन्दुओं का अस्तित्व होने के बावजूद मुख्यतः रचना और उसकी संरचना का ही विश्लेषण होता है।

संक्षेप में, शैली-विश्लेषण में जब कवि और सहृदय की दोनों प्रतिभाएँ संयुक्त होती हैं तभी रचना, ‘जीवन’ से प्रभावित होती है। शैली का विश्लेषण इन दोनों प्रतिभाओं के जुड़ाव की स्थिति में ही पूर्ण हो सकता है। आधुनिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र को अभी इसे अच्छी तरह हृदयंगम करना है।

पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली-विश्लेषण के विविध कोणों का अध्ययन कर लेने के बाद, अब इस स्थिति में पहुँचा जा चुका है कि इन साहित्यशास्त्रों में शैली की ‘प्रकृति’ का विवेचन किया जा सके। शैली की प्रकृति के अन्तर्गत उसका सर्वप्रथम गुण ‘व्यक्ति-विशिष्टता’ उभर कर आता है। देखना यह है कि दोनों साहित्यशास्त्रों में इस सम्बन्ध में क्या अवधारणायें विद्यमान रही हैं।

(घ) शैली : रचनाकार-वैशिष्ट्य

रचना में वे समस्त विशेषताएँ, जो रचनाकार के निजी व्यक्तित्व की झलक देती हैं, रचनाकार-विशेष की पहचान करवाती हैं, शैली के नाम से जानी जाती हैं। इस प्रकार की अवधारणा पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों में प्रारम्भ से ही रही है। यहाँ इसी अवधारणा के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

रचनाकार का वैशिष्ट्य सिद्ध करनेवाली रचनागत प्रवृत्तियों को शैली के रूप में परिभाषित किए जाने की प्रवृत्ति पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में प्लेटो के समय से ही मिलती है। प्लेटो ने माना कि “शैली काव्यकार के चरित्र का प्रतिबिम्ब है।” इस

प्रकार रचना में रचनाकार के चरित्र को खोज सकने में ही शैली का विश्लेषण निर्धारित हुआ। अरस्तू ने माना कि “क्षोभ और क्रोध का स्वयं अनुभव करनेवाला कवि ही पात्रगत क्षोभ और क्रोध को जीवन्त रूप में अभिव्यक्त कर सकता है। अतः काव्य-सृजन के लिए कवि में प्रकृतितत्त्व प्रतिभा अथवा ईप्सु विक्षेप आवश्यक है।”¹ यहाँ अरस्तू काव्य में भावों के चित्रण को प्रकारान्तर से कवि-स्वभाव की अभिव्यक्ति के रूप में ही देखते हैं। उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है कि “लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार काव्य-धारा दो दिशाओं में विभक्त हो गई। गम्भीरचेता लेखकों ने उदात्त-व्यापारों और सज्जनों के क्रियाकलापों का अनुकरण किया। जो क्षुद्र वृत्ति के थे, उन्होंने अधमजनों के कार्यों का अनुकरण किया और जिस प्रकार प्रथम वर्ग के लेखकों ने देव-सूक्त और यशस्वी पुरुषों की प्रशस्तियाँ लिखीं, उसी प्रकार इन लोगों ने पहले-पहल व्यंग्य-काव्य की रचना की।”² यहाँ अरस्तू की काव्य-धारा की दो दिशाएँ दो भिन्न काव्य-शैलियाँ ही हैं, जिनका निर्धारण कवि-स्वभाव से होता है और जिसकी तुलना कुन्तक द्वारा कवि-स्वभाव के आधार पर प्रस्तावित काव्य-मार्ग की अवधारणा से की जा सकती है। अरस्तू ने काव्य में ‘सर्जनात्मकता’ की प्रतिष्ठा करके भी रचनाकार की प्रतिभा को ही उसका कारण माना है।

सिसरो के अनुसार अभिव्यक्ति प्रतिभा से ही सम्बद्ध है।³ मनुष्यों की भिन्न अभिरुचियों और प्रवृत्तियों के कारण शैली में भी भिन्नता उपस्थित होती है।⁴ डायोनीसियस तो स्पष्ट कहते हैं कि “एक कवि दूसरे कवि से इसी कारण भिन्न होता है कि उनकी शब्द-योजना की रीति परस्पर भिन्न होती है और वे अलग-अलग ढंग से अपने शब्दों को व्यवस्थित करते हैं।”⁵ डेमेट्रियस भी शैली में लेखक के चरित्र का विम्ब देखते हैं। जॉर्ज पटनम की अवधारणा भी शैली में रचनाकार के व्यक्तित्व की छाया देखने में है। वेन जॉन्सन कहते हैं कि चूँकि भाषा व्यक्ति की अन्तरात्मा से फूट पड़ती है, इसलिए लेखक का व्यक्तित्व उसके दर्पण में भलीभाँति प्रतिफलित होता रहता है।

गेटे ने तो स्पष्ट ही कहा है कि किसी लेखक की शैली उसके मस्तिष्क की सच्ची प्रतिलिपि है। उन्हीं की परम्परा में स्वच्छन्दतावादियों में वर्डस्वर्थ ने यह धारणा अपनायी कि शैली शिल्प-कौशल नहीं है, वह तो कवि के वस्तु-दर्शन की प्रकृति से उत्पन्न होती है। वॉल्टर पेटर तो शैली में रचनाकार की आत्मा का प्रकाशन मानते हैं। शैली के इसी स्वरूप की वजह से पाठक कृति में कृतिकार को पहचानने

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र—अनुवादक—डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. महेन्द्र चतुर्वेदी पृ. 46।

2. वही, पृ. 14-15।

3. ओरेटर—(तृतीय भाग)—सिसरो, पृ. 142।

4. उद्धृत : शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 42।

5. वही, पृ. 50।

का अनुभव प्राप्त करता है। हडसन तो शैली को मूलतः एक वैयक्तिक गुण मानते हैं। शोपेनहावर ने भी शैली को आत्मा का मुद्राकृतिशास्त्र कहा है।¹ एडमण्ड गास कहते हैं कि शैली लेखक का मानस-चित्र है। शेरन कहते हैं कि “यदि भाव सोना है तो शैली मुहर है” जो इसे प्रचलन योग्य बनाता है और बताता है कि इसे किस राजा ने मुद्रित किया है। जे. ब्राउन लिखते हैं कि लेखक की शैली उसकी उतनी ही अपनी होती है जितनी कि उसकी अंगुलियों की छाप।

हर्वट रीड मानते हैं कि शैली के निर्माण में रचनाकार की वैयक्तिक ईमानदारी ही प्रमुख है। उसकी ईमानदारी की वैयक्तिकता शैली को व्यक्तित्व प्रदान करती है। बानमी डब्रो (मोडर्न इंग्लिश प्रोजेक्टाइल-1934) मानते हैं कि जब हम कोई पुस्तक पढ़ते हैं, उस समय जोर से न पढ़ने पर भी हम किसी की बोली के प्रति सजग होते हैं, किसी की आवाज सुनते होते हैं और हमें लगता है कि कोई हमसे बोल रहा है, हमें कुछ कह रहा है, और हमारे मनोवेगों को प्ररोचित कर रहा है। इसी आवाज को हम सामान्यतः शैली कहते हैं। क्रोचे ने तो लेखक के प्रातिभ ज्ञान (Intuitive knowledge) और अभिव्यंजना को एक ही माना है, और वह विशिष्ट ही होती है उसकी तुलना या व्याख्या नहीं हो सकती। क्रोचे के अनुसार तो न केवल लेखक का अपना व्यक्तित्व होता है, बल्कि प्रत्येक अभिव्यंजना का भी अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है।

टी. एस. इलियट द्वारा निर्वैयक्तिकता की अवधारणा प्रतिपादित करने का आशय यह नहीं है कि रचना में लेखक का व्यक्ति-वैशिष्ट्य नहीं होता है। उनके अनुसार प्रौढ़ कलाकार अपने अनुभव की सम्पूर्ण विशिष्टता को उसके द्वारा सामान्य प्रतीक प्रस्तुत करने के लिए बनाए रखता है। उन्होंने यीट्स की कविताओं में अपूर्व व्यक्तित्व (Unique Personality) को ढूँढ़ा है, यही नहीं, सराहा भी है। वे यह भी विश्वास करते हैं कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है। इलियट उनके काव्य की विवेचना करते हुए कहते हैं कि शैली, लय एक महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क को समाहित किए हुए होती है, एक नवीन कथ्य के लिए नवीन रूप की आवश्यकता हेतु उपस्थित होती है। आई. ए. रिचर्ड्स मानते हैं कि शैली का समन्वय भाषा की संवेगात्मकता से है और भाषा की संवेगात्मकता वैयक्तिक अनुभूति का परिणाम होती है (The meaning of meaning)।

जॉन मिडल्टन मरि गानते हैं कि शैली का वैशिष्ट्य रचनाकार के अनुभूति-वैशिष्ट्य का ही परिणाम है। अनुभूति की विशिष्टता ही शैली की विशिष्टता को अनिवार्य बना देती है। यह अनिवार्यता आवश्यक है अन्यथा शैली निर्जीव और ओढ़ी हुई प्रतीत होती है।² एफ. एल. लुकास कहते हैं कि साहित्यिक शैली वह माध्यम है जिसके

1. स्टाइल इज द फिजियोनोमी ऑफ द सोल—शोपेनहावर।

2. द प्रोब्लम ऑफ स्टाइल—जे. एम. मरि (1975 संस्करण), पृ. 38।

द्वारा एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करता है।¹ शैली शब्दमय व्यक्तित्व है, वाक्मय चरित्र है।² उनके अनुसार यदि लिखावट से चरित्र प्रकट हो जाता है तो शैली तो और भी अधिक अभिव्यक्त कर सकती है।

आधुनिक शैलीवैज्ञानिकों में तोम चोम्स्की की व्याकरणिक अवधारणाओं की परम्परा में ही रिचर्ड ओमान मानने हैं कि लेखक उसी भाषा में विद्यमान अनेक व्याकरणिक संभावनाओं में में कुछ विशिष्ट का चयन करता है। यह 'विशिष्ट चयन' लेखक का अपना ज्ञानात्मक अभिविन्यास (Cognitive Orientation) है। लेखक अपने मन्तव्य (Deep Structure) को प्रकट करने के लिए अनेक उपलब्ध व्याकरणिक प्रतिरूपों में से कुछ का चयन कर लेता है और यह चयन ही उसकी शैली का द्योतक होता है। इस चयन में ही अभिव्यक्ति की विशिष्टता निहित रहती है।³ ओमान तो शैली को रचनाकार के जीवन के प्रति दृष्टिकोण से जोड़ देते हैं।

मार्शल प्राउस्ट कहते हैं कि शैली कोई अलंकार नहीं है, और न ही कोई तकनीक है; यह तो कलाकार के लिए रंगों की तरह है, दृष्टिकोण की विशेषता है, एक विशिष्ट संसार की अभिव्यक्ति है, जिसको हम सभी निजी रूप से देखते हैं और उसे वैसा कोई नहीं देखता। कलाकार हमें एक नये संसार का परिचय देने के कारण आनन्द देनेवाला होता है।⁴ फ्लॉवर्ट भी यही मानते हैं कि शैली अभिव्यक्ति-पद्धति मात्र नहीं, यह तो वस्तुजगत् के देखने की पद्धति है। कांवेण्टरी पैटमोर भी शैली को रचना के सभी कलात्मक गुणों में मात्र सर्वाधिक दुर्लभ तथा अभिव्यक्ति की वैयक्तिक पद्धति मात्र न मानकर वस्तुजगत् को अनुभूत करने की विधि मानते हैं।⁵ और शैली को रचनाकार-वैशिष्ट्यवाली पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की इसी दीर्घ परम्परा-वाली अवधारणा के बीच बुफों ने तो यहाँ तक कहा कि "शैली ही मनुष्य है" (Style is the man)।

इस प्रकार प्लेटो से लेकर रिचर्ड ओमान तक शैली को रचनाकार के व्यक्तित्व से जोड़ने; बल्कि उसको रचनाकार के व्यक्तित्व का ही पर्याय मान लेने की दीर्घ परम्परा रही है, यद्यपि (यह आगे विवेचित किया जायेगा कि) शैली में अब यह अवधारणा शैली-विश्लेषण का आधार नहीं रह गई है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली को रचनाकार का वैशिष्ट्य मानने के पीछे मुख्य कारण रचनाकार के व्यक्तित्व की विशिष्टता के अनुरूप ही उसकी रचना-शैली में विशिष्टता का पाया जाना रहा है। पाठक रचना के माध्यम से रचनाकार तक

1. स्टायल-एफ. एल. लुकास (1960), पृ. 48।

2. वही पृ. 49।

3. जनरेटिव ग्रामर्ज एण्ड द कन्सेप्ट ऑफ लिटरेरी स्टाइल-रिचर्ड ओमान, संकलित-लिग्निविस्त्वस एण्ड लिटरेरी स्टाइल-डोनाल्ड सी. फ्रीमन, (1970), पृ. 258 से 278।

4. उद्धृत : संस्कृत पोयटिक्स—कृष्ण चैतन्य (1965), पृ. 107।

5. करेज इन पोयटिक्स एण्ड अदर एसेज—कांवेण्टरी पैटमोर (लन्दन, 1921), पृ. 152।

पहुँचता है और रचना में अन्य रचनाओं से भिन्न एक भिन्न व्यक्तित्व देखने के बाद वह रचनाकार के भिन्न व्यक्तित्व का अनुमान कर लेता है। आधुनिक काल से पूर्व शैली को रचनाकार के व्यक्तित्व से जोड़नेवाली अवधारणा तो सुदृढ़ थी; किन्तु उसका वस्तुगत पद्धति से विवेचन नहीं किया गया था। आधुनिक युग में और विशेष कर बीसवीं शताब्दी में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में हुई विपुल उन्नति के परिणामस्वरूप भाषा के माध्यम से रचनाकार के मानस का अध्ययन करने का प्रयास प्रारम्भ हुआ।

इस क्षेत्र में नोम चोमस्की ने रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण (Transformational Generative Grammar) ने अभूतपूर्व कार्य किया। इसी व्याकरण के विकास के समानान्तर जो शैलीविज्ञान विकसित हुआ उसमें शैली को 'सम्भावनाओं की व्याकरण का विशिष्ट समुपयोजन' (A Particular exploitation of a grammar of possibilities) कहा गया और इस विशिष्ट समुपयोजन का कारण रचनाकार के वैशिष्ट्य को माना गया। यह माना गया कि रचनाकार का जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही उसकी भाषा-संरचना को नियन्त्रित करता है। और यह भाषा-संरचना अन्य रचनाकारों की भाषा-संरचना से निश्चय ही विशिष्ट होती है। क्योंकि प्रत्येक रचनाकार का जीवन-दर्शन भी निश्चय ही भिन्न होता है। इस प्रकार पाश्चात्य शैली विज्ञान की यह धारा तात्त्विक दृष्टि से कोचे और बुफों की अवधारणाओं की परम्परा में है; किन्तु रचना के विश्लेषण में यह भाषावैज्ञानिक विधि को अपनाती है, अतः शैलीविश्लेषण के क्षेत्र में उक्त अवधारणा का प्रायोगिक पक्ष भी प्रस्तुत कर रही है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली उक्त रचनाकार वैशिष्ट्य की अवधारणा के अतिरिक्त अन्य अवधारणाएँ भी प्रचलित हैं, जिनमें शैली को पाठगत व्यवस्थाओं का आवर्तन या प्रतिमान से विचलन मानकर रचना के संरचना-विधान का वस्तुगत अध्ययन मात्र प्रस्तुत किया गया है। उस विधान को रचनाकार के व्यक्तित्व से जोड़ देने का आग्रह या प्रयास नहीं दिखाई देता। ये अवधारणाएँ अब अपेक्षाकृत जोर पकड़ती जा रही हैं, जिनका विवेचन आगामी बिन्दुओं में किया जायेगा। इस प्रसंग में तो देखना यह है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में रचनाकार वैशिष्ट्य की अवधारणा का क्या स्वरूप रहा है।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

ऋग्वेद के समय से ही रचना के रूप को व्यक्ति-विशेष के अनुसार नहीं ढाल कर ऋषि-परिवार की शिल्प-पद्धति के अनुरूप संरचित करने का प्रयास दिखाई देता है। विशिष्ट, भारद्वाज आदि ऋषि-परिवारों के मंत्र शिल्प की दृष्टि से अपनी पारिवारिक समानताएँ रखते हैं जिनका कालांतर में 'मागों' के रूप में विकास हुआ। निश्चय ही इस पद्धति से रचनाकार के वैशिष्ट्य को प्रमुखता नहीं दी गई। और विचित्र संयोग तो यह है कि सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यशास्त्र में भाषा-संरचना का

अध्ययन रचनाकार के व्यक्तित्व के सन्दर्भ में नहीं हुआ, वह भाषा के विचलन के रूप में हुआ। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली-विवेचन रचनाकार के वैशिष्ट्य के सन्दर्भ में हुआ ही नहीं। बल्कि सच तो यह है कि भाषा की प्रत्येक सर्जनात्मकता को रचनाकार की प्रतिभा का ही प्रतिफलन स्वीकार करने के उपरान्त उसकी विचलन-प्रक्रिया का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हुआ है।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में स्वीकार किया है कि ज्ञान की बहुलता है और शिल्पों की अनन्तता है¹ और यह अनन्तता प्रतिभा की अनन्तता का ही परिणाम है। इस अनन्तता का अन्त नहीं कर सकने के कारण ही शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें कुछ पद्धतियों-प्रणालियों का व्यवस्थापन हो सके और विषय का विवेचन वैज्ञानिक बन सके। दण्डी ने कहा कि 'वाणी के अनेक मार्ग हैं और उनमें कुछ-न-कुछ परस्पर सूक्ष्म भेद हैं; किन्तु उनमें वेदार्थ और गौड़ मार्ग का अन्तर अत्यन्त प्रकट है, उनका विवेचन किया जाता है।' इस प्रकार सद्धान्तिक भेद के स्तर पर रचनाकार के अनुसार रचना के मार्ग का, शैली का, भेद मान्य है; किन्तु विवेचन की सीमा होने के कारण ही इस शैली-भेद को रचनाकार के वैशिष्ट्य से हटाकर रचना-पद्धतियों की समानताओं के आधार पर विवेचित किया गया है।²

आनन्दवर्धन मानते हैं कि काव्य की आत्मा—प्रतीयमान स्वादु अर्थ—प्रति-भाजन्य ही है।³ और इस प्रतिभा से (जो कि प्रतिक्षण नवीन-नवीन कल्पना करने में समक्ष होती है) काव्य के अर्थों की कभी समाप्ति ही नहीं हो सकती।⁴ वे यह भी मानते हैं कि एक ही विषय को लेकर रची जानेवाली रचना में शैली-भिन्नता रहती है, क्योंकि उस सामान्य विषय की अनुभूति कवि के स्वयं के सुख-दुःखादि के अनुभव के अनुकूल भिन्न-भिन्न एवं विशिष्ट ही हो सकती है।⁵ रिचर्ड ओमान आनन्दवर्धन की इसी अवधारणा को कहते हैं कि एक व्यक्ति का अनुभव ठीक दूसरे व्यक्ति के समान ही होगा, यह अत्यन्त अनुपयुक्त लगता है। और यह भी अनुपयुक्त है कि एक व्यक्ति एक ही बात पर दुबारा भी पहले की तरह ही विचार करे।⁶

दण्डी की तरह कुन्तक भी काव्य-मार्गों को अनन्त मानते हैं; किन्तु उनकी गणना असम्भव होने के कारण साधारणतः त्रैविध्य (सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक) ही युक्ति-संगत मानते हैं।⁷ यह मार्ग-विभाजन भी कवियों के स्वभावों की

1. नाट्यशास्त्र—भरतमुनि, 6-6।

2. काव्यादर्श—दण्डी, 1-9-40।

3. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 1-4।

4. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 4-6।

5. वही, 4-7 कारिका।

6. ओमान 'ज प्रोलेगोमेना टू द एनिलिसिस ऑव प्रोजेक्स्टाइल'।

7. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-24।

त्रिविधता के आधार पर ही किया गया है। कवियों की प्रतिभा की नवीनता और शैली की अनन्तता पर टिप्पणी करते हुए कुन्तक यह भी कहते हैं कि “सृष्टि के आरम्भ से उत्तम कवियों द्वारा प्रतिदिन सार का ग्रहण करने पर भी वाणी के सौन्दर्य की अभी तक मुहर भी नहीं टूटी है।”¹ इस प्रकार कुन्तक शैली की अनन्तता को कवि-वैशिष्ट्य में ही देखते हैं; किन्तु उसका विश्लेषण वे पाश्चात्य शैली की रचनाकार-वैशिष्ट्य की अवधारणा के अनुसार नहीं करते, क्योंकि न तो वह अनन्त होने के कारण संभव है और न ही उसका वस्तुगत और वैज्ञानिक विवेचन किया जा सकता है। डॉ. वी. राघवन और डॉ. धर्मेन्द्रकुमार गुप्ता ने इसीलिए कुन्तक की मार्ग की अवधारणा को पाश्चात्य शैली की अवधारणा से भिन्न बतलाया है।² किन्तु वह पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की विचलन की अवधारणा से भिन्न नहीं है, जिसकी ओर विद्वान-द्रय ने संकेत नहीं किया है।

राजशेखर ने कविता और रचनाकार को एक ही मानते हुए कहा है कि “कवि का जैसा स्वभाव होता है, वैसी ही उसकी कविता भी होती है। कहावत प्रसिद्ध है कि चित्रकार अपने ही अनुरूप चित्र बनाता है।”³ इस प्रकार राजशेखर ने रचना में रचनाकार को प्रतिबिम्बित देखा है।

हिन्दी साहित्यशास्त्र में जयशंकर प्रसाद कवि-प्रतिभा की प्रकृति की भिन्नता के आधार पर ही तीन प्रकार के प्रतीक-विधान—अनुकूल, प्रतिकूल और उद्भूत की कल्पना करते हैं जो आदर्शवादी, यथार्थवादी और व्यक्तिवादी काव्य-पद्धतियों के रूप में प्रकट होते हैं।⁴ यहाँ प्रसादजी काव्य-शैलियों को कवि-प्रतिभा की अवस्थिति पर ही निर्भर मानते हैं और उसी के अनुसार वर्गीकृत करते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्यशास्त्र में रचना का भाषागत विश्लेषण करने की परम्परा नहीं चल सकी और कवि-केन्द्रित व्याख्या का नया जादू हिन्दी में बहुत जल्दी प्रभावशाली हो गया तथा बहुत दिनों तक आलोचकों और कविता के पाठकों को अभिभूत किए रहा।⁵ परिणामस्वरूप शैली को रचनाकार-वैशिष्ट्य के संदर्भ में अधिक देखा गया; किन्तु उसका विवेचन संरचनागत नहीं होने के कारण शैलीविज्ञान के क्षेत्र में विशेष महत्व नहीं रखता। अब हिन्दी का साहित्यशास्त्र पश्चिमी वस्तुवादी समीक्षा के प्रभाव एवं शैलीविज्ञान के विकास के साथ ही पुनः वस्तुवादी समीक्षा की ओर उन्मुख हुआ है और शैली को रचनाकार-वैशिष्ट्य का परिणाम मानता हुआ भी शैली की संरचनावादी विवेचना करने लगा है।

1. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 3-4-16।

2. ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दण्डी एण्ड हिज वर्क्स—डॉ. धर्मेन्द्रकुमार गुप्ता। (1970) पृ. 135-36।

3. काव्यमीमांसा—राजशेखर (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना), पृ. 122।

4. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, पृ. 42-43।

5. रीति-विज्ञान—डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 33।

(इ) निष्कर्ष—शैली और रचनाकार-वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में उपरोक्त विवेचन के बाद दोनों साहित्यशास्त्रियों की तुलना से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

1. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली को रचनाकार का वैशिष्ट्य माना गया, उसमें रचनाकार के व्यक्तित्व की छाया देखी गयी। इसलिए शैली और रचनाकार पर्याय बन गये। भारतीय साहित्यशास्त्र में भी ऐसा ही हुआ; किन्तु जहाँ तक शैली-विश्लेषण का प्रश्न है संस्कृत साहित्यशास्त्र रचना के सौन्दर्य का उद्घाटन करने में भाषा के विश्लेषण से जूझ गया, और अन्त तक जूझता रहा। इसलिए उसमें वस्तुनिष्ठता बनी रही। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के पास संस्कृत, व्याकरण, मीमांसा, तर्क आदि की तरह कोई समृद्ध भाषा-विवेचन नहीं था, उसके पास भाषा-विश्लेषण के आधार पर शैली-विवेचन की न तो पर्याप्त सुविधाएँ ही थीं और न गति ही, अतः वहाँ शैली के विश्लेषण का भुकाव रचनाकार के व्यक्तित्व के साथ जुड़े रहने की ओर अधिक रहा।
2. भारतीय चिन्तना शास्त्र-विश्लेषण में कभी भी व्यक्तिवादी नहीं रही, अतः अन्य शास्त्रों की तरह साहित्यशास्त्र से भी तत्त्व का वस्तुनिष्ठ विवेचन ही होता रहा। पाश्चात्य चिन्तना में तात्त्विक विश्लेषण के साथ-साथ व्यक्ति का भी महत्त्व रहा है, इसलिए रचना पढ़ते समय बार-बार रचनाकार को याद किया जाता रहा। इसलिए टी. एस. इलियट ने जब निर्व्यक्तिकता की अवधारणा प्रस्तुत की तो पश्चिम आश्चर्य के साथ देखता रहा। जबकि संस्कृत में आनन्दवर्धन के इस कथन का कि—“यदि कवि शृंगारी (रसिक) हो तो सारा संसार रसमय हो जाता है और वही वीतराग हो तो यह सब ही नीरस हो जाता है।”¹ का स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त पहले ही कवि के निजी व्यक्तित्व और कवि-व्यक्तित्व का अन्तर करते हुए यह दे चुके थे कि “शृंगारी से तात्पर्य शृंगारोक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की चर्चणा-रूप प्रतीति रखनेवाला कवि है, न कि स्त्री-व्यसनी (व्यक्ति) मन्तव्य है।² इस प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र में कवि-व्यक्ति के दो व्यक्तियों की संकल्पना मिलती है और इलियट ने भी अपने निर्व्यक्तिकता के सिद्धांत में उस व्यक्तित्व को कविता से दूर रखने का संकेत दिया है जो कवित्वमय नहीं होता; जो विशिष्ट व्यक्ति है—भावों के

1. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 3-43।

1. ध्वन्यालोकलोचन—अभिनवगुप्त (चौखम्बा विद्याभवन, 1965), पृ. 530।

साधारणीकृत रूप का वहन करनेवाला साधारणीकृत व्यक्ति कवि नहीं ।

3. आधुनिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र अब शैली की विशिष्टता का कारण रचनाकार वैशिष्ट्य को मान लेने के बाद शैली के वस्तुगत और संरचनागत विश्लेषण की ओर उन्मुख हुआ है और उसकी यह उन्मुखता संस्कृत साहित्यशास्त्र के समीपतर आते जाने का प्रयास है । अब पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली से आशय व्यक्ति-वैशिष्ट्य से ही नहीं रह गया है । इसीलिए तो डॉ. विद्यानिवास मिश्र को 'शैलीविज्ञान' के स्थान पर 'रीति-विज्ञान' नाम से सन्तोष हुआ था¹ क्योंकि 'स्टाइल' अब आत्मनिष्ठ ही नहीं रह गई है, वह रीतिविवेचन की तरह वस्तुनिष्ठ विवेचन को भी समाहित करती है । किन्तु नाम बदलने की अपेक्षा शैली का अर्थविस्तार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा । पश्चिम में भी तो 'स्टाइल' का अर्थ-विस्तार हुआ है ।
4. शैलीविज्ञान शैली के अन्तर्गत न केवल रचनाकार के व्यक्तित्व की खोज करता है, वह एक रचनाकार-समूह, एक विशेष युग की, एक विशेष संस्कृति की रचनाओं की शैली का भी अध्ययन करता है । इसके अतिरिक्त विषय, विधा आदिके सन्दर्भ में भी शैली का विवेचन होता है; अतः शैली की अवधारणा अब दोनों ही साहित्यशास्त्रों में रचनाकार के वैशिष्ट्य से अधिक व्यापक हो गई है, रचनाकार-वैशिष्ट्य तो अब शैली-विवेचन का एक पहलू मात्र रह गया है ।

साहित्यिक शैलीविज्ञान में शैली की मुख्य अवधारणा रचना की उस भाषा-संरचना से है जो साहित्यिक सौन्दर्य के प्रति उत्तरदायी होती है । और उस भाषा-संरचना का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण करना ही शैलीविज्ञान का प्रतिपाद्य है । अब आगामी बिन्दु में पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली के सम्बन्ध में अन्यान्य अवधारणाओं का विवेचन करने से पूर्व उसके विश्लेषण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विद्यमान अवधारणाओं का विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा ।

(ड) शैली-विवेचन की प्रक्रिया : भाषा का वस्तुगत विश्लेषण

शैली के सम्बन्ध में व्याप्त अनेकानेक अवधारणाओं से ही जुड़ा हुआ प्रश्न यह भी रहा है कि पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली के विवेचन-विश्लेषण की मुख्य प्रकृति क्या रही है ? किस प्रक्रिया से किसी रचना की शैली की या शैली के सैद्धांतिक स्वरूप की विवेचना की जाती रही है ? इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रस्तुत है पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की अवधारणाएँ—

1. रीति-विज्ञान-डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 15 ।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली के सम्बन्ध में फुटकर टिप्पणियाँ तो अरस्तू से पूर्व के साहित्यशास्त्रियों में भी पाई जाती हैं; किन्तु शैली का सर्वप्रथम विषद विवेचन अरस्तू ने ही प्रस्तुत किया। यही नहीं उनकी शैली-विवेचन की प्रक्रिया भी भाषा एवं भाषेतर काव्य-शिल्पों का वस्तुगत विश्लेषण करने की रही। उन्होंने रीति-शास्त्र के सम्बन्ध में कहा कि रीतिशास्त्र का कार्य प्रभावित करना उतना नहीं है, जितना प्रत्येक विषय में विद्यमान प्रभावक साधनों की खोज करना। उन्होंने प्रभावक साधनों की खोज की ओर 'पोयटिक्स' में कथानक, रंग-विधान, चरित्र, कार्य, शैली आदि काव्य-तत्त्वों की संरचना का विश्लेषण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त 'रेटरिक' ग्रंथ में अलंकार, भाषा आदि पर विचार प्रकट किया। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का यह सौभाग्य है कि उसके प्रथम महान साहित्यशास्त्री अरस्तू ने साहित्यशास्त्र को न केवल विस्तृत और सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया; बल्कि उसकी विवेचन-प्रक्रिया को भी वस्तुपरकता प्रदान की। वस्तुतः पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली-विवेचना की नींव ही वस्तुगत प्रक्रिया से भरी गई; किन्तु वह अधिक परिपुष्ट और उन्नत इसलिए नहीं हो सकी, क्योंकि पश्चिम के पास वैज्ञानिक भाषा-चिन्तन की समृद्धि नहीं थी।

अरस्तू के बाद डायोनीसियस ने भाषा के तार-तार में शैली को ढूँढ़ने का प्रयास किया। वे वर्राँ की संगीतात्मकता का अन्वेषण करते रहे, शब्द-संयोजन की वारीक्रियों को खोजते रहे। इस तरह शैली को भाषा-विश्लेषण के क्षेत्र में ही परिभाषित किया। उन्होंने शब्दों की सुष्ठु-योजना को ही शैली कहा; किन्तु वे काव्य-भाषा का व्यापक और सुव्यवस्थित मापदण्ड तैयार नहीं कर सके, जैसा कि आनन्द-वर्धन और कुन्तक ने प्रस्तुत किया।

डेमेट्रियस 'ऑन स्टाइल' नामक पुस्तक में शब्द-प्रयोग, शब्द-विन्यास एवं विषयवस्तु का विवेचन भाषा-विश्लेषण करके ही प्रस्तुत किया। उन्होंने शैली के लिए भाषा-लाघव को ही महत्त्व दिया। क्विन्तिलियन ने भी 'वक्ता की शिक्षा' पुस्तक में भाषा का ही विवेचन किया और क्रियाओं के महत्त्व पर विशेष जोर दिया। उनकी ये घोषणाएँ कि—“भाषा की वास्तविक शक्ति क्रियाओं में ही निहित रहती है;” अथवा “शब्दों को सान्य क्रम में न रखने से प्रायः शैली में अधिक प्रभाव आ जाता है” या “काव्य में संगति और सम्बद्धता लाने के लिए भी सामान्य वाक्य-योजना को तोड़ना भी पड़ जाता है,” उनकी भाषावैज्ञानिक दृष्टि और पकड़ तथा शैली के वस्तुगत विश्लेषण को ही सूचित करती है। इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की अभिजात्य परम्परा की अन्तिम महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में क्विन्तिलियन ने शैली-विवेचन की प्रक्रिया के रूप में भाषा के वस्तुगत विश्लेषण को ही समृद्ध किया।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का मध्यकाल तो एक प्रकार से शैली-विवेचना की दृष्टि से शून्यकाल ही रहा और आधुनिक साहित्यशास्त्र का प्रारम्भ भी आभिजात्य

परम्पराओं के पुनरावर्तन में ही लगा रहा। नवशास्त्रवादी साहित्यशास्त्रियों ने भी आभिजात्य परम्परा का निर्वाह करते हुए शैली के वस्तुगत विवेचन को ही अपनाया; किन्तु कोई मौलिक उद्भावनाएँ नहीं कीं।

शैली-विवेचन की प्रक्रिया में स्वच्छन्दतावादी साहित्यशास्त्रियों की दृष्टि आत्मवादी रही; किन्तु आत्मवादिता की प्रतिक्रिया में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में वस्तुगत समीक्षा का आन्दोलन विकसित हुआ। टी.एस. इलियट इसके पुरोधा हुए। यह आन्दोलन 'नयी समीक्षा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसमें कृति के विश्लेषण पर ही जोर दिया गया तथा कृति से बाहर की असाहित्यिक समीक्षा को वर्जित माना गया। आई.ए. रिचर्ड्स ने 'व्यावहारिक समीक्षा' (Practical Criticism) के नाम से कृति के भाषा-विश्लेषण को ही प्रोत्साहित किया। हर्बर्ट रीड, जॉन मिडल्टन मरि, एफ.एल. लुकास आदि विद्वानों ने शैली के साथ-साथ उसकी भाषा-विश्लेषणात्मक प्रक्रिया को उभारा।

वस्तुतः शैली-विवेचन की प्रक्रिया में वस्तुनिष्ठ दृष्टि को ठोस और वैज्ञानिक आधार तो बीसवीं शताब्दी में भाषाविज्ञान की गम्भीर शोध के परिणामस्वरूप ही प्राप्त हुआ। ससूर द्वारा भाषा के समकालिक रूप का संरचनात्मक अध्ययन करने की पद्धति की ओर संकेत करने के बाद भाषा-वैज्ञानिक बोलचाल की भाषा की संरचना का अध्ययन करने में जुट गये। पश्चिम में आंग्ल-अमरीकी, रूसी-चैक, फ्रांसीसी, जर्मन-स्पेनी भाषा-वैज्ञानिक धाराओं में भाषा को अनेक दृष्टियों से उल्टा-पुल्टा गया और अनेक व्याकरण तैयार होते गये, अधूरे सिद्ध होते गये, नये और अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक व्याकरणों की शोध होती रही। भाषाविज्ञान की इसी दौड़धूप में भाषावैज्ञानिकों के अनेक वर्ग इस संकल्प के साथ निकले कि जब साहित्य भी भाषा ही है और भाषा का अध्ययन भाषावैज्ञानिक पद्धति से किया जा रहा है तो साहित्य की भाषा का भी भाषावैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है। इस प्रकार साहित्यिक भाषा का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण ही 'शैलीविज्ञान' के नाम से प्रचलित हुआ।

भाषाविज्ञान के मंच पर तैयार हुए शैलीविज्ञान में शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया तो निश्चय ही भाषागत रही; किन्तु शैलीविज्ञान की विविध प्रविधियों के अनुसार शैली-विश्लेषण की प्रविधियाँ भिन्न-भिन्न निमित्त होती रहीं। ससूर और उनके शिष्य बाली ने सामान्य भाषा की संरचना को समकालिक (Synchronic) स्तर पर विश्लेषित करने की प्रविधि विकसित की और उनकी परम्परा के चार्ल्स ब्रूनो और मार्शल क्रैसा द्वारा विकसित शैलीविज्ञान में एक पाठ विशेष की रचना का संरचनागत अध्ययन प्रारम्भ हुआ। आगे समकालिक आयाम के साथ-साथ कालक्रमिक (Dychronic) आयाम पर भी रचना की भाषा का अध्ययन होने लगा।

फ्रांसीसी शैलीविज्ञान रिफातेग्र ने शैली के अध्ययन के अन्तर्गत रचना में विद्यमान 'संदर्भ' को अत्यन्त आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया और उसे सामान्य भाषा के संदर्भ में समूह-संदर्भ (Macro-Context) और सहृदय के संदर्भ—व्यष्टि-संदर्भ (Micro-Context) के सापेक्ष में विश्लेषित करने का सुझाव रखा। शैली को संदर्भ की सापेक्षता में विवेचित करने की प्रविधि को विकसित करने में जोफ्री लीच और डेविड क्रिस्टल¹ आदि का भी योगदान है।

एम.ए.के. हैलीडे ने व्याकरण में 'रैंक', 'डेलीकेसी' और 'एक्सपोनेन्स' (दृष्टान्त) की अवधारणा प्रस्तुत की। 'रैंक' में भाषा की इकाइयों को वाक्य, उप-वाक्य, समूह, शब्द और रूपिम पाँच स्तरों में विभाजित किया गया और इनके परस्पर के स्थानापन्न को रैंक-शिफ्टिङ् मानकर उसमें आनेवाली वक्रता के द्वारा शैली का अध्ययन किया गया। 'डेलीकेसी' के अन्तर्गत संरचना की अत्यन्त सूक्ष्मताओं की वक्रताओं का विवेचन किया गया और दृष्टान्त के मापदण्ड के अनुसार रैंक आदि कोटियों के व्यवहार में उपलब्ध भाषिक सामग्री से सम्बन्ध होने की प्रक्रिया का अध्ययन किया गया। हैलीडे के² इसी व्याकरणिक व्यवस्था के आधार पर तैयार किये गये शैलीवैज्ञानिक मॉडल के अनुसार साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन करने की विधि विकसित हुई है।

थोर्न, ओमान, कटिस हेज आदि शैलीवैज्ञानिकों ने चौम्स्की के रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण (ट्रांसफोर्मेशनल जनरेटिव ग्रामर) के प्रतिरूप के आधार पर 'डीप स्ट्रक्चर' से 'सरफेस स्ट्रक्चर' के बीच के रूपान्तरणों में आयी वक्रताओं का अध्ययन किया जाता है।

मुकारोवस्की, रोजर फाउलर आदि ने शैली को सामान्य भाषा से विचलन मानकर सामान्य भाषा के व्याकरण के आधार पर रचना के व्याकरण में आई वक्रताओं के आधार पर शैली का अध्ययन माना है। एंक्विस्ट ने भी इसी प्रकार का एक मॉडल प्रस्तुत किया।³

शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया के क्षेत्र में उक्त सभी प्रविधियों के विद्वान अभी 'खोजी' ही हैं, वे अपने-अपने व्याकरणों को शैली-विश्लेषण का आधार मानकर भी सन्तुष्ट नहीं जान पड़ते। अतः शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया की अभी स्पष्ट तस्वीर उभरना बहुत दूर है।

1. इन्वेस्टिगेटिङ् इंग्लिश स्टाइल—डेविड क्रिस्टल एण्ड डेरेक डेवी (लॉगमैन-1959), पृ. 60-61।

2. द लिग्विस्टिक साइन्सेज एण्ड लैंग्वेज टीचिङ्—एम.ए.के. हैलीडे—लन्दन-लॉगमैन—(1964), पृ. 90-93।

3. लिग्विस्टिक स्टाइलिस्टिक्स—एन.ई. एंक्विस्ट (मॉटन-1964), पृ. 54-62।

संक्षेप में—

1. पाश्चात्य शैलीविज्ञान प्रारम्भिक काल से ही शैली-विश्लेषण की भाषाई और वस्तुगत प्रक्रिया को अपनाकर चला है।
2. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के सामने कोई समर्थ और वैज्ञानिक व्याकरण नहीं आ पाने के कारण शैली—विश्लेषण में अपेक्षित वैज्ञानिकता नहीं आ पाई। हाँ, उसकी प्रविधि में वस्तुनिष्ठता तो अवश्य दिखाई देती है।
3. आधुनिक युग में भाषावैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप व्याकरण के अनेक मॉडल उपस्थित हुए और उन्हीं के आधार पर शैली की विश्लेषण-प्रक्रिया निश्चित हुई।
4. आधुनिक पाश्चात्य शैलीविज्ञान मुख्यतः संरचनात्मक व्याकरण कोटियों (कैटेग्रीज) एवं रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण (ट्रांसफॉर्मेशनल जनरेटिव ग्रामर) की प्रविधियों के आधार पर विकसित हो रहा है।
5. पाश्चात्य व्याकरणों का स्वरूप अभी स्पष्ट रूप से विकसित नहीं हो पाया है, अतः शैलीविज्ञान की प्रविधियाँ भी अभी प्रायोगिक स्तर पर ही हैं। व्याकरण के प्रतिरूपों की बहुलता के कारण शैली-विश्लेषण की प्रक्रियाओं में भी विविधताएँ देखी जा सकती हैं। किन्तु विद्वानों की व्याकरण और शैलीविज्ञान के प्रति गम्भीर रुचि और सतत प्रयास को देखकर शैलीविज्ञान की प्रक्रियाओं के समृद्धतर होते जाने की पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

संस्कृत व्याकरण के रूप में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' जैसी कृति को प्राप्त करके संस्कृत साहित्यशास्त्र अत्यन्त सौभाग्यशाली रहा है। पाणिनि ने भाषा का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत कर एक समृद्ध व्याकरण प्रस्तुत किया जिसके आधार पर न केवल न्याय और मीमांसाशास्त्रियों का विकास हुआ; बल्कि साहित्यशास्त्र को भी ठोस आधार प्राप्त हुआ। भारतीय साहित्यशास्त्री सामान्य भाषा के व्याकरण को व्याकरणों से हस्तगत कर साहित्यिक भाषा के व्याकरण (साहित्यशास्त्र) को निमित्त करने में जुट गये। इसीलिए भामह के समय से ही एक तो यह अवधारणा निर्द्वन्द्व रूप से स्वीकार करली गयी कि साहित्य 'शब्दार्थ' है। दूसरी अवधारणा यह भी विकसित हुई कि शब्दार्थ के सम्बन्धों का अध्ययन तो व्याकरण, मीमांसा और न्यायशास्त्र में भी किया जाता है। अतः साहित्यशास्त्र में शब्दार्थ के उन सम्बन्धों का अध्ययन करना शेष रहता है जो भाषा-सौन्दर्य के सर्जक हैं। इसलिए साहित्यिक भाषा के सन्दर्भ में 'वक्ता' की अवधारणा भामह के समय से ही शुरू हो गयी। भामह ने ही शब्दार्थ

की वक्रता को अलंकार घोषित कर दिया और फिर वे अलंकार के विवेचन-विश्लेषण में लग गये। उन्होंने कवियों के प्रयोग के योग्य वक्रोक्तिप्रवण शब्दों का और प्रयोग के अयोग्य शब्दों का विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया।¹ भाषा की वक्रता को शब्द और अर्थ दोनों में अलग-अलग सिद्ध करने के लिए दो शब्दालंकारों और 36 अर्थालंकारों को विभाजित रूप में प्रस्तुत किया। तीन गुणों, अट्टाईस दोषों तथा मार्ग के विवेचन में भी उनकी वस्तुगत विश्लेषण-पद्धति ही भलकती है; किन्तु यह सत्य है कि भामह का सम्पूर्ण विवेचन बहुत व्यवस्थित और व्यापक नहीं कहा जा सकता।

भामह के बाद दण्डी ने भामह के गुण, दोष और अलंकार-विवेचन को व्यवस्थित तथा समृद्ध किया। उनके 'काव्यादर्श' का मुख्य प्रतिपाद्य था—काव्य-मार्ग और उनमें गुणों का स्थान। उन्होंने कवि-मार्ग में वैदर्भी और गौड़ दो का उल्लेख करके उनका प्राणत्व दस गुणों में घोषित किया जो भाषा की संरचना से ही सम्बन्धित माने गये। इसी तरह भाषा-सौन्दर्य के सर्जक 40 अलंकारों एवं उनके भेदोपभेदों का वर्णन किया। दण्डी ने काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद 'चित्रमार्ग' में यमक, चित्रबन्ध और प्रहेलिका तथा दोषों का वर्णन किया है। यह सारा विवेचन भाषा की उन उपलब्धियों अथवा अपूर्णताओं को बताने के लिए किया गया है जो काव्य-सौन्दर्य की सर्जक अथवा संहारक हैं। दण्डी का गुण-विवेचन, जो काव्यादर्श की रीढ़ है, 'सौशब्द' की अवधारणा का ही व्यापक प्रसार है। उन्होंने गुण और अलंकार-विवेचन में वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक की वक्रता को प्रस्तुत किया जो कालान्तर में कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवितम् के लिए सहायक सिद्ध हुई।

वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में काव्य के अलंकार (सौन्दर्य) को दोष, गुण, अलंकार और काव्य-समय तथा शब्द-शुद्धि प्रकरणों में स्पष्ट किया। उनका यह ग्रंथ पद-रचना की विशिष्टता को समझाने का प्रयास करता है तथा वर्ण से लेकर वाक्य तक की संरचना की विशिष्टता स्पष्ट करता है। वामन ने तीन रीतियों—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली को दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों से सम्बद्ध किया तथा गुणों की रचना को उन्होंने पद से वर्ण तक ले जाकर काव्य में वर्ण से लेकर रीति तक की संरचना को एक सूत्र में ग्रथित कर दिया। इसी प्रकार 'गुणों' के अभाव को दोष मान कर गुणों की भाँति दोषों का भी वस्तुगत चित्रण ही किया। वामन ही वह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य में 'आत्मा' की अवधारणा स्थापित की तथा पद-रचना की विशिष्टता का भाषावैज्ञानिक और व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत करके एक स्वतन्त्र साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया। वामन का 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' शैली-विश्लेषण की व्यापक भाषावैज्ञानिक विवेचना का प्रथम आधारभूत

ग्रन्थ है, जिसके बाद अन्य सिद्धान्त-ग्रन्थों के निमित्त होने की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि तैयार हुई।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ध्वनि-विरोधी मतों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त के औचित्य की भूमिका तैयार की। उसके बाद वैयाकरणिक 'स्फोटवाद' सिद्धान्त के आधार पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विश्लेषण करने के लिए प्रतीयमान अर्थ की अवधारणा प्रस्तुत की। वस्तुतः आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक अर्थविज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति पर ही आधारित है। आनन्दवर्धन अर्थ की प्रतीयमानता के लिए सुप्, तिङ्, वचन, कारक, कृत् और तद्धित प्रत्यय, पद-सामासिकता, संज्ञा, विशेषण, क्रिया, वचन, कारक आदि सभी भाषिक संरचनाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण करके एक व्यापक शैलीविज्ञान प्रस्तुत करते हैं। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' टीका में भाषा-संरचना और रस की सूत्र-बद्धता को और उजागर कर शैली का भाषा-वैज्ञानिक के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक विवेचन भी प्रस्तुत किया। दरअसल ध्वन्यालोक अर्थवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से विश्व के शैलीविज्ञान में एक बेजोड़ ग्रन्थ है।

कुन्तक ने काव्य की आत्मा के रूप में 'वक्रता' को स्थापित किया और इस आत्मा की अवस्थिति (1) वर्ण, (2) पदपूर्वाङ्ग, (3) प्रत्यय, (4) वाक्य, (5) प्रकरण और (6) प्रबन्ध अर्थात् भाषा-संरचना के सभी स्तरों में मानकर, काव्य-भाषा में आत्मा की सार्वदेशिकता स्थापित करके वक्राकित-सिद्धान्त को एक पूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्त घोषित किया। कुन्तक ने काव्य-भाषा के रोम-रोम में जाकर वक्रता को पहचाना है और भाषा-वक्रता का व्याकरण प्रस्तुत किया है। कुन्तक द्वारा प्रस्तुत 'शब्दार्थो सहितौ' काव्य-लक्षण की शैलीवैज्ञानिक व्याख्या, 'मार्ग' की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक विवेचन, तथा गुणों का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण उनकी शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की वैज्ञानिक प्रस्तुति में गहरा विश्वास जगाते हैं। काव्य-भाषा को इतने व्यापक फलक पर, इतने व्यापक विस्तार के साथ प्रस्तुत करने वाले महान्तम साहित्यशास्त्री कुन्तक ही हैं। उनको वस्तुनिष्ठता निश्चय ही निर्विवाद है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र में शैली का व्यापक वस्तुगत विवेचन होने के बाद भी क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त का औचित्य इसमें है कि वह वस्तुगत चिन्तन की जड़ता पर चोट करता है। वह वस्तुगतता को लचीला बनाता है तथा भाषा की वक्रता का अन्तिम मापदण्ड संरचना के नियम को नहीं, औचित्य की प्रतीति को मानता है। किन्तु क्षेमेन्द्र का यह औचित्य-विश्लेषण भी भाषा-संरचना के सन्दर्भ में है और क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विश्लेषण, उपसर्ग, निपात, काल, पद, वाक्य, वृत्त, अलंकार, गुण आदि भाषायी घटकों का विवेचन करके शैली की वस्तुनिष्ठ और भाषा-विश्लेषणात्मक प्रविधि को ही प्रस्तुत करता है।

इसी तरह महिम भट्ट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि सभी साहित्यशास्त्रियों ने साहित्यशास्त्र के नाम से काव्यभाषा का भाषावैज्ञानिक पद्धति से सौन्दर्यशास्त्रीय

अध्ययन किया है। वस्तुतः संस्कृत साहित्यशास्त्र की विश्लेषण-पद्धति में वस्तुनिष्ठता और भाषावैज्ञानिकता उसका अनिवार्य घर्म रहा है।

जहाँ तक रस-सिद्धान्त का प्रश्न है, वह भी न तो भाषा-संरचना से हटता है और न वैज्ञानिकता से ही; किन्तु उसके अध्ययन का कोण सहृदय है और वह सहृदय तथा भाषा के सम्बन्ध की विवेचना करता है। भाषा-संरचना और सहृदय के मनो-विज्ञान का सम्बन्ध ही उसका प्रतिपाद्य है; किन्तु जहाँ वह दर्शन में चला जाता है, वहाँ वह शैली और साहित्यशास्त्र दोनों के ही विवेचन का अतिक्रमण कर जाता है।

हिन्दी भाषा को कामताप्रसाद गुरु 'अष्टाध्यायी' जैसी व्याकरण नहीं दे सके, और आज तक कोई भी नहीं दे सका है; अतः हिन्दी की साहित्यशास्त्रीय समीक्षा भाषा-केन्द्रित और वस्तुनिष्ठ नहीं बन सकी है। वह या तो संस्कृत साहित्यशास्त्र के पराभव काल की अवधारणाओं के पिष्टपेषण और अन्धानुकरण को लेकर चली है या राजनैतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं से आक्रान्त रही है। शुक्लजी रसवादी रहे और उनका भुकाव आत्मनिष्ठता की ओर अधिक रहा। परवर्ती साहित्यशास्त्र काफी असें तक उन्हीं का अनुगमन करता रहा। नगेन्द्रजी ने रस-सिद्धान्त की पुनर्प्रतिष्ठा की और साहित्यशास्त्र 'रसमग्न' रहा। नन्ददुलारे वाजपेयी ने समीक्षा को रचना-केन्द्रित रखने का प्रयास किया। अज्ञेय ने 'तार सप्तक' में यह कहकर हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्र को एक झटका देने का सांकेतिक प्रयास किया कि "काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृती बनाती है।" किन्तु अज्ञेय की उस घोषणा ने कोई व्यवस्थित रूप ग्रहण नहीं किया। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी,¹ डॉ. नृमवरसिंह,² डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव,³ डॉ. नगेन्द्र⁴ आदि विद्वानों ने काव्य-भाषा के वस्तुगत विश्लेषण की प्रक्रिया की ओर संकेत पर किया है; किन्तु उसका प्रतिपादन नहीं किया।

शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया के अन्तर्गत काव्यभाषा का भाषा-वैज्ञानिक और वस्तुगत विश्लेषण करने का प्रयास ड. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव,⁵ डॉ. विद्यानिवास

1. 'हिन्दी नवलेखन' तथा 'भाषा और संवेदना' नामक पुस्तकों में।

2. 'कविता के नये प्रतिमान' में।

3. छुट-पुट लेखों में।

4. ध्वन्यालोक 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' आदि पुस्तकों की भूमिकाओं एवं 'शैलीविज्ञान' नामक पुस्तक में।

5. शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, (1972)।

मिश्र,¹ डॉ. भोलानाथ तिवारी,² डॉ. कृष्णकुमार शर्मा,³ डॉ. सुरेशकुमार⁴ आदि विद्वानों ने किया है। इनमें डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने तो रोमन याकोब्सन के शैलीवैज्ञानिक मॉडल को स्वीकार भी किया है⁵ तथा डॉ. सुरेशकुमार⁶ ने भी शैली-विज्ञानिक प्रविधि का एक मॉडल प्रस्तुत किया है। किन्तु कोई भी मॉडल समर्थ और स्वीकार्य नहीं है, न हो ही सकता है जब तक कि हिन्दी की व्याकरण का मॉडल तैयार नहीं हो जाता और साहित्यशास्त्रियों में भाषा-वैज्ञानिक रुचि और पहुँच जाग्रत नहीं होती। सम्प्रति भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी भाषा की संरचना का अध्ययन किया जा रहा है, जिससे शैलीविज्ञान के मॉडल के विकसित होने की संभावनाएँ बढ़ती जा रही हैं।

संक्षेप में, भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली-विवेचन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य उभरते हैं—

1. शैली-विवेचन प्रारम्भ से ही भाषा-विश्लेषण से जुड़ा रहा है जिसको आनन्दवर्धन, कुन्तक आदि ने प्रकरण और प्रबन्ध जैसे वाक्य-संरचना से ऊपर के स्तरों पर भी जोड़ने का प्रयास किया है।
2. संस्कृत साहित्यशास्त्र पाणिनि के व्याकरण के मॉडल को स्वीकार करके चलता है, अतः व्याकरण की वैज्ञानिकता का प्रभाव संस्कृत साहित्यशास्त्र में भी रहा है।
3. संस्कृत साहित्यशास्त्र वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक की भाषा-संरचना के प्रत्येक स्तर की विवेचना करता है। इसमें अलंकार, रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्त सामान्य भाषा से वक्रित भाषा के विश्लेषण के आधार पर शैली का विवेचन करते हैं। ध्वनि-सिद्धान्त अर्थवैज्ञानिक विवेचन के आधार पर वक्रित अर्थ—‘प्रतीयमान’ अर्थ की विवेचना करता है। एक में भाषा-संरचना को अर्थ की वक्रता से जोड़ा गया है तो दूसरे में अर्थ की वक्रता की प्रक्रिया जानने के लिए भाषा-संरचना का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।
4. हिन्दी का आधुनिक साहित्यशास्त्र वस्तुनिष्ठता के लम्बे अन्तराल के बाद आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक विकास से प्रोत्साहित होकर पुनः शैली-

-
1. रीति-विज्ञान—डॉ. विद्यानिवास मिश्र, (1973)।
 2. शैलीविज्ञान—डा. भोलानाथ तिवारी (1977)।
 3. शैलीविज्ञान—की रूपरेखा—डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (1974)।
 4. शैलीविज्ञान—डॉ. सुरेशकुमार (1977)।
 5. शैलीविज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका—पृ. 44-45 एवं 56-68।
 6. शैलीविज्ञान—डॉ. सुरेशकुमार, पृ. 54-57।

विश्लेषण के लिए भाषा के वस्तुनिष्ठ विवेचन को अपनाकर चलने लगा है।

(इ) निष्कर्ष—शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया के स्वरूप का दोनों ही साहित्य-शास्त्रों में अध्ययन करने के बाद हम निम्नलिखित तथ्यों का प्राप्त करते हैं—

1. पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्रों में शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया को मुख्यतः वस्तुनिष्ठ बनाये रखने का ही प्रयास रहा है; किन्तु पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की अपेक्षा भारतीय साहित्यशास्त्र अधिक व्यवस्थित और भाषावैज्ञानिक रहा है। इसका मूल कारण भारत में भाषाविज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में विद्यमान समृद्धि ही रही है।
2. पाश्चात्य भाषाविज्ञान अनेक धाराओं (स्कूलज) में विभाजित और प्रवाहित है, अतः शैलीविज्ञान के अनेक मॉडल विकसित हुए हैं; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र में अपनाये गये व्याकरणिक मॉडल में भिन्नता नहीं दिखाई देती। हाँ, व्याकरण के तात्त्विक चिन्तन में मीमांसकों, न्यायवादियों अथवा बौद्धों की भिन्नता से शब्दार्थ के सम्बन्ध को लेकर अवधारणा-वैभिन्न्य अवश्य रहा है।
3. भारतीय साहित्यशास्त्र भाषा-संरचना से परे प्रकरण और प्रबन्ध के स्तर की वक्रता या ध्वन्यात्मकता के बारे में भी सजग और सुभावात्मक रहा है, जबकि पश्चिमी साहित्यशास्त्र अभी इस क्षेत्र में अधिक विकसित नहीं हो सका है।
4. पाश्चात्य शैलीविज्ञान और भारतीय शैलीविज्ञान के मॉडलों का परस्पर आदान-प्रदान करके, एक अधिक समर्थ मॉडल को तैयार किया जा सकता है; यद्यपि भाषा-विभिन्नता के कारण भिन्न भाषाओं के मॉडलों में अन्तर आना जरूरी है।

शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया का अध्ययन कर लेने के बाद आगामी प्रकरण में शैली के सम्बन्ध में विद्यमान-चयन की अवधारणा का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(च) शैली और चयन की अवधारणा

शैली को भाषा की 'विशिष्ट' संरचना के रूप में देखने पर प्रथम और सर्वाधिक प्रचलित अवधारणा यह मिलती है कि शैली भाषा का चयन (Selection) है। पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों में इस अवधारणा का विकास और स्वरूप किस प्रकार रहा, इसका अध्ययन इस तरह प्रस्तुत किया जा रहा है—

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

शैली को 'चयन' मानने के पीछे रचना की भाषा-संरचना को अन्य भाषा-संसार के बीच 'विशिष्ट' मानने की अवधारणा निहित है। इस 'विशिष्टता' का

निश्चय ही एक लक्ष्य होता है—वाणी के सौन्दर्य की सृष्टि, इसकी निश्चय ही एक प्रक्रिया होती है—कवि द्वारा आयोजित चयन-प्रक्रिया। यह आयोजना चेतन और अवचेतन दोनों ही रूपों में हो सकती है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में 'चयन' की यह अवधारणा सर्वप्रथम कोरीना द्वारा पिंडार को दी गई इस सीख में मिलता है कि—“हाथ से निकालकर बीज बोना चाहिए न कि पूरे बोरे के सहित।”¹ अर्थात् रचना की रचनाधर्मिता उसके चयनित होने में है, जिसके लिए रचनाकार को विशेष रूप से सजग होना चाहिए। प्लेटो का मानना था कि किसी भी सच्चे कलाकार ने—चाहे वह चित्रकार हो, गृह-निर्माता हो या कवि हो—अपनी सामग्री का चुनाव और उपयोग बिना समझे-बूझे नहीं किया है। सच्चे कलाकार का बराबर यही प्रयत्न रहता है कि उसकी कृति को एक निश्चित और प्रभावपूर्ण स्वरूप मिले।² अरस्तू काव्यशास्त्र के 'शीर्षक' के अन्तर्गत उसके उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि 'मेरा विचार है कि सत्काव्य के लिए आवश्यक कथानक के संगठन, काव्य के अंगों की संख्या एवं स्वरूप और इसी प्रकार इस अध्ययन की परिधि में आनेवाले अन्य विषयों का अनुशीलन किया जाये’³ और इस प्रकार अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' आद्योपान्त सुभावात्मक है, अतः रचना के हर स्तर पर चयन को महत्त्व देता है।

चयन के सम्बन्ध में सिसरो की अवधारणा अत्यन्त स्पष्ट है। उनके अनुसार अच्छी शैली उपयुक्त एवं शोभन शब्दों के चयन पर आधारित होती है और ये शब्द उस भाषा से लिए गये होते हैं जो मनुष्यों द्वारा सचमुच बोली जाती है, फिर भी वह देशज प्रयोगों, पिष्टपेषणों एवं उच्छिष्ट तत्त्वों से सर्वथा मुक्त होती हुई असामान्य रूपों और अलंकारों (रूपकों) के प्रयोग के कारण उन्नीत और रंजीत होती है।⁴ होरेस मानते हैं कि “कवि को रचना-प्रक्रिया के अवसर पर (उपयुक्त विषय का) चुनाव और (अनावश्यक का) त्याग करते रहना चाहिए।”⁵ होरेस इस 'चयन' की प्रक्रिया की शब्दों के संयोजन तक भी ले जाते हैं—“अपने आपको कुशलता के साथ अभिव्यक्त कर दिया है, यदि आपने एक परिचित शब्द का इस तरह का विधान कर दिया है कि उसमें नवीनता आ गई है।”⁶ इस प्रकार चयन और संयोजन (Combination) की अवधारणा को, जिसे रोमन याकोब्सन और मोरिस हाले

1. उद्धृत : समीक्षालोक—भगीरथ दीक्षित, पृ. 150।

2. उद्धृत : समीक्षालोक—भगीरथ दीक्षित, पृ. 176-77।

3. अरस्तू का काव्यशास्त्र—अनुवादक—डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ. 6।

4. उद्धृत : शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 42-43।

5. उद्धृत : समीक्षालोक—डॉ. भगीरथ दीक्षित, पृ. 265।

6. द आर्ट ऑफ पोयटी—होरेस, उद्धृत : मैकज ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, सम्पादक—बी. राजन और ए. जी. जॉर्ज, पृ. 97।

ने अब और अधिक विकसित किया है, होरेस ईसा के एक शताब्दी पूर्व ही अपना चुके थे।

डायोनीसियस ने 'ग्रॉन द अरेंजमेण्ट ऑव द वर्डज' (पद-योजना) ग्रंथ में शब्दों के चयन और विशेषरूप से संयोजन के चयन पर काफी प्रकाश डाला है। उसके अनुसार शब्दों की उचित व्यवस्था, उनका ठीक-ठीक क्रम साहित्यिक अभिव्यक्ति को आकर्षक बनाता है। साधारण शब्द भी उचित परिवेश में क्रम और व्यवस्था पाकर सुन्दर हो उठते हैं। डायोनीसियस के अनुसार तो शब्द-योजना शैली का पर्याय ही बन गई है।

क्विन्तिलियन भी शब्द-चयन को ही शैली का प्रमुख आकर्षण मानते हैं। उनका मत है कि नवीनों में अत्यधिक पुराने और पुरानों में अत्यधिक नवीन शब्द सामान्यतः वक्ताओं के लिए उपादेय होते हैं। उनका शब्द-चयन पर आग्रह शैली को सुज्य बनाने के लिए है। क्विन्तिलियन तो वाक्य-योजना में भी ऐसे चयन को महत्त्व देते हैं, जो काव्य में संगति और सम्बद्धता ला सकता है।

बेम्बो का चयनके सम्बन्ध में यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि—'शैली कैसी भी क्यों न हो हमारे शब्द सदैव सबसे पवित्र, अदूषित, निर्मल, सुन्दर और आस्वाद्य हों।¹ अतः शब्दों के उत्कृष्ट चयन से शैली तो स्वतः श्रेष्ठ हो जायेगी।

वेन जॉन्सन रचना को 'अनायास उच्छलन' नहीं, सायास सर्जना मानते हैं। इसीलिए उन्होंने शेक्सपीयर के आयासहीन लेखन को भी दोषपूर्ण बतलाया है। वे रचना को दुहराने, अपने शब्दों को पीछे लौटकर देखने और उन्हें विवेक की तुला पर तोलने को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार रचना में परिष्कार और तराश भी शैली के लिए आवश्यक है। ड्राइडन भी रचना को उन्मुक्त नहीं छोड़ना चाहते; बल्कि उसे कटे-छँटे परिष्कृतरूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। बोइलो और पोप भी शैली की उत्कृष्टता के लिए विवेक को महत्त्व देकर चयन की अवधारणा को ही प्रस्तुत करते हैं। डॉ. जॉन्सन भी सभी नव्य-शास्त्रवादियों की तरह प्रत्येक शब्द को अपने स्थान पर और प्रत्येक भाव को बुद्धि के अनुशासन में रखना चाहते हैं।

स्विफ्ट तो शैली को परिभाषित ही इस रूप में करते हैं कि शैली उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त शब्दों का चयन सिद्ध होती है। कॉलरिज भी कविता में सर्वोत्कृष्ट शब्दों को ही सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था में देखना चाहते हैं। वॉल्टर पेटर कहते हैं कि प्रत्येक लेखक शब्दों का सम्यक् अन्वेषण और चयन करता है। जिस सतर्कता से वह उन्हें ग्रहण करता है, उसी सतर्कता से उनका परित्याग भी। 'आत्मनियन्त्रण (अपने साधनों में कुशल मितव्ययता-निग्रह) का भी अपना सौन्दर्य है और पाठक को

शैली के उस कसाव में सौन्दर्यात्मक परितोष प्राप्त होगा, जहाँ प्रत्येक शब्द अपनी पूर्ण शक्ति के साथ संयोजित हो।¹

हर्बर्ट रीड तो चयन के सम्बन्ध में कहते हैं कि समस्त घटिया शैलियाँ शब्द-चयन के सुविचार के अभाव में ही जन्म लेती हैं।² वे अच्छी शैली के लिए शब्द-चयन में आनुप्रासिकता, रचना की लय और उसके आरोह-अवरोह को विशेष महत्त्व देते हैं। डाब्रे मानते हैं कि रचना में नए शब्दों का टंकन नहीं होता, फिर भी पुराने सिक्कों को ही वे इस अभिनव क्रम से सजाते हैं कि उनका प्रभाव ताजगी से भरा होता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में आनन्दवर्धन ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया है कि—“वाचस्पति भी नवीन अक्षर अथवा पदों की रचना नहीं कर सकते। और काव्य आदि में बार-बार उन्हीं-उन्हीं को उपनिबद्ध करने पर भी जैसे वे नवीनता के विरुद्ध नहीं होते, उसी प्रकार पदार्थरूप या श्लेषादिमय अर्थतत्त्व (भी नवीन नहीं बनाये जा सकते हैं) और अक्षरादि योजना के समान उनको उपनिबद्ध करने से नवीनता आ ही जाती है।”³ इस प्रकार शैली का उपजीव्य भाषातत्त्वों का सर्जन नहीं उनका नवीन चयन और संयोजन ही ठहरता है।

लुकास भी चयन को महत्त्व देते हुए कहते हैं कि परिनिष्ठित लेखक वह है जो यह जानता हो कि उसे क्या नहीं लिखना है।

शैली-विषयक अत्याधुनिक धारणाओं में चयन को बहुत महत्त्व प्राप्त हुआ है। क्लॉन्थ ब्रूक्स और पेन वारेन ने इस अवधारणा को प्रचारित किया।⁴ फ्रांसीसी शैलीविज्ञानिक धारा के जेराल्ड आंतवाँ ने शैली के मूल में ‘चयन’ को मानकर शैली के घटकों का परिगणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उल्मैन ने विचलन की अवधारणा में चयन को भी एक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।⁵ पर्याय एवं अर्द्ध-पर्याय शब्दों में से उपयुक्त के चयन में ही शैली की विद्यमानता मानी है। ओवेन बार-फील्ड भी काव्यात्मक प्रयोगों को शब्द और व्याकरण का चयन मानते हैं।⁶

शैली को चयन मानने की अवधारणा के साथ-साथ यह मान्यता भी निहित रहती है कि भाषाई घटकों का जब रचनाकार द्वारा चयन किया जाता है तो चयन निश्चय ही किसी व्यापक स्रोत से किया जाता है। और उसके लिए उस व्यापक स्रोत का स्वरूप भी निश्चित कर लेना आवश्यक है। इस दृष्टि से चयन की अवधारणा एक सापेक्षिक अवधारणा है। ओमान ने इसीलिए कहा कि काव्य-भाषा में

1. उद्धृत : पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा—डॉ. नगेन्द्र, पृ. 223।
2. इंग्लिश प्रोजेक्ट—हर्बर्ट रीड, पृ. 3।
3. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 4-15 कारिका।
4. अण्डरस्टेण्डिङ् पोयट्री (1950), पृ. 640।
5. स्टायल इन द नोवेल—स्टीफन उल्मैन (ओक्सफोर्ड) 1964, पृ. 9-10।
6. उद्धृत : टैन्स इन द नोवेल—ब्रोज़ेवार (1970), पृ. 25।

चयन की अवधारणा तभी कार्य कर सकती है जब व्यापक रूप में हम गद्यभाषा के रूप को स्थिर कर सकें, जहाँ कि चयन किये जाने की प्रवृत्ति स्पष्ट नजर आ सके।¹

शैली की चयन-अवधारणा के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए, एवं इस अवधारणा से सम्बन्धित पेचीदगियों की ओर संकेत करते हुए एंक्विस्ट कहते हैं कि एक उक्ति को अन्य उक्तियों में से चयन मानने का आशय यह होगा कि अर्थ के स्तर पर वे सभी उक्तियाँ समान होंगी; किन्तु यह कहाँ जरूरी है और व्यावहारिक है कि दो उक्तियों की सूचना समान ही हो। द्वितीय, दो भिन्न उक्तियों का प्रयोग भिन्न संदर्भों में हो सकता है, अतः संदर्भ के स्थिर नहीं होने से दो उक्तियों को केवल शैलीगत भिन्नता मानलेना उपयुक्त नहीं है। तृतीय, रचनाकार को भाषा की सीमाएँ कितना बाँधती हैं और वह भाषा-प्रयोग में कितना स्वतन्त्र है, अर्थात् कोई उक्ति भाषा की प्रकृति की विवशता है या रचनाकार की चयन की स्वतन्त्रता का परिणाम है, यह तय करना मुश्किल है।² फिर जैमा कि अंगस् मैकिन्टोश ने कहा है कि चयन के आधार पर शैली का निर्धारण करने के लिए नाम का—चयन के स्रोत का—प्रभूत ज्ञान और उसका स्वरूप-निर्धारण करना आवश्यक है।³ संक्षेप में, चयन की अवधारणा से सन्दर्भ, नाम और विचलन आदि से सम्बन्धित अनेक अवधारणाएँ जुड़ जाती हैं, इसलिए इन अवधारणाओं से निरपेक्ष होकर चयन का अध्ययन नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका आशय यह तो कभी भी नहीं निकाला जा सकता कि शैली के सन्दर्भ में चयन का महत्त्व नहीं है, निश्चय ही शैली चयन है। इस अवधारणा का वैज्ञानिक अध्ययन के लिए नाम (प्रतिमान भाषा) और सन्दर्भ का अध्ययन भी आवश्यक होगा।

संक्षेप में, पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली की अवधारणा में चयन को प्रभूत महत्त्व प्राप्त है और उसके विस्तृत अध्ययन के लिए अब प्रतिमान भाषा का स्वरूप-निर्धारण करने का व्यापक प्रयत्न चल रहा है तथा 'सन्दर्भ' पर भी विचार किया जा रहा है, जिसका विवेचन आगे किया जा सकेगा।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

ऋग्वेद में ही रचना को परिष्कृत और शोधित रूप में प्रस्तुत करने की अवधारणा विद्यमान थी और शोधन-प्रक्रिया में चयन की अवधारणा निहित ही रहती है। किन्तु चयन का स्पष्ट स्वरूप मामह में दिखाई देता है। वे कहते हैं कि—“यह

1. प्रोलोगोमेना टू द एनेलिसिस ऑफ प्रोजेक्टाइल—रिजर्ड ओमान, संकलित—स्टाईल इन प्रोजेक्शन, सं. एच. सी. मार्टिन (न्यूयार्क, 1959), पृ. 15।
2. लिक्विस्टिक्स एण्ड स्टाइल—जॉन स्नेसर (ओक्सफोर्ड, 1964), पृ. 22-23।
3. पैटर्न्स ऑफ लैंग्वेज, पेपर्स इन जनरल, डिस्क्रिप्टिव एंड अप्लाइड लिक्विस्टिक्स-अंगस् मैकिन्टोश और एम.ए. के हेलीडे (लॉन्गमैन, 1966), पृ. 47।

सुगन्धित फूल ग्रहण करने (लगने) योग्य है; यह भद्दा है; अतः त्याज्य है, यह गूँथने पर सुन्दर लगेगा; इसका यह (उपयुक्त) स्थान है और इसका यह। इस प्रकार फूलों को अच्छी तरह पहचानकर जैसे माली, माला बनाता है, उसी प्रकार सावधान बुद्धि से काव्यों में शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।¹ भामह के उक्त कथन में शैली के सम्बन्ध में चयन की अवधारणा ही निहित रही है। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमान का चयन उपमेय की अनुकूल दिशा में किया जाता है। विरोधमूलक अलंकारों में उपमान एवं कार्य का चयन उपमेय से प्रतिकूल दिशा में किया जाता है, जबकि शृंगलामूलक अलंकारों में स्थितियों, शब्दों आदि के चयन में भी समरूपता की चयन-योजना निहित रहती है।

वामन काव्य-पाक प्रकरण उठाते हुए कहते हैं कि “जिस अवस्था में पहुँचकर कवि पद-परिवर्तन महत्त्व को छोड़ देते हैं, अर्थात् कवि ने जहाँ जो पद एक बार रख दिया उसको बदलकर कोई और सुन्दर शब्द वहाँ रख सकना सम्भव नहीं रहता है, कवि की उस स्थिति को शब्द-विन्यास में निपुण (महाकवि) शब्द-पाक कहते हैं।”² अर्थात् शब्द-पाक की पराकाष्ठा चयन की पराकाष्ठा ही है और शब्द-पाक की अवधारणा के पीछे चयन की अवधारणा ही कार्य करती है। इसी तरह वे ‘अवेक्षण’ की प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि पद के आधान (रखने) और उद्धरण (हटाने) को अवेक्षण कहते हैं।³ यह ‘आधान’ और उद्धरण चयन की प्रक्रिया को ही द्योतित करते हैं। चयन की प्रक्रिया को रचनाकार से जोड़ते हुए वामन कहते हैं कि “जब तक मन (पद की उपयोगिता के विषय में) स्थिर नहीं होता तब तक पद का रखना और हटाना होता ही रहता है। और (कवि के पदों में) स्थिरता स्थापित हो जाने पर तो सरस्वती सिद्ध हुई समझो।”⁴ इस प्रकार वामन चयन की अवधारणा को रचना के स्वरूप और रचनाकार दोनों से जोड़कर स्पष्ट करते हैं। वामन का गुण-दोष एवं अलंकार-निदर्शन इस चयन की अवधारणा से ही जुड़ा हुआ है और और वे इन्हीं (गुण-दोष-अलंकार) तत्त्वों के आधार पर सामान्य पद-रचना से विशिष्ट पद-रचना के चयन की प्रक्रिया स्पष्ट करते हैं।

आनन्दवर्धन कवि के लिए चयन के महत्त्व को समझते हुए कहते हैं “वह (प्रतीयमान) अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द इन दोनों को भली प्रकार पहिचानने का प्रयत्न महाकवि को करना चाहिए।”⁵ अर्थात् महाकवित्व तो

1. काव्यालंकार—भामह, 1-59।
2. काव्यालंकारसूत्र वृत्ति—वामन 1-3-15 वृत्ति।
3. वही।
4. काव्यालंकारसूत्र वृत्ति—वामन 1-3-15 वृत्ति।
5. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 1-8।

प्रतीयमान अर्थ के लिए विशेष शब्द के चयन में ही है। क्योंकि वाचस्पति भी नवीन अक्षर अथवा पदों की रचना नहीं कर सकते, इसलिए कवि का कार्य केवल वर्तमान अक्षर अथवा पदों को उपनिबद्ध करना ही है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार 'विशेष शब्द' को 'पहिचानना' और 'उपनिबद्ध' करना ही कवि का कार्य है और इन दोनों प्रक्रियाओं में चयन की अवधारणा ही निहित रहती है।

कुन्तक ने चयन की अवधारणा के सम्बन्ध में भी स्पष्ट विचार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं कि "अन्य (पर्यायवाची) शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुः) शब्द कहलाता है। शब्द के चयन के सम्बन्ध में आगे और कहते हैं कि—“यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है, फिर भी उस प्रकार के धर्म से (उसका) सम्बन्ध काव्य में वर्णन किया जाता है जो धर्म-विशेष सहृदयों के हृदय में आनन्द को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है। और उस (धर्म) में ऐसी सामर्थ्य संभव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता उस (धर्म) में ऐसी सामर्थ्य संभव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की क्षमता (अंगतः) अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है।”¹ इस प्रकार कुन्तक काव्य के सन्दर्भ में शब्द का आशय ही चयनित शब्द से लेते हैं। वे शब्द के चयन में शब्द के सन्दर्भ तथा उसके अर्थ की विभिन्न छायाओं (धर्मों) का विचार भी करते हैं। वे इसे अपने ग्रन्थ में सौदाहरण² स्पष्ट करते हैं। कुन्तक की वक्तृता के कारणों में चयन की प्रक्रिया एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, किन्तु उनकी पर्याय-वक्तृता में तो स्पष्ट ही चयन की ही प्रक्रिया रहती है, जहाँ कवि प्रकरण के अनुरूप विशेष पद का चयन करता है।

महिम भट्ट अलंकारों में चयन को महत्त्व देते हुए कहते हैं कि “कवि शक्तिमान होते हुए भी किसी एक अलंकार को अपनाता है, यद्यपि अलंकार बहुत से उपस्थित रहते हैं।”³ क्षेमेन्द्र के आक्षेप के पीछे भी चयन की प्रक्रिया कार्य करती है। हाँ, चयन का आधार आक्षेप अवश्य रहता है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र में आद्योपान्त चयन की अवधारणा का महत्त्व रहा है और चयन के सम्बन्ध में 'सन्दर्भ', प्रतिमान भाषा आदि तत्त्वों को भी विचारणीय माना गया है, जिसका कि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में एंक्विस्ट, मैकिण्टोश और ओमान आदि शैलीविज्ञानिकों ने भी विवेचन किया है।

हिन्दी साहित्यशास्त्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि कविता एक अपूर्व रसायन है और वह यथोचित शब्दों के उपयोग न करने से बिगड़ सकता है।⁴

1. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-9 कारिका।

2. वही, श्लोक 25-26 आदि।

3. व्यक्तिविवेक—महिम भट्ट, 2-78।

4. बोलचाल—हरिऔध, पृ. 43।

हरिऔध जी कहते हैं कि 'कवि-कर्म हो ही नहीं सकता यदि कवि शब्दों को काटे-छाँटे नहीं, उनको छील-छालकर ठीक-ठीक न बिठाल सके।' रामचन्द्र शुक्ल 'कविता क्या है ?' लेख में कहते हैं कि जाति-संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्दों पर ही कवित्व आधारित रहता है। अतः उनके अनुसार रूप-व्यापार-सूचक शब्दों के चयन में ही शैली विद्यमान रहती है।

अज्ञेय कुन्तक के विचारों के समानान्तर ही चयन के सम्बन्ध में कहते हैं कि—शब्द अपने आप में पूर्ण या आत्यन्तिक नहीं है। किसी शब्द का कोई स्वयंभूत अर्थ नहीं है, अर्थ उसे दिया गया वह संकेत है जिसमें अर्थ की प्रतिपत्ति की गयी है।' 'एक मात्र उपयुक्त शब्द' की खोज करते समय हमें शब्दों की यह तदर्थता नहीं भूलनी होगी, वह 'एकमात्र' इसी अर्थ में है कि हमने (प्रेषण को स्पष्ट और निर्मम बताने के लिए) नियम किया है कि शब्द-रूपी अमुक एक संकेत का एक मात्र अभिप्रेत क्या होगा।¹ यहाँ अज्ञेय का संकेत शैली के लिए चयन के महत्त्व को स्पष्ट करता है।

परवर्ती साहित्यशास्त्रियों में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, मोहन राकेश, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, डॉ. भोलानाथ तिवारी आदि ने भी शैली के लिए चयन की अवधारणा का संकेत तो किया है; किन्तु वह उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता। उस सम्बन्ध में डॉ. विद्यानिवास मिश्र की शैली के सम्बन्ध में यह अवधारणा अधिक महत्त्वपूर्ण है कि 'शैली रचनाकार के द्वारा चुनी गयी सम्भावनाओं और साँचों का गुम्फन है....'² डॉ. सुरेशकुमार कहते हैं कि अभिव्यक्ति के प्रसंग तथा उद्देश्य के अनुरूप उपलब्ध भाषागत विकल्पों में से उपयुक्त का चयन (Selection) ही शैली का मूल पहलू है।³

संक्षेप में, भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली को चयन के सन्दर्भ में विवेचित किया जाता रहा है। सामयिक साहित्यशास्त्र में भाषा-दृष्टि के सजग हो जाने से अब इस अवधारणा पर विशेष विचार किया जाने लगा है।

(इ) निष्कर्ष—

1. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों में शैली को सामान्य अभिव्यक्ति की तुलना में विवेचित किया गया है और शैली को एक सापेक्षिक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया गया है, इसलिए शैली से चयन की अवधारणा स्वतः जुड़ी रही है।
2. शैली को 'चयन' मानने के सम्बन्ध में दोनों ही साहित्यशास्त्रों में प्रतिमान-भाषा और सन्दर्भ इन दो तत्त्वों के साथ भी जोड़ा गया है।

1. तीसरा सप्तक—सं० अज्ञेय (भूमिका), पृ. 7-8।

2. रीतिविज्ञान—डॉ० विद्यानिवास मिश्र, पृ. 51।

3. शैलीविज्ञान—डॉ० सुरेशकुमार, पृ. 70।

शैली का सम्बन्ध रचना की विशिष्टता से है और क्योंकि रचना भाषा है, अतः विशिष्टता भी भाषा के स्तर पर ही होगी। इसलिए रचना की विशिष्टता को जाँचने के लिए उस प्रतिमान-भाषा का स्वरूप भी शैली-विश्लेषण की पृष्ठभूमि के लिए आवश्यक हो जाता है, जिसकी तुलना में रचना की भाषा को विशिष्ट कहा जा सके। प्रतिमान-भाषा के रूप में शास्त्रीय भाषा, सामान्य बोल-चाल की भाषा—‘वार्ता’ आदि की अवधारणाएँ विद्यमान रही हैं। इसके अतिरिक्त एक भाषा-रूप एक सन्दर्भ में ‘वार्ता’ कहा जा सकता है और वही भाषा-रूप दूसरे सन्दर्भ में काव्य माना जा सकता है, इसलिए भाषा के चयन में ‘सन्दर्भ’ का विशेष महत्त्व है। स्वाभाविक रूप से विषय पर भी दोनों ही शास्त्रों में विचार हुआ है।

3. चयन की अवधारणा से कवि-कर्म भी जुड़ा रहा है, क्योंकि कवि ही तो चयन करता है। इसलिए कवि की प्रतिभा और उसके अभ्यास को भी चयन के अन्तर्गत विवेचित किया जाता है।
4. शैली को चयन मानने का महत्त्वपूर्ण तर्क यह रहा है कि प्रायः भाषा के घटकों का सर्जन नहीं किया जाता; बल्कि उनका विशिष्ट चयन और संयोजन करके ही रचना में वैशिष्ट्य उत्पन्न कर दिया जाता है। अतः शैली का चयन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।
5. चयन से आशय न केवल विभिन्न शब्दों में से किसी एक उपयुक्त शब्द के चयन से ही है; बल्कि भाषा के विभिन्न घटकों के संयोजन के विभिन्न विकल्पों में से किसी एक के चयन से भी है, अतः चयन की अवधारणा भाषा के हर स्तर पर विद्यमान रहती है।

शैली के सम्बन्ध में चयन की अवधारणा के विवेचन बाद अब शैली से सम्बन्धित दूसरी अवधारणा—‘शैली विचलन है’ का अध्ययन आगामी प्रकरण में किया जा रहा है।

(छ) शैली : विचलन (Deviation)

साहित्य निश्चय ही भाषा है; किन्तु ऐसी भाषा जो अपनी संरचना की प्रकृति के आधार पर अन्य भाषा-व्यवहारों से भिन्न अस्तित्व रखती है। अतः साहित्यशास्त्र की मुख्य चिन्ता इस भाषा की प्रकृति का ही अनुसन्धान करने की रही है। इस चिन्ता में ही यह तथ्य उभर कर आया है कि साहित्य भाषा तो है; पर भाषा का एक ‘विशिष्ट’ रूप है जिसे भारतीय साहित्यशास्त्र में ‘वक्र’ रूप कहा गया है और पश्चिमी साहित्यशास्त्र में विचलित (Deviated) रूप। इस प्रकरण में यही विवेचन करना है कि शैली को विचलन मानने की अवधारणा दोनों साहित्यशास्त्रों में किस रूप में विकसित हुई है।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में विचलन की अवधारणा की स्थापना अरस्तू ने ही इतनी सक्षमता के साथ कर दी थी कि वह आज तक स्थापित रही है। अपने 'काव्य-शास्त्र' में 'काव्य-पदावली' के सन्दर्भ में वे कहते हैं कि प्रचलित मुहावरे में थोड़ा परिवर्तन कर देने से भाषा में चमत्कार आ जाता है।¹ वे कवि की भाषा के सम्बन्ध में कहते हैं कि सबसे बड़ी बात तो यह है कि कवि लक्षणा के प्रयोग में सिद्धहस्त हो।² वे शैली का सबसे बड़ा दोष भी घिसे-पिटे, अनूतन और बनावटी अलंकारों के प्रयोग में मानते हैं। वस्तुतः अरस्तू 'असम्भावित' कार्यों के चित्रण को रचना में अनिवार्य मानते हैं, महाकाव्य में तो विशेषरूप से। वे 'प्रकृति' के साथ-साथ 'सम्भाव्यता' को भी सर्जन के लिए आवश्यक मानते हैं। अतः असम्भावित और सम्भाव्य के चित्रण के लिए रचना में विचलन की सम्भावना रहती है और अरस्तू ने इस प्रकार के विचलन को भी अनिवार्य माना है।

विवतिलियन मानते हैं कि काव्य में संगति और सम्बद्धता लाने के लिए सामान्य वाक्य-योजना को तोड़ना भी पड़ जाता है। वे शब्दों को मान्य क्रम में न रख कर शैली को प्रभावात्मक बनाने का सुझाव देते हैं, और इस प्रकार वाक्य-विचलन की अवधारणा प्रकट करते हैं।

आधुनिक युग में कॉलरिज ने शैली के लिए विचलन को विशेष महत्त्व दिया है। वे वर्डस्वर्थ की 'लोक-भाषा' की अवधारणा का विरोध करते हुए कहते हैं कि काव्य-भाषा सामान्य बोल-चाल की भाषा एवं गद्यभाषा से भिन्न होती है। वे सिद्ध करते हैं कि वर्डस्वर्थ की उत्कृष्ट रचनाओं में भी सामान्य भाषा का परित्याग देखा जा सकता है। कविता के मूल में भावों का वेग रहता है और उस वेग के परिणाम-स्वरूप अभिव्यक्ति भी विशिष्ट अर्थात् विचलनमयी होती है।

आधुनिक पाश्चात्य शैली को विचलन मानने की एक प्रबल अवधारणा रही है। इसको अपनानेवालों में मुकारोवस्की, रिफातेअर, बर्नाड ब्लाख, रोजर फाउलर, रैन्सम, स्टीफन उल्मैन, रिचर्ड ओमान, एंक्विस्ट, जोफ्री लीच आदि प्रमुख हैं।

रूसी रूपवादी साहित्यिक कृति में विद्यमान उन उपादानों को महत्त्व देते हैं जो भाषा के प्रतिष्ठित प्रतिमान से विचलन करके अस्तित्व में आते हैं तथा कृति में साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। विक्टर श्लोवस्की यथार्थ से विचलन या उसे वैचित्र्य प्रदान करने को ही समस्त कलाओं का मूल मानते हैं।

1. स्टेण्डर्ड लैंग्वेज एण्ड पोयटिक लैंग्वेज—

मुकारोवस्की, संकलित—लिग्विस्टिक्स एण्ड लिटरेरी स्टाइल—फ्रीमेन, पृ. 42।

2. अरस्तू का काव्यशास्त्र : अनुवादक—डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. महेन्द्र चतुर्वेदी, पृष्ठ 58।

चैक शैलीवैज्ञानिक मुकारोवस्की मानते हैं कि काव्य-भाषा सामान्य भाषा की संरचना को तोड़कर संरचित होती है। सामान्यभाषा का विधिवत विपथन (Systemic Violation) ही भाषा का काव्यात्यक उपयोग है। इस विपथन के अभाव में कविता की रचना सम्भव नहीं है।¹ प्राग स्कूल की अग्रप्रस्तुति (Foregrounding) की अवधारणा भी, जिसे मुकारोवस्की ने विशेष महत्त्व प्रदान किया है, विचलन के संदर्भ में विवेचित की जा सकती है। यह माना जाता है कि भाषा में प्रसंगभेद से दो प्रकार के अभिव्यक्ति रूप पाये जाते हैं—सामान्य अभिव्यक्ति (Automatization) और विशिष्ट अभिव्यक्ति जिसे अग्रप्रस्तुति (Foregrounding) भी कहा गया है। साहित्यिक रचना में अग्रप्रस्तुति की प्रधानता और सामान्य अभिव्यक्ति की गौणता होती है। ये दोनों अभिव्यक्तियाँ हमेशा आन्तरिक तनाव, वैषम्य, असंगति और अनेकार्यता के सम्बन्धों से जुड़ी रहती हैं। सामान्य अभिव्यक्ति के फलक पर अग्रप्रस्तुति को सहज ही पहचाना जा सकता है। साहित्यिक रचना में यह कण्ट्रास्ट अनिवार्य रूप से होता है। यह अग्रप्रस्तुति सहेतुक विचलन (व्याकरणिकता और आवृत्ति (Frequency) के संदर्भ में तथा समानान्तरता (Parallelism—किसी भाविक विधान की पुनरावृत्ति की नियमितता) के संदर्भ में सजित होती हुई देखी जाती है।²

अग्रप्रस्तुति की अवधारणा के संदर्भ में ही प्राग स्कूल में 'प्रमुखता' (Dominance) की अवधारणा भी उभर कर आई है। इस अवधारणा के अनुसार एक रचना में अनेक घटक होते हैं जिसमें एक घटक अन्य घटकों को नियन्त्रित करता है। यह नियन्त्रक घटक प्रमुख (डोमिनेण्ट) घटक कहलाता है। प्रमुख घटक की प्रधानता के कारण अन्य घटक सामान्य स्थिति में होते हैं और प्रमुख घटक विशिष्ट स्थिति में। इस प्रकार प्रमुखता की अवधारणा भी ऐसी स्थिति का संकेत करती है जिसमें कुछ घटक अन्य घटकों के मुकाबले विचलन (विशिष्टता) की स्थिति में होते हैं।

माइकेल रिफातेअर भी प्रतिमान (Norm) और उससे विचलन की अवधारणा में विश्वास रखते हैं। वे शैली के साथ सन्दर्भ (Context) को जोड़कर उसे भी प्रतिमान के रूप में स्वीकार करते हैं। एक सहृदय के लिए विचलन से आशय उसके स्वयं के भाषा-बोध और भाषा-अनुभव (जो कि उसका व्यष्टि-सन्दर्भ, (Micro-Context है) की तुलना में रचना की भाषा की विशिष्टता से लगाया जा सकता है। अतः विचलन की प्रतीति प्रत्येक सहृदय के भाषा-अनुभव की भिन्नता के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है।

जोफ्री लीच मानते हैं कि साहित्यिक भाषा सामान्य भाषा से विचलनमयी

1. टेंस इन नोवेल-क्रोज़वार—पृ. 27।

2. संरचनात्मक शैलीविज्ञान—डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (1979), पृ. 48-61।

(Deviated) होती है। यह विचलन शब्द, व्याकरण, ध्वनि, लिखावट, अर्थ, बोली, रजिस्टर एवं ऐतिहासिक काल आदि कई स्तरों पर होता है।¹

शैली को विचलन मानने की अवधारणा एक सापेक्षिक अवधारणा है। अतः विचलन का अध्ययन करने के लिए पहले प्रतिमान का निर्धारण आवश्यक है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में विचलनवादी शैलीवैज्ञानिकों ने प्रतिमान के बारे में दो तरह के विचार प्रकट किये हैं—

1. एंक्विस्ट मानते हैं कि प्रतिमान भाषा को सम्पूर्ण भाषा के अध्ययन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि प्रतिमान भाषा सम्पूर्ण भाषा का ही एक भाग है और उसको आलोच्य साहित्यिक कृति की भाषा की तुलना में परखा जा सकता है।²

किन्तु एंक्विस्ट की इस अवधारणा में उन ऐतिहासिक कृतियों की भाषा का तो अध्ययन नहीं किया जा सकता, जिनके 'प्रतिमान' अब विद्यमान ही नहीं हैं। दूसरे, सन्दर्भ के अनुसार भाषा इतनी अधिक परिवर्तित हो जाती है कि प्रतिमान भाषा का रूप तय करना ही मुश्किल हो जाता है। सन्दर्भ के बदलने से एक ही भाषा एक स्थान पर काव्य-भाषा और दूसरे स्थान पर सामान्य भाषा बन जाती है। फिर आज जो प्रतिमान भाषा है वह कल काव्य-भाषा भी बन सकती है। इस प्रकार एंक्विस्ट की प्रतिमान भाषा की अवधारणा व्यावहारिक नहीं है।

2. डेविड क्रिस्टल, माइकेल रिफातेग्रर आदि सन्दर्भवादी मानते हैं कि प्रतिमान भाषा के लिए सम्पूर्ण भाषा की अवधारणा निरर्थक है, क्योंकि काव्य-भाषा के सन्दर्भ में सहृदय की शैली-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ सामान्य भाषा पर आधारित नहीं होती; बल्कि सहृदय के स्वयं के भाषा-अनुभव या स्वयं की भाषा-योग्यता पर निर्भर होती हैं।

रिफातेग्रर की व्यक्ति-सन्दर्भ की अवधारणा भी तर्क-संगत लगने के बावजूद अव्यावहार्य इसलिए प्रतीत होती है कि व्यक्ति-सन्दर्भ का वस्तुगत अध्ययन नहीं किया जा सकता। किन्तु साहित्य-समीक्षा समीक्षक के अन्तर्ज्ञान पर बहुत निर्भर करती है, इसलिए व्यक्ति-सन्दर्भ के महत्त्व को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

विचलनवादी शैलीवैज्ञानिकों ने विचलन के प्रसंग में 'रजिस्टर' 'कोलोकेशन' आदि की अवधारणाओं को भी प्रस्तुत किया। नवप्रथियन शैलीवैज्ञानिकों का मानना है कि स्थिति, प्रसंग आदि के अनुसार भाषा अपना रूप प्राप्त करती है, अतः प्रसंग की भिन्नता से भाषा की भिन्नता को विचलन नहीं मानना चाहिए। विचलन तो एक सन्दर्भ-विशेष में, सम्भावित सामान्य भाषा से सोद्देश्य भिन्न भाषा-रूप में होता है।

1. ए लिग्विस्टिक गाइड टू इंग्लिश पोयट्री—जोफ़ी एन. लीच, पृ. 45-53।

2. लिग्विस्टिक्स एण्ड स्टाइल—सं. स्पेन्सर, पृ. 24।

एक सन्दर्भ-विशेष में प्रयुक्त हो सकनेवाले समानधर्मी, समान-सन्दर्भवान शब्दों के समुच्चय को लेक्सिकल-सैट कहा जाता है और उस सन्दर्भ-वृत्त को 'कोलोकेशन' की संज्ञा दी जाती है। एक स्थिति-विशेष में, एक सन्दर्भ-विशेष में भाषा-प्रयोग को रजिस्टर कहा जाता है। धर्म, राजनीति, कानून, पत्र-कारिता आदि के सन्दर्भ में भाषा के प्रयोग भिन्न-भिन्न होते हैं और ये भिन्न-भिन्न रजिस्ट्रों का निर्माण करते हैं। शैली इन रजिस्ट्रों के अनुसार भाषा-भिन्नता में नहीं होती, एक ही रजिस्टर में होने वाले भाषा के 'अतिक्रमित' रूप में होती है।

पाश्चात्य शैलीविज्ञान में तोदोरोव जैसे साहित्यशास्त्री भी हैं जो एक कथन को दूसरे कथन से विचलित मानने को उपयुक्त नहीं मानते। वे कहते हैं कि प्रत्येक कथन अपने आप में 'विशिष्ट' होता है। शैली अपनी आन्तरिक संरचनाओं में निराली ही होती है। प्रत्येक रचना यद्यपि एक-दूसरे से भिन्न होती है, किन्तु विचलित नहीं।¹ क्रोचे की अवधारणाओं की परम्परा में तोदोरोव की मान्यताओं का अपना सैद्धांतिक महत्त्व तो है; किन्तु व्यावहारिक विश्लेषण के तौर पर सामान्यतः विचलन की अवधारणा को स्वीकार ही किया गया है।

संक्षेप में, पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में और विशेष रूप से सामयिक शैली-विज्ञान में विचलन की अवधारणा का बहुत महत्त्व है और इससे सामान्य भाषा और काव्य-भाषा के सम्बन्धों को समझने में बहुत उपलब्धि रही है। शैलीवैज्ञानिक विचलन की खोज में ही कोलोकेशन, रजिस्टर, व्यक्ति-सन्दर्भ और समूह-सन्दर्भ आदि अवधारणाओं का भी जन्म हुआ है, जिससे विचलन की अवधारणा में निखार आया है। किन्तु विचलन की अवधारणा शैली के सभी प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती, इसलिए इस अवधारणा की सीमाओं की ओर संकेत करते हुए रोजर फाउलर कहते हैं कि विचलन के सिद्धांत को शैली-विशेषण के अन्य सिद्धांतों का स्थान नहीं लेना चाहिए। कृति की स्वनिष्ठ (अतुलनात्मक) समीक्षा भी की जाती है, न कि सदैव काव्य-भाषा और प्रतिमान भाषा की तुलना ही की जाती रहती है।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

विचलन की अवधारणा भारतीय साहित्यशास्त्र में भामह द्वारा प्रस्तुत की जा चुकी थी। भामह मानते थे कि—“सूर्य अस्त हो गया; चन्द्रमा चमक रहा है; पक्षी घोंसलों में जा रहे हैं”² आदि वाक्य काव्य नहीं हैं। इस प्रकार के वाक्यों एवं 'निन्तान्त' आदि शब्दों के प्रयोग से वाणी में सौन्दर्य नहीं आता। वह तो शब्दार्थ के वक्र प्रयोग से ही सम्भव होता है।³ फिर वे अतिशयोक्ति अलंकार का लक्षण देते

1. उद्धृत : लिटरेरी स्टाइल : ए सिम्पोजियम—सैमूर चैटमेन, (ओक्सफोर्ड, 1971), पृ. 32।

2. काव्यालंकार-भामह, 2-87।

3. वही, 1-36।

हैं कि—“किसी कारणवश लोकोत्तर अर्थ का बोधक जो वचन है उसे अतिशयोक्ति अलंकार मानते हैं।”¹ इस प्रकार अतिशयोक्ति को ‘लोकोत्तर अर्थ का बोधक मानकर उसे लोक-अर्थ का विचलित रूप ही मानते हैं। यही नहीं, भामह तो इस लोकोत्तर अर्थ की प्रक्रिया को काव्य में अत्यन्त व्यापक आधार भी प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि “यह अतिशयोक्ति ही समग्र वक्रोक्ति (अलंकार-प्रपञ्च) है। उससे अर्थ में रमणीयता आती है। कवि को इसके लिए प्रयास करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना कौन अलंकार सम्भव है?”² अर्थात् भामह के अनुसार अलंकार वक्रता है, वक्रता ही अतिशयोक्ति है और अतिशयोक्ति लोकोत्तर अर्थ है। अर्थात् लोकोत्तर अर्थ सामान्य अर्थ से, सामान्य भाषा (वार्ता) से भिन्न है, विचलन है। भामह की इसी वक्रता की अवधारणा पर कुन्तक का ‘वक्रोक्तिजीवितम्’ विकसित हुआ है, विचलन की अवधारणा वहाँ अधिक पुष्ट हुई है।

अलंकार-सिद्धांत के अन्तर्गत सादृश्यमूलक एवं विरोधमूलक अलंकारों में उपमानों या उक्तियों के चयन में लोकातिक्रान्तता’ दिखाई पड़ती है, अतः इन अलंकारों में सामान्य भाषा से विचलन की अवधारणा निहित रहती है। इसी तरह वाक्यन्याय-मूलक अलंकारों (यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय आदि) में वाक्य-संरचना के स्तर पर विचलन विद्यमान रहता है तथा गूढार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकारों (व्याजोक्ति, अर्थ-वक्रोक्ति, सूक्ष्म, भाषिक, समासोक्ति आदि) में वाक्यार्थ का विचलन रहता है। अतः अलंकारों के लक्षण एवं उनके वर्गीकरण में विचलन की अवधारणा निहित रही है।

वामन ने काव्य की आत्मा ‘पद-रचना की विशिष्टता’—रीति को माना है और यह विशिष्टता प्रकारान्तर से पद-रचना का विचलन ही है। वामन इस विचलन को एक स्पष्ट आकार देने के लिए गुण, दोष और अलंकार—इन तीन घटकों की कल्पना करते हैं। गुण और अलंकार की उपस्थिति और दोष की अनुपस्थिति पद-रचना में विशिष्टता ला देती है। इसके अतिरिक्त यह ‘विशिष्टता’ कभी-कभी दोषों में भी देखी जा सकती है। एकार्थ या पुनरुक्ति दोष को वामन वहाँ दोष नहीं मानते, जहाँ कोई विशेष प्रतिपाद्य हेतु पुनरुक्ति हुई हो।³ अतः सामान्य काव्य-नियमों का विचलन भी सम्मानित हो सकता है।

आनन्दवर्धन ने विचलन को पर्याप्त महत्त्व दिया है। वे मानते हैं कि सामान्य वाक्य-वाचक-रचना मात्र से काव्य की सृष्टि नहीं होती, वह तो व्यंग्य-व्यंजक के सुन्दर प्रयोग से ही सम्भव होती है।⁴ यह वाच्य-वाचक-रचना सामान्य रचना है और

1. काव्यालंकार-भामह, 2-81।

2. वही, 2-84।

3. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन—2-2-12।

4. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 1-8।

व्यंग्य-व्यंजक-रचना सामान्य का विचलनमय रूप है। आनन्दवर्धन उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर ही किसी भाषाकार को कवि मानते हैं। जहाँ (जिस वस्तु के विषय में) लोगों (सहृदयों) को 'यह कोई नई सूझ (स्फुरणा) है' इस प्रकार की अनुभूति होती है (नयी या पुरानी) जो भी हो, वही वस्तु रम्य कहलाती है।¹ अर्थात् 'स्फुरणा' की 'अद्वितीयता' स्फुरणा की सामान्यता से भिन्न—विचलित रूप ही होता है।

वामन की तरह आनन्दवर्धन ने परम्परित दोषादि की भी चिन्ता नहीं की, यदि उससे काव्यत्व की प्राप्ति है तो। यदि काव्य-भाषा कुछ विशेष कहती है तो यह व्यवस्था से विपथन करती हुई भी उचित है। उसे व्यंजक होना चाहिए, विशेष रूप से प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करने में सक्षम होना चाहिए।²

आनन्दवर्धन ने काव्य का विभाजन ध्वनि की प्रधानता, गीणता एवं अभाव के आधार पर (1) ध्वनि-काव्य (2) गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और (3) चित्र-काव्य किया है उनके यहाँ की व्यंग्य की प्रधानता और अप्रधानता को संरचना के स्तर पर विचलन की प्रधानता और अप्रधानता से जोड़ा जा सकता है, जिसके आधार पर शैली का निर्णय हो सकता है।

आनन्दवर्धन में प्रागस्कूल की 'प्रधानता' (Dominance) की अवधारणा के भी तत्त्व मिलते हैं। वे मानते हैं कि रचना के किसी भी घटक में 'व्यंजकत्व' निहित रह सकता है। संज्ञा, क्रिया, निपात आदि किसी की भी व्यंजकता सारे अर्थ में चमत्कार पैदा कर सकती है। इस प्रकार रचना में एक घटक 'प्रधानता' प्राप्त करके काव्य-सृष्टि कर सकता है।

आनन्दवर्धन 'संघटना' के सन्दर्भ में 'विषय' को एक प्रभावकारी तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि "विषयाश्रित औचित्य भी संघटना का नियंत्रण करता है। काव्य के भेदों से भी संघटना के भेद हो जाते हैं³ फिर वे मुक्तक, पर्याय-बन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि अनेक प्रकार के काव्यों से संघटना की रचना में भेद मानते हैं। ऐसा मानकर आनन्दवर्धन शैली के विचलन को काव्य-रूपों के सन्दर्भ में भी विवेचित करते हैं। इसी तरह 'वक्ता' और 'वाच्य' को भी संघटना के नियामक तत्त्व मानकर⁴ विचलन की सापेक्षिक अवधारणा को और अधिक वैज्ञानिकता प्रदान करते हैं, जैसा कि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में संदर्भ (Context) आदि के प्रसंग में विवेचित किया गया है।

1. यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित् ।

स्फुरितमिदमित्तीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ॥

ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 4-16 ।

2. भारतीय काव्यशास्त्र : शैलीवैज्ञानिक संदृष्टि—डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (अभिनव भारती, 1978), पृ. 68 ।

3. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 3-7 ।

4. वही, 3-6 ।

कुन्तक के यहाँ विचलन को पर्याप्त महत्त्व प्राप्त हुआ है और उसका विशद विवेचन भी किया गया है। उन्होंने 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' कहकर 'विदग्धता' को विचलन के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके काव्य का 'जीवित'—वक्रोक्ति 'विचलन' और उससे भी अधिक व्यापक आयामोंवाली विदग्धता को समावृत कर लेती है। वे 'वक्रोक्तिजीवितम्' के उद्देश्य के सम्बन्ध में कहते हैं कि—'लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए यह कुछ अपूर्व काव्य के अलंकार (काव्यालंकार) की रचना की जा रही है।'¹ अर्थात् काव्य में 'लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य' होता है और यह सामान्य से भिन्न होता है। इस विचित्रता को, जिसे कि उन्होंने 'वक्रता' कहा है, रचना के छः स्तरों—वर्ण, 'पद-पूर्वाद', पद-पराद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध में ढूँढ़ा है और हर स्तर पर विचलन की चमक देखी है।

कुन्तक ने वक्रता के अन्तर्गत जितने स्तरों और प्रकारों के विचलन का विवेचन किया है और विचलन के जितने प्रतिरूप (Patterns) तैयार किये हैं, पाश्चात्य शैलीविज्ञान अभी इस तुलना में काफी पिछड़ा हुआ है। प्रकरण और प्रबन्ध के स्तर पर विचलन के बारे में तो अभी विशेष कार्य हुआ ही नहीं है। दरअसल कुन्तक ने भाषा-विचलन को जिस प्रकार एक व्यवस्थित शास्त्र के रूप में विवेचित किया है, वह तो अपूर्व ही है।

कुन्तक विचलन के प्रति इतने सजग दिखाई देते हैं कि उन्होंने स्वाभावोक्ति को काव्य भी नहीं माना,² जब तक कि उसमें अलंकार का समावेश न हो। क्योंकि प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है³ और वही काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति की उपयुक्त परिभाषा में शैली की 'विचलन' की अवधारणा ही समायी हुई है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र में 'वार्ता' से 'काव्य' का, (सामान्य) पद-रचना से 'विशिष्ट' पद-रचना का, 'भणिति' से 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' का, 'वाच्यार्थ' से 'व्यंग्यार्थ' एवं अनुमेयार्थ का विचलन शैली में विचलन की अवधारणा की ओर ही संकेत करता है।

समसामयिक हिन्दी साहित्यशास्त्र में शैली के सन्दर्भ में विचलन की अवधारणा के सम्बन्ध में डॉ. विद्यानिवास मिश्र का विशेष योग रहा है। वे मानते हैं कि विचलन एक सचेत रचना की सोद्देश्यता का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है।⁴ यह मुख्यतः सर्जनात्मक कृति के निजी वाक्य-विन्यास का ही एक आवश्यक उपकरण है।⁵ काव्य-

1. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-2।

2. वक्रोक्तिजीवितम् 1-कारिवा, 9-114 तक।

3. वही।

4. रीतिविज्ञान—डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 76।

5. वही, पृ. 79।

भाषा पूर्वनिश्चित सम्बन्धों को एक नयी वास्तविकता से अभिभूत करके विचलित करती है।¹

डॉ. सुरेशकुमार विचलन के लिए नवप्रवर्तन (Innovation) की अवधारणा को 'बिहतर' मानते हैं। वे कहते हैं कि "अभिव्यक्ति का उद्देश्य कुछ ऐसा रहता है कि भाषा में उसके लिए अपेक्षित विकल्प या तो उपलब्ध नहीं होते या उपलब्ध होते हैं तो उनमें अभीष्ट सामर्थ्य नहीं होती। ऐसी अवस्था में वक्ता, लेखक भाषा की प्रचलित रूढ़ियों के दायरे से बाहर जाकर नई राहें बनाने की (शब्द को नया अर्थ देना, नई व्याकरणिक संरचना का प्रयोग करना आदि) कोशिश करता है। इसे अतिक्रम/विपथन/विचलन (Deviation) कहा जाता है।"²

डॉ. कृपाशंकर सिंह का विचलन से आशय मानक भाषा के सर्जनात्मक विरूपण से है।³ वे विचलन के सापेक्ष में मानक भाषा की अवधारणा को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि "कविता भाषा का 'साभिप्राय विरूपण' है और यह विचलन या विरूपण कविता की शक्ति है। यह विचलन ही कविता के तिलस्म की चाबी है।"⁴ इस प्रकार डॉ. सिंह शैली के 'तिलस्म की चाबी' विचलन में ही मानते हैं।

संक्षेप में, भारतीय साहित्यशास्त्र प्रारम्भ से ही विचलन की अवधारणा को लेकर चला है तथा अलंकार, गुण, दोष, वक्रता, ध्वनि आदि अवधारणाएँ विचलन की अवधारणा पर ही विकसित हुई हैं। वस्तुतः सामान्य भाषा (वार्ता) और काव्य-भाषा के अन्तर को स्पष्ट करना ही भारतीय साहित्यशास्त्र का मुख्य उद्देश्य रहा है और विभिन्न साहित्यशास्त्रीय सिद्धांतों में यह प्रकारान्तर से माना गया है कि काव्य-भाषा 'लोकोत्तर', 'विशिष्ट', 'वक्र' आदि होती है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की तरह फुटकर विचार मात्र नहीं प्रकट किये गये हैं; बल्कि विचलन की अवधारणा के आधार पर काव्य-भाषा को उसके प्रत्येक घटक के स्तर पर विवेचित भी किया है। इस प्रकार वर्ण से प्रबन्ध तक हर स्तर के विचलन को वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित किया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के सभी सिद्धांतों में एक-दूसरे सिद्धांत की अवधारणाएँ समाहित हैं और विचलन को केवल भिन्न-भिन्न कोणों से स्वीकार करने के प्रयास का अन्तर मात्र है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की नॉर्म, कोलोकेशन, रजिस्टर, सैट, सन्दर्भ आदि की अवधारणाएँ संस्कृत साहित्यशास्त्र की विचलन-सम्बन्धी अवधारणाओं के नेपथ्य में स्वीकार्य रही हैं; और उनके सन्दर्भ में ही शैली की विचलनमयता को परखा गया

1. रीतिविज्ञान—डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 79।
2. शैलीविज्ञान—डॉ. सुरेश कुमार, पृ. 70।
3. आलोचना-41 (अप्रैल-जून, 1977), पृ. 55।
4. आलोचना-43 (अक्तूबर-दिसम्बर, 1977), पृ. 68।

है। आनन्दवर्धन ने तो वक्ता, वाच्य और काव्य-रूपों के सन्दर्भ में 'संघटना' की विवेचना करके विचलन की अवधारणा को सूक्ष्म-दक्षिता के साथ अपनाने का संकेत दिया है।

(इ) निष्कर्ष—उपरोक्त प्रकरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि—

1. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र काव्य-भाषा की विशिष्टता के अनुसंधान में मानक भाषा (Norm) की अवधारणा को लेकर चले हैं। सामान्य भाषा या 'वार्ता' यहाँ मानक भाषा के रूप में ही स्वीकार्य रही है, अतः विचलन की अवधारणा दोनों ही साहित्यशास्त्रों में एक सापेक्षिक अवधारणा के रूप में विकसित हुई है।
2. विचलन के साहित्यिक सौन्दर्य का मूलाधार सिद्ध करने से पूर्व सन्दर्भ, वक्ता, वाच्य, विषय, कोलोकेशन, रजिस्टर आदि की अवधारणाएँ भी समानान्तर रूप से विकसित रही हैं, जो शैली के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए परम आवश्यक हैं।
3. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में ओचे, तोदोरोव आदि साहित्यशास्त्री शैली को विचलन नहीं मानते, वे उसे अपने आप में विशिष्ट ही मानते हैं, तुल्य नहीं। किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्री इस स्तर की तात्त्विकता को स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर उसे सापेक्षिक और तुलनात्मक अवधारणा के रूप में स्वीकार करने हैं और उसे विवेच्य-विश्लेष्य मानते हैं।
4. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में रिफातेअर जैसे शैलीवैज्ञानिक व्यष्टि-सन्दर्भ (Micro-Context) की अवधारणा का प्रतिपादन करके सहृदय की भाषा-योग्यता को भी महत्व देते हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र में भी 'सहृदय' को एक साधारणीकृत भोक्ता के रूप में कल्पित किया गया है और विचलन के सन्दर्भ में उसकी सहृदयता को भी मान्यता प्रदान की गई है।
5. भारतीय साहित्यशास्त्र विचलन की अवधारणा को आधार मानकर काव्य-भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करके, विचलन के पैटर्न की व्याख्या कर चुका है; जबकि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र अभी विचलन की अवधारणा में बिखराव और अपूर्णता ही लिए हुए है। भारतीय साहित्यशास्त्र के सम्पर्क से पाश्चात्य साहित्यशास्त्र भी विचलन के प्रतिरूप तैयार कर इस अवधारणा को अधिक पुष्ट कर सकता है। लीच का प्रयास इस क्षेत्र में सराहनीय कहा जा सकता है, जहाँ वे शब्द, व्याकरण, स्वर, अर्थ, बोली, रजिस्टर, ऐतिहासिक काल आदि

के स्तरों पर विचलन को स्पष्ट करते हैं, यद्यपि अत्यन्त सतही रूप में।¹

समसामयिक पाश्चात्य शैलीविज्ञान में शैली को विचलन मानने के अलावा अन्य महत्वपूर्ण अवधारणाएँ भी विद्यमान और विकासमान हैं। उनमें दो प्रमुख हैं—

1. शैली पाठगत व्यवस्था का पुनरावर्तन और केन्द्राभिमुखता है (Style is recurrence and convergence of textual pattern) और
2. शैली सम्भावनाओं का विशिष्ट समुपयोजन है (A particular exploitation of a grammar of possibilities)।

उक्त दो अवधारणाओं का विवेचन आगामी प्रकरणों में किया जा रहा है।

(ज) शैली : पाठगत व्यवस्था का पुनरावर्तन और केन्द्राभिमुखता—

समसामयिक पाश्चात्य शैलीविज्ञान में शैली के सम्बन्ध में परम्परागत अवधारणाओं के अतिरिक्त यह एक नवीन अवधारणा विकसित हुई है। इसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि रचना की भाषिक इकाइयों या घटकों की संरचना में एक सामंजस्य होता है और उस सामंजस्य का चरित्र पुनरावर्तन होता रहता है। इस प्रकार एक इकाई के स्तर का सामंजस्य और उसकी पुनरावृत्तियाँ अपने समग्र रूप में एक एकान्वित रचना का निर्माण करती हैं। शैली इन भाषिक इकाइयों की संरचना में व्याप्त सामंजस्य और उनकी पुनरावृत्तियों की व्यवस्था ही है। शैली की अवधारणा बहुत कुछ रोमन याकोब्सन के इस प्रसिद्ध कथन पर आधारित है कि 'भाषा का काव्यात्मक प्रकार्य समतुल्यता के सिद्धान्त पर आधारित है जो कि चयन की धुरी से संयोजन की धुरी तक जुड़ा हुआ है।'² अर्थात् काव्यात्मक भाषा अपने चयन और संयोजन के आयामों पर समतुल्यता के सिद्धान्त को अपना कर चलती है। लगभग समान अर्थवाले शब्दों में से चुने जानेवाले शब्द के चयन के पीछे जो सिद्धांत कार्य करता है, वही सिद्धान्त उस शब्द के चयन पर भी कार्य करता है, जिसे रचनाकार को वाक्य में या आगामी वाक्य में उसी स्थिति में संयोजन के लिए चुनना है। उदाहरणस्वरूप कामायनी के इस छन्द को देखा जा सकता है—

नीचे जल था, ऊपर हिम था

एक तरल था एक सघन;

एक तत्त्व की ही प्रधानना

कहो उसे जड़ या चेतन।

1. एलिग्विस्टिक गाइड टू इंग्लिश पोयट्री—जोफ्री एन. लीच, पृ. 42 से 53।

2. उद्धृत : स्टाइल इन लैंग्वेज—सं. टी.ए. सिबोक, पृ. 358।

शैली की उक्त अवधारणा के अनुसार उक्त छन्द की संरचना में शब्दों के चयन में समतुल्यता का सिद्धान्त कार्य करता है। प्रथम पंक्ति में दो उपवाक्य हैं (1) 'नीचे जल था' और (2) 'ऊपर हिम था'। दोनों उपवाक्यों के प्रथम शब्द 'नीचे' और 'ऊपर' अर्थ के स्तर पर परस्पर सम्बद्ध हैं, व्याकरणिक कोटि के रूप में भी समान हैं। द्वितीय शब्द 'जल' और 'हिम' का चयन भी अर्थ एवं व्याकरणिक सम्बद्धताओं के अतिरिक्त स्वनिर्गम स्तर पर भी समान मात्राओंवाले हैं। तीसरा शब्द 'था' तो समान है ही। इसी तरह दूसरी पंक्ति में 'तरल' और 'सघन' का चयन भी अर्थ, व्याकरण एवं ध्वन्यात्मक स्तर पर समतुल्यता के सिद्धान्त पर आधारित है। 'तरल' और 'सघन' के अलग-अलग अनेक पर्यायवाची शब्द हो सकते हैं; किन्तु उनमें से जिस 'तरलता' को सूचित करने के लिए 'तरल' शब्द का चयन किया गया, उसी 'सघनता' को सूचित करने के लिए 'सघन' शब्द का भी। इस प्रकार 'एक' शब्द का तीन बार आवर्तन और उससे 'एकता' का द्योतन भी पाठगत व्यवस्था के आवर्तन और केन्द्राभिमुखता को ही सूचित करता है।

पाश्चात्य शैलीविज्ञान में उक्त अवधारणा को अपनानेवालों में वाल्टर ए. कोच, एम.ए.के. हैलीडे, जोफ़ी लीच, सेम्युअल आर. लेविन आदि प्रमुख हैं। पश्चिम में इस अवधारणा पर प्रभूत कार्य हो रहा है और इस अवधारणा के जन्म का स्रोत भाषा के विभिन्न प्रकार्यों की अवधारणाओं में निहित है। रोमन याकोब्सन ने भावात्मक (Emotive), अग्निधापरक (Conative), संकेतपरक (Referential), तर्कपरक (Metalingual), सम्पर्कपरक (Phatic) और काव्यपरक (Poetic)—ये छः कार्य माने हैं।¹ हैलीडे ने भी प्रत्ययात्मक (Ideational), भावात्मक (Interpersonal) और पाठात्मक (Textual) कार्य माने हैं। काव्य-शैली के सन्दर्भ में रोमन याकोब्सन के काव्यात्मक तथा हैलीडे के पाठात्मक प्रकार्यों पर विचार किया जाता है। यद्यपि कविता में भाषा के अन्य प्रकार्य भी कार्य करते हैं, किन्तु उक्त दो कार्य की प्रधानता रहती है।

संस्कृत के भाषा-चिन्तन में भाषा के विभिन्न प्रकार्यों की अवधारणा मिलती है, इसीलिए भाषा की संरचना को व्याकरण, न्याय, मीमांसा और साहित्य—इन चारों के सन्दर्भों में भिन्न कोणों से विवेचित किया गया है। वेद-मन्त्र, इतिहास और साहित्य का विभाजन भी शब्दार्थ की विभिन्न भूमिकाओं के आधार पर किया गया है; किन्तु भाषा के सौन्दर्यशास्त्रीय विश्लेषण का आधार शब्दार्थ की एकान्विति या युगनद्धता को ही माना गया है।

यद्यपि भरत ने नाट्यशास्त्र 'भाण्ड-वाद्यों' के सन्दर्भ में 'क्षेप-प्रतिक्षेप' क्रियाओं तथा 'ध्रुवा' गीतों के सन्दर्भ में 'कलाओं' और 'मात्राओं' का विवेचन रोमन याकोब्सन

के समतुल्यता सिद्धान्त की याद दिलाता है। यह सिद्धान्त वाद के साहित्यशास्त्र में भी अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि अवधारणाओं में ढूँढ़ा जा सकता है; किन्तु इस सिद्धान्त को आधार बनाकर साहित्यशास्त्रीय चर्चा नहीं हुई।

भारतीय साहित्यशास्त्र में सौन्दर्य को, अद्वैतवादी दार्शनिक विचारधारा के आधार पर, शब्द और अर्थ की अद्वैतता के रूप में देखा गया है तथा उसे प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नवीन माना गया है।¹ इसीलिए साहित्यशास्त्र में भी एक और शब्द और अर्थ की 'सहितता' स्वीकार की गयी तो दूसरी ओर 'नई सूझ की स्फुरणा' (आनन्दवर्धन) को महत्त्व दिया गया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र काव्य-भाषा को शब्दार्थ की अभिन्नता के धरातल पर विवेचित करता है तो 'नई स्फुरणा' के लिए उसने 'वक्रता' की अनिवार्यता मानी है। अलंकारों का आधार तो वक्रता है ही, 'रीति' और 'ध्वनि' में पद-रचना और व्यंग्यार्थ की वक्रता है तथा 'वक्रोक्ति' तो वक्रता को आत्मा मानता ही है। इसी तरह रचना की 'वक्रता' का प्रभाव ही 'रस' है। संक्षेप में, भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली को वक्रता के रूप में विवेचित किया गया है, जैसा कि पश्चिम में शैली को विचलन मानने की अवधारणा व्याप्त है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र की एक प्रवृत्ति और उसकी सीमा भी, यह रही है कि वह काव्य-भाषा की प्रकृति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और उसको सिद्ध करने के लिए उदाहरण जुटाता है। अतः उसका आग्रह सिद्धान्त के प्रतिपादन करने पर रहा है। इसीलिए न तो किसी एक रचना की काव्य-भाषा का अध्ययन ही किया जा सका और न उसकी भाषा-संरचना की व्यवस्थाओं पर ही विचार हो सका। और यही कारण है कि शैली को पाठगत व्यवस्था का पुनरावर्तन और केन्द्राभिमुखता की अवधारणा के रूप में नहीं परखा गया। यद्यपि अब समसामयिक शैलीवैज्ञानिक उक्त अवधारणा को अपनाकर शैली का विवेचन करने में जुटे हुए हैं, जिनमें डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव अग्रणी हैं।

आगामी प्रकरण में शैली से सम्बन्धित एक और नवीन अवधारणा 'शैली : व्याकरणिक सम्भावनाओं का विशिष्ट समुपयोजन है', को प्रस्तुत किया जा रहा है।

(भ) शैली : वैयाकरणिक सम्भावनाओं का विशिष्ट समुपयोजन

पाश्चात्य शैलीविज्ञान में उक्त अवधारणा का विकास नोम चोम्स्की की रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण (ट्रांसफॉर्मेशनल जनरेटिव ग्रामर) की छाया में हुआ है, जिसके मुख्य प्रवक्ता हैं रिचर्ड ओमान, मोरिस हाले, सेम्युअल जे. कीजर, मैनफ्रेड वीरविख, कर्टिस हैज, जेम्स पीटर थोर्न आदि।

रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण में चोम्स्की ने ही कहा है कि मनुष्य अपने भाषा-व्यवहार में अनेक सम्भावित वैयाकरणिक विकल्पों में से किसी एक का चयन

1. क्षणेक्षणं यच्चरतां उपेति तदैव रूपं रमणीयताया—भारवि।

करता है। इसी अवधारणा के आधार पर उक्त शैलीवैज्ञानिक विधि भी विकसित हुई। रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण में अर्थात्मक संघटक (Deep Structure) और स्वनप्रक्रियात्मक संघटक (Surface Structure) कुछ निश्चित रूपान्तरणात्मक नियमों (Transformational Rules) से जुड़े हुए होते हैं। लेखक अपने मन्तव्य अर्थात्मक संघटक को प्रकट करने के लिए अनेक उपलब्ध वैयाकरणिक प्रतिरूपों (Patterns) में से कुछ का चयन कर लेता है और यह चयन ही उसकी शैली का द्योतक होता है। इस प्रकार के वैयाकरणिक विवेचन के माध्यम से रचनाकार के मानस का अध्ययन भी हो जाता है।

निश्चय ही शैली से सम्बन्धित उक्त अवधारणा पश्चिमी शैलीविज्ञान में काफी हलचल मचाये हुए है और रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण के और-और सूक्ष्मतर होते जाने से शैली की इस नवीन अवधारणा के भी विकसित होते रहने की सम्भावनाएँ हैं; किन्तु भारतीय व्याकरण में न तो रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण की कोई अवधारणा ही विकसित हुई थी और न उसके अनुरूप कोई शैली की अवधारणा ही। संस्कृत व्याकरण सामान्य भाषा की संरचना का वस्तुगत विश्लेषण करता है, वह उसे वक्ता के मानस से सम्बद्ध करके विवेचित नहीं करता। इसीलिए उसमें किसी अर्थात्मक संघटक की वैसी कल्पना नहीं है जैसी कि रूपान्तरण प्रजनक व्याकरण में है। इसी तरह शैली की वक्रता को सिद्ध करने के लिए मानक भाषा का आधार भी सामान्य भाषा ही है। वस्तुतः संस्कृत व्याकरण और साहित्यशास्त्र दोनों ही भाषा के 'सामान्य' रूप का ही विवेचन करते हैं, वैयक्तिक रूप को तो 'अनन्त' मानकर उसे विवेचन से परे घोषित कर देते हैं। शैली एवं 'मार्ग-विवेचन' के सन्दर्भ में वैयक्तिक स्वरूप को भी सामान्यीकृत 'मार्ग' के रूप में ही विवेचित किया है। यहाँ कवि और 'सहृदय' की कल्पना तो की गई है; किन्तु वह भी सामान्यीकृत कवि और सहृदय ही है। इसीलिए संस्कृत में व्याकरण एवं शैलीविज्ञान दोनों में वस्तुगतता ही विद्यमान रही है। रस के सन्दर्भ में विषयीगतता भी रचना और सहृदय के सम्बन्ध को लेकर है, रचनाकार और रचना के सम्बन्ध को लेकर नहीं।

इस प्रकार शैली को व्याकरणिक सम्भावनाओं के विशिष्ट समुपयोजन के रूप में स्वीकार करने की अवधारणा भारतीय साहित्यशास्त्र के लिए नवीन ही है, यद्यपि अब समसामयिक शैलीवैज्ञानिक पश्चिम के प्रभाव से इस दिशा में भी कार्य कर रहे हैं।

शैली-सम्बन्धी उक्त नवीन अवधारणाओं का विवेचन करने के बाद अब शैली की 'औचित्य' से सम्बन्धित पारम्परिक अवधारणा का विवेचन प्रस्तुत है।

(अ) शैली : औचित्य

शैली को 'वक्रता' का पर्याय मानने तथा नित्य 'नवीन सूझवाली स्फुरणा' और कवि प्रतिभा की 'अनन्तता' के साथ-साथ इसे भी 'अनन्त' मानने के बावजूद

समें सदैव एक व्यवस्था, एक 'औचित्य' की कल्पना की गई है। शैली एक ऐसी संरचना है जो अपने घटकों के सन्तुलित सामंजस्य के परिणामस्वरूप ही सजित होती है। इस प्रकार की अवधारणा पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों में प्रारम्भ से ही विद्यमान रही है, जिसका यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

अरस्तू शैली के दो गुण मानते हैं—प्रथम प्रसाद और दूसरा औचित्य। वक्त उचित शब्दों के प्रयोग से ही शैली में प्रसाद गुण का सन्निवेश हो जाता है।¹ वे कहते हैं कि “अभिव्यंजना के इन विभिन्न प्रकारों में, समस्त पदावली में, अपरिचित (या अप्रचलित) शब्दों आदि में औचित्य का निर्वाह बहुत बड़ी बात है।”² अरस्तू यह भी मानते हैं कि कोई भी अध्यापक रेखागणित पढ़ाते समय भड़कीली भाषा का प्रयोग नहीं करता। इस प्रकार अरस्तू शैली के सम्बन्ध में औचित्य के प्रति सदैव सजग रहे हैं।

सिसरो के अनुसार आदर्श शैली में आशोधन (Modification) का नियमन औचित्य के सिद्धांत द्वारा ही होना चाहिए। अच्छी शैली उपयुक्त एवं शोभन शब्दों के चयन पर आधारित होती है। होरेस अरस्तू की औचित्य की अवधारणा को ह्रा साहित्यिक औचित्य (Literary propriety and decorum) के रूप में विकसित करते हैं। वे मानव जीवन के अध्ययन के आधार पर ही नाटकों में चरित्र-चित्रण के औचित्य की अपेक्षा करते हैं। इसी प्रकार नाटकीय संवादों में पात्रों के लिंग, अवस्था, सामाजिक स्तर और मानसिक स्थिति को औचित्य का आधार मानते हैं। होरेस ने विषयवस्तु और छन्द में भी औचित्य की प्रतिष्ठा की है।

औचित्य सम्बन्धी आभिजात्य अवधारणा का निर्वाह नव्यशास्त्रवादी साहित्यशास्त्रियों ने भी किया है। सिडनी ने शैली में स्पष्ट युक्तियुक्तता (प्लेन सैन्सिबलनेस) को ही वांछनीय माना। पटनम ने अभिव्यक्ति और विषयवस्तु में औचित्यपूर्ण सामंजस्य की अपेक्षा की। बेन जॉन्सन अपने समकालीन साहित्य को आडम्बरों के अतिरेक से मुक्ति दिलाना चाहते हैं। अतः वे साहित्य में किसी भी तत्त्व का अतिशय अक्षम्य मानते हैं, चाहे वह रागों का सीमातिक्रमण हो या कल्पना का, चाहे अलंकारों का बाहुल्य हो या कोमलता का।

ड्राइडन भी शैली के सभी उपादानों का 'विवेकपूर्ण' चयन करने में विश्वास रखते हैं। बोईलो तो मूलतः सामंजस्यवादी हैं, अतः शैली में हर प्रकार के संतुलन और औचित्य की अपेक्षा रखते हैं। उनकी धारणा है कि सूक्ष्म, आलंकारिक वर्णनों की व्यर्थता और मूर्खता तथा अतिकथन से रहित रचनाएँ ही प्रमाता में सन्तोष का

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र-अनुवादक-डॉ. नगेन्द्र और डॉ. महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ. 58।

2. वही, पृ. 60।

संचार करती हैं। पोप भी कहते हैं कि जहाँ शैली का मूलाधार विवेक होता है वहाँ किसी प्रकार का अतिचार नहीं मिलता, वहाँ अभिव्यक्ति प्रांजल एवं प्रभविष्णु होती है, अलंकार सटीक होते हैं और विषय प्रतिपादन सुष्ठु खल होता है। स्विफ्ट भी सभी प्रकार की अतिवादिता के विरुद्ध रहे हैं। वे न तो शैली में आडम्बर और भड़कीलापन चाहते हैं और न अत्यधिक सामाजिकता। डॉ. जॉन्सन प्रत्येक शब्द को अपने स्थान पर और प्रत्येक भाव को बुद्धि के अनुशासन में रखना चाह कर औचित्य की अवधारणा को ही पुष्ट करते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र पर अन्यान्य अवधारणाओं के दबाव से एवं समसामयिक शैलीविज्ञान में भाषावैज्ञानिकता के प्रवेश से औचित्य की अवधारणा नेपथ्य में चली गयी है। कृति के विभिन्न घटकों के संरचना-विश्लेषण पर अधिक जोर रहा है, संश्लेषण पर कम। और औचित्य की अवधारणा का महत्त्व संश्लेषणात्मक विधि में अधिक प्रमुखता प्राप्त करता है।

आधुनिक शैलीविज्ञान में औचित्य के सन्दर्भ में मुकारोवस्की ने काव्य-भाषा के प्रश्न को व्यापक सौन्दर्यशास्त्रीय घरातल पर विवेचित करते हुए लिखा है कि भाषा के सन्दर्भ में सौन्दर्य का प्रश्न रचना के रूप तक ही सीमित नहीं रहता, वह रूप की सीमा को भी लाँघ जाता है। रचना के मूल्यांकन में भाषा की संरचना के अतिरिक्त सामाजिक मान्यताएँ आदि भी कार्य करती हैं। ऐसा हो सकता है कि एक संरचना एक स्थान पर सौन्दर्य का निर्माण कर रही हो और दूसरे स्थान पर सौन्दर्य का ह्रास कर रही हो।¹ अर्थात् औचित्य की अवधारणा रचना से बाहर के तत्त्वों के साथ भी जुड़ जाती है। क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य के तत्त्वों में देश, काल, कुल, सत्त्व, अवस्था आदि को इसी प्रकार की रचना के बाहर के सन्दर्भों के रूप में विचारणीय माना है।

रोमन याकोब्सन का समतुल्यता का सिद्धांत, जिसमें दो घटकों के चयन एवं संयोजन में समतुल्यता कार्य करती है, औचित्य की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। यदि दो घटकों में समतुल्यता नहीं रही तो वहाँ औचित्य का, अतः काव्यत्व का, ह्रास होना स्वाभाविक है। इसलिए काव्यात्मक संरचना के घटकों में परस्पर औचित्य विद्यमान रहता है।

संक्षेप में, पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की पारम्परिक अवधारणाओं में औचित्य को विशेष महत्त्व प्राप्त था। हाँ, आधुनिक अवधारणाओं में विश्लेषणात्मकता पर आग्रह अधिक रहा है इसलिए औचित्य की अवधारणा नेपथ्य में चली गई है; किन्तु सारे शैली-विवेचन में वह व्याप्त अवश्य रही है।

1. स्टैण्डर्ड लैंग्वेज एण्ड पोयटिक लैंग्वेज-मुकारोवस्की, संकलित-लिग्विस्टिक एण्ड लिटरेरी स्टडीज़-डोनाल्ड फ्रीमैन, पृ. 48-51।

(भा) भारतीय साहित्यशास्त्र

भारतीय साहित्यशास्त्र में भरत के समय से ही औचित्य की अवधारणा विद्यमान थी। भरत ने नाटक के सन्दर्भ अभिनय में कहा है कि “अवस्था के अनुरूप वेष होना चाहिए, वेष के अनुरूप गति तथा क्रिया होनी चाहिए। गति-प्रचार के अनुरूप पाठ्य, और पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए।”¹ भरत नाटक को लोकवृत्त का अनुकरण मानते हैं, इसलिए उनकी औचित्य की अवधारणा का आधार ‘लोक’ है। इसीलिए पात्रों के वेष के सम्बन्ध में उनका कथन है कि जिस देश के पात्रों का वर्णन करना अभिमत हो, उसी के अनुकूल वेष दिखलाना चाहिए। “देश से प्रतिकूल वेष कभी शोभादायक नहीं हो सकता, जैसे गले में मेखला और हाथ में नूपुर का धारण।”² इस प्रकार भरत औचित्य का नाम न लेते हुए भी और औचित्य की अभिनय के सम्बन्ध में ही चर्चा करते हुए भी, सभी कलाओं के क्षेत्र में औचित्य को महत्त्व देते हैं।

भामह यह कहकर कि “असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से अत्यन्त सुन्दर हो जाती है, जैसे स्वभावतः काला (कुरूप) काजल भी कामिनी-नयन विन्यस्त होने पर शोभावर्धक हो जाता है,”³ शैली-संरचना में औचित्य की अवधारणा को ही महत्त्व देते प्रतीत होते हैं। दण्डी दोष-विवेचन में ‘अपार्थ’,⁴ ‘व्यर्थ’⁵ आदि दोषों को साहित्यिक औचित्य की स्थिति में गुण के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। उनके अनुसार यदि रचना देश, काल, कला, लोक, न्याय तथा आगम के विरोध में हो तो वह दूषित होती है; परन्तु कवि-कौशल के कारण उस तरह का विरोध भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है।⁶ इस प्रकार दण्डी औचित्य के अभाव में शैली का दोष-पूर्ण हो जाना संभव मानते हैं, औचित्य की विद्यमानता से तथाकथित दोष को भी काव्यत्व में बाधक नहीं मानते। यशोवर्मा नाटक में पात्रों की प्रकृति के अनुरूप ही उनके कथन (औचित्य वचसां?) होने का संकेत देते हैं, भट्ट लोल्लट ‘रसौचित्य’ की चर्चा करते हैं।

रुद्रट औचित्य के आधार पर ही अनुप्रास का प्रयोग करते हैं। यमक के बारे में लिखते हैं कि अनुचित स्थान में सन्निविष्ट होने पर यमक शोभावर्धक नहीं, अपितु गलगण्ड के समान काव्य के ‘वैरूप्य’ का ही सम्पादन करता है। ‘ग्राम्य’ और ‘पुनरुक्ति’ दोष भी औचित्यवशात् स्थान विशेष में गुण हो जाते हैं।⁸

1. नाट्यशास्त्र—भरत, 14-68।

2. नाट्यशास्त्र—भरत, 14-68।

3. काव्यालंकार—भामह, 1-55।

4. काव्यादर्श—दण्डी, 4-5।

5. वही, 4-10।

6. वही, 4-57।

7. शृंगारप्रकाश (भाग-दो)।

8. काव्यालंकार—रुद्रट, 6-29।

शैली के सन्दर्भ में औचित्य की अवधारणा को व्यापकता प्रदान करनेवाले आनन्दवर्धन हैं। आनन्दवर्धन रस को ही काव्य का सारभूत पदार्थ मानते हैं और उसके लिए सबसे आवश्यक वस्तु मानते हैं औचित्य को। उन्होंने ध्वन्यालोक में अलंकार,¹ गुण,² विभावादि,³ वृत्ति,⁴ संघटना,⁵ प्रबन्ध,⁶ आदि सभी काव्यांगों को औचित्य से सम्बद्ध करके शैली औचित्य के सन्दर्भ में विवेचित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया। आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत औचित्य की अवधारणा पर ही क्षेमेन्द्र ने औचित्य को एक साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में खड़ा किया। अभिनवगुप्त भी रस के सन्दर्भ में अलंकारौचित्य को आवश्यक मानते हैं।

कुन्तक मानते हैं कि “पद-वक्रता का रहस्य है पदौचित्य। कारण, उचित (यथानुरूप) कथन ही (वक्रता का) जीवन है। वक्तव्य का अर्थ के एक अंश में भी, औचित्य के अभाव से, काव्य-मर्मजों को आह्लादित करना सम्भव नहीं है।”⁷ उन्होंने तो काव्यगुणों में एक गुण का नाम ही ‘औचित्य’ रखा है, अर्थात् यथानुरूप कथन।⁸

महिम भट्ट कहते हैं कि काव्य की आत्मा है रस, फिर काव्य में अनौचित्य की सम्भावना ही नहीं।⁹ वे दोष-विवेचन के सन्दर्भ में कहते हैं—अनौचित्य ही काव्य का एक मात्र सर्वातिशायी दोष है, जिसके अन्तर्गत समस्त दोषों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। अनौचित्य का सामान्य लक्षण कवि के द्वारा वांछित रस आदि की प्रतीति में विघ्नकारी होना है।¹⁰

भारतीय साहित्यशास्त्रियों में औचित्य की अवधारणा की इस दीर्घ परम्परा को क्षेमेन्द्र ने विकसित और विश्लेषित करके एक स्वतन्त्र साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने औचित्य को रस का जीवितभूत (जीवन) कहा।¹¹ वे औचित्य के लक्षण में कहते हैं कि “जो जिसके अनुरूप है, उसे ही उचित कहा जाता है। उचित का भाव ही औचित्य है।”¹² औचित्य के बिना अलंकार रुचिकर

1. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 3-6 कारिका।

2. वही।

3. वही, 3-10 से 14।

4. वही, 3-33।

5. वही, 3-69 से 71।

6. वही, 3-14।

7. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-57 कारिका की वृत्ति।

8. वही, 1-53।

9. व्यक्तिविवेक—महिम भट्ट, पृ० 126।

10. व्यक्तिविवेक—महिम भट्ट, पृ० 152।

11. औचित्यविचारचर्चा—क्षेमेन्द्र, पृ० 3।

12. वही, पृ० 7।

होते हैं, न गुण ।¹ अलंकार, अलंकार ही हैं और गुण, गुण ही हैं (अर्थात् काव्य के जीवनाधायक नहीं हो सकते) ।² हाँ, रस में ऐसी क्षमता है; किन्तु रस-सिद्ध काव्य का भी स्थायी जीवन तो औचित्य ही है ।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य की अवधारणा को भी शैलीवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया तथा शैली को पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, देश, काल, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, विचार, नाम और आशीर्वाद—इन 27 घटकों के सन्दर्भ में विवेचित किया । क्षेमेन्द्र के यहाँ रचना के औचित्य को सहृदय, लोक-व्यवस्था, सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ, परम्पराएँ, काव्य-परम्परा आदि भाषेतर तत्त्वों के सन्दर्भ में भी परखा गया । इस प्रकार शैली का विश्लेषण भाषा, सहृदय, समाज आदि अनेक कोणों से किया गया ।

क्षेमेन्द्र ने शैली के कथ्य को विचार, तत्त्व, सार-संग्रह, रस आदि घटकों के आधार पर भी परखना चाहा; शैली की भाषा-संरचना को क्रिया, कारक, लिंग, विशेषण, वचन, उपसर्ग, निपात, काल, पद, वाक्य, वृत्त, अलंकार और गुण आदि घटकों पर विश्लेषित करने का विचार प्रकट किया । इस प्रकार शैली के विश्लेषण का एक व्यापक आयाम तैयार हुआ । वस्तुतः 'औचित्यविचार' संस्कृत साहित्यशास्त्र में अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यापक सौन्दर्यशास्त्रीय मापदण्डों को सम्मिलित करता है । बल्कि क्षेमेन्द्र ने तो उक्त 27 तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य सम्भावित तत्त्वों की खोज का भी स्वागत किया है ।

दरअसल शैली के सन्दर्भ में औचित्य की अवधारणा साहित्यशास्त्रीय सिद्धांतों की रूढ़िगतता, जड़ता की सीमाओं को तोड़ती है तथा औचित्य को ही शैली का परम मापदण्ड स्वीकार करती है । इस दृष्टि से औचित्य की अवधारणा एक गत्यात्मक अवधारणा है; किन्तु इसका विवेचन आत्मगत अधिक हो जाता है, इसलिए इसकी प्रणाली उतनी वैज्ञानिक नहीं रह जाती ।

हिन्दी साहित्यशास्त्र पर संस्कृत के अलंकार, ध्वनि और रस-सिद्धान्त का अधिक प्रभाव रहा है, इसलिए उसमें औचित्य को लेकर कोई विशिष्ट, मौलिक अवधारणाएँ नहीं मिलतीं ।

संक्षेप में, संस्कृत साहित्यशास्त्र के अन्यान्य सिद्धान्तों में औचित्य की अवधारणा निहित रही है; किन्तु उसका स्पष्ट और व्यापक विचार क्षेमेन्द्र ने ही 'औचित्यविचारचर्चा' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है । क्षेमेन्द्र ने ही उसे रस-सिद्धकाव्य का 'जीवित' कहकर शैली का आधारभूत तत्त्व माना; किन्तु शैली—

1. औचित्य विचारचर्चा—क्षेमेन्द्र, पृ० 6 ।

2. वही, पृ० 5 ।

विवेचन के लिए वक्रोक्ति, ध्वनि और रस की अवधारणाएँ इतनी विशद और वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत हो चुकी थीं कि औचित्य को विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका और उसे शैली-विवेचन में एक अनिवार्य शर्त के रूप में ही स्वीकार किया गया।

(इ) निष्कर्ष

1. शैली के सम्बन्ध में पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों में औचित्य की चर्चा बराबर होती रही है; यद्यपि उसने भारतीय साहित्यशास्त्र में अधिक विस्तार और वैज्ञानिकता प्राप्त की है।
2. औचित्य की अवधारणा को पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की आभिजात्य अवधारणाओं में विशेष महत्त्व प्राप्त रहा है। आधुनिक अवधारणाओं में रचना का वस्तुगत विवेचन ही हुआ है जिसमें मूल्य की उपेक्षा की गयी है, इसलिए औचित्य की चर्चा नगण्य ही रही। यद्यपि मुकारो-वस्की आदि शैलीवैज्ञानिकों ने सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक सन्दर्भ, सौन्दर्यशास्त्रीय मापदण्डों आदि के परिप्रेक्ष्य में शैली की विवेचना करके औचित्य को महत्त्व दिया है; किन्तु उसमें वैज्ञानिक विश्लेषणात्मकता नहीं है।
3. आधुनिक शैलीविज्ञान रचना के भाषावैज्ञानिक विश्लेषण में रुचि रखता है। उसकी विश्लेषणात्मकता में वस्तुनिष्ठता का इतना आग्रह रहा है कि उसने शैली के औचित्य पक्ष को उपेक्षित ही छोड़ दिया है। यही नहीं, वह औचित्य की अवधारणा के अनुरूप सुभावात्मक या निर्देशात्मक भी नहीं है। शैली का यथावत् विश्लेषण करने का ही उसका उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त वह नितान्त पाठगत (Textual) है, अतः पाठेतर सन्दर्भों का प्रायः विचार ही नहीं करता। वस्तुतः औचित्य-विचार में जो सौन्दर्यशास्त्रीय व्यापकता है, वैसी व्यापकता आधुनिक शैलीविज्ञान में नहीं दिखायी देती।
4. आधुनिक शैलीविज्ञान वस्तुगत और वैज्ञानिक बनने के आग्रह में पाठेतर सन्दर्भों का विवेचन नहीं कर रहा है; किन्तु भाषा के सौन्दर्य-शास्त्रीय विवेचन की पूर्णता हेतु वह पुनः औचित्य की अवधारणा को अपनायेगा, क्योंकि इस सम्बन्ध में देसोइर की इस प्रबल मान्यता से पश्चिमी चिन्तना परिचित है कि सौन्दर्य की समस्या कला के रूप तक ही सीमित रहे, यह आवश्यक नहीं है। सौन्दर्य विषयक आवश्यकताएँ इतनी प्रबल हैं कि वे मनुष्य की सभी क्रियाओं को प्रभावित करती हैं।¹ इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य को भी बहु आयामी होना ही होगा

1. उद्धृत : स्टेण्डर्ड लैंग्वेज एण्ड पोयटिक लैंग्वेज—मुकारोवस्की,
संकलित—लिग्बिस्टिक्स एण्ड लिटरेरी स्टाइल—डोनाल्ड फ्रीमन, पृ० 49।

और शैली को औचित्य-विषयक अवधारणाएँ ऐसी बहुआयामिता दे सकती हैं।

‘शैली और औचित्य’ की विवेचना के बाद शैली से सम्बन्धित एक अन्य महत्वपूर्ण तत्त्व ‘सन्दर्भ’ का विवेचन आवश्यक है, जो शैली के स्वरूप को और उसके विश्लेषण को बहुत रूपायित करता है। आगामी प्रकरण इसी हेतु आयोजित किया गया है।

(ट) शैली और सन्दर्भ (Style and Context)

भाषा प्रतीक है और प्रतीक के पीछे सन्दर्भों की शृंखला होती है। फिर काव्य-भाषा में तो प्रतीकात्मकता घनीभूत स्थिति में रहती है, अर्थात् काव्य-भाषा पर तो सन्दर्भों का दबाव अत्यधिक होता है। यों भी कहा जा सकता है कि सन्दर्भों की विपुलता के अनुरूप ही भाषा की काव्यात्मकता निखरती जाती है। और शैली, जो काव्य-भाषा से जुड़ी हुई है, सन्दर्भों से निरपेक्ष होकर विवेचित नहीं की जा सकती। यद्यपि काव्य स्वयं को अपने से बाहर के अन्य सन्दर्भों से मुक्त करता है और अपना एक स्वायत्त भाषायी व्यक्तित्व निर्मित करता है; किन्तु वह स्वयं के ही सन्दर्भों की रचना भी करता है। वह एक नवीन भाषा-संसार, अनुभव-संसार अर्थात् सन्दर्भ-संसार का निर्माण करता है। इसलिए शैली के साथ सन्दर्भ का अध्ययन अत्यावश्यक हो जाता है। इसीलिए तो पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली के साथ-साथ सन्दर्भ की भी बराबर चर्चा होती रही है, जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की आभिजात्य अवधारणाओं में शैली को वक्ता, श्रोता, कृति की विषययस्तु आदि के सन्दर्भ में तो विवेचित किया जाता रहा, जो कि ‘सन्दर्भ’ के ही अंग हैं; किन्तु उसका अलग से और ‘सन्दर्भ’ के नाम से विवेचन आधुनिक युग में भाषाविज्ञान के विकास के साथ ही हुआ। जे. आर. फर्थ ने भाषा के अध्ययन को ‘सन्दर्भ’ की अवधारणा से सम्बद्ध किया। उन्होंने भाषा-प्रक्रिया में भाषा-संरचना के अतिरिक्त सन्दर्भ को तीन मुख्य घटकों में विभाजित किया— (1) वक्ता एवं श्रोता से निमित्त सन्दर्भ—जिसमें वक्ता और श्रोता की विशेषताओं, उनकी बोलने और अभिनय से सम्बन्धित भंगिमाओं को सम्मिलित किया है, (2) सम्बन्धित वस्तुओं से निमित्तसन्दर्भ—जिसमें देश, काल सम्मिलित हो जाता है और (3) वक्ता की वाचिक भंगिमाओं के परिणाम से उत्पन्न सन्दर्भ—जिसमें सुर, बलाघात आदि सम्मिलित होते हैं। जाहिर है कि भाषा-संरचना के स्वरूप और उससे प्राप्त होनेवाले अर्थ को उपरोक्त सन्दर्भ प्रभावित करते हैं।

शैली के सम्बन्ध में सन्दर्भ पर विस्तार से विचार करनेवाले दूसरे शैली-वैज्ञानिक एंक्विस्ट हैं। वे तो सान्दर्भिक सम्भावनाओं की समष्टि को ही एक रचना की शैली मानते हैं (Style of a text is the Aggregate of the contextual

probabilities of its linguistic items¹) । उन्होंने सन्दर्भ की दो कोटियाँ मानी हैं—(1) रचना-सन्दर्भ और (2) रचना-बाह्य सन्दर्भ । वे रचना-सन्दर्भ के अन्तर्गत पुनः दो उपकोटियाँ (अ) भाषायी रूप और (आ) रचनात्मक ढाँचा, बनाते हैं । भाषायी रूप में ध्वन्यात्मक, स्वनिमपरक, रूपिमपरक, वाक्यीय, कोशीय सन्दर्भों को सम्मिलित करते हैं और रचनात्मक ढाँचे में कथन के आदि, मध्य और अन्त; परिच्छेद, कविता, नाटक तथा रचना खण्ड का शेष खण्ड से सम्बन्ध और छन्द एवं साहित्य-रूप से सम्बन्धित सन्दर्भों पर विचार करते हैं ।

रचना-बाह्य सन्दर्भों में काल, साहित्य-रूप, परम्परा, रचनाकार, वक्ता, श्रोता/पाठक, वक्ता और श्रोता का स्तर, लिंग, शिक्षा, स्थिति और परिवेश सन्दर्भ, मुद्रा और आंगिक संकेत, बोली आदि से सम्बन्धित सन्दर्भों को सम्मिलित करते हैं । इस प्रकार एंक्विस्ट रचना की शैली के अध्ययन के लिए सन्दर्भ का एक व्यापक प्रारूप प्रस्तुत करते हैं ।

डेविड क्रिस्टल और डेरेक डेवी मानते हैं कि भाषा का हर प्रयोग इस प्रकार की भाषिक विशेषताओं को प्रकट करता है जो एक या एकाधिक भाषेतर सन्दर्भों से सम्बद्ध होती है ।² अर्थात् भाषा के अध्ययन के लिए भाषेतर सन्दर्भों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है । वे सन्दर्भों को जिसे स्थिति (Situation) से अभिहित करते हैं, आठ घटकों में तथा तीन कोटियों में प्रस्तुत करते हैं । प्रथम कोटि में (1) वैयक्तिकता—रचनाकार या वक्ता की अभिव्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताएँ, (2) बोली (भौगोलिक एवं सामाजिक स्तर के भेद से), (2) काल की सूचना (रचना एवं उसकी घटनाओं से सम्बन्धित काल) ।

दूसरी कोटि के अन्तर्गत अभिव्यक्ति को सम्मिलित किया है—उसमें (क) सरल/जटिल माध्यम (भाषण या लेखन) तथा (ख) सरल/जटिल अभिव्यक्ति-व्यवहार (एकालाप-वार्तालाप) को सम्मिलित किया है ।

तीसरी कोटि में व्यवसाय-विशेष से सम्बन्धित भाषा की विशेषताओं (Province), वक्ता एवं श्रोता का सामाजिक स्तर (Status,) किसी विशिष्ट उद्देश्य से की गई अभिव्यक्ति का प्रकार, जैसे पत्र-तार, भाषण या पुस्तक के रूप में अभिव्यक्ति (Modality) और वैयक्तिक विशेषताओं (Singularity) को समाविष्ट किया है ।³

जोफ्री लीच ने भी सन्दर्भ के क्षेत्र में भाषिक व्यवहार में भाग लेनेवाले व्यक्तियों, वार्तालाप के उद्देश्य, वार्तालाप के माध्यम और वार्तालाप के कार्य आदि का अध्ययन किया है ।⁴

1. लिग्विस्टिक्स एण्ड स्टाइल सं. जॉन. स्पेन्सर, (1971), पृ. 28 ।

2. इन्वेस्टीगेटिङ्ग इंग्लिश स्टाइल—डेविड क्रिस्टल एण्ड डेरेक डेवी, पृ. 11 ।

3. वही, पृ. 64 से 83 तक ।

4. ए लिग्विस्टिक गाइड टू इंग्लिश पोयट्री—जोफ्री लीच, 187-89 ।

पाश्चात्य शैलीविज्ञान में सन्दर्भ की विशद विवेचना रिफातेअर ने की है। वे सन्दर्भ को ही प्रतिमान के रूप में स्वीकार करते हैं। यह सन्दर्भ दो प्रकार का है व्यष्टि-सन्दर्भ (Micro-Context) और समष्टि-सन्दर्भ (Macrocontext)। वे मानते हैं कि सन्दर्भ कृति के बाहर नहीं, कृति के भीतर 'भाषाई सन्दर्भ' ही है। रिफातेअर मानते हैं कि सहृदय की शैली-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ सामान्य भाषा पर आधारित नहीं होतीं; बल्कि सहृदय के स्वयं के भाषा-अनुभव और भाषा-योग्यता पर ही निर्भर होती हैं। प्रत्येक सहृदय अपने स्वयं के भाषा-बोध की तुलना में कृति की भाषा का विचलन महसूस करता है। इस प्रकार रिफातेअर के 'सन्दर्भ' में सहृदय भी समाहित हो जाता है। भारतीय साहित्यशास्त्र में इस प्रकार की अवधारणाएँ मम्मट और विशेष रूप से महिम भट्ट ने प्रकट की हैं, जिनका आगे विवेचन किया जायेगा।

शैलीविज्ञान के आंग्ल-अमरीकी तथा रूसी स्कूल में सन्दर्भ को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है और अब तो 'सन्दर्भ' शैली से जुड़ा हुआ महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ बन चुका है।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

भारतीय साहित्यशास्त्र में सन्दर्भ को भरत के समय से ही महत्त्व प्राप्त था। भरत ने नाट्यशास्त्र में नाटक की रचना विभिन्न रसों और कला-शिल्पों से भरी हुई की है, क्योंकि नाटक को विभिन्न प्रकृति के श्रोताओं को संतुष्ट करना होता है।¹ वे पात्रों के वार्तालाप में उनकी भाषिक विशेषताओं के बारे में विशेष सजग दिखाई देते हैं।

दण्डी देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम आदि तत्त्वों को रचना के सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत करते हैं और शैली की परख इनकी सापेक्षता में करना चाहते हैं।²

वाक्य-भाषा और शैली को सन्दर्भ की दृष्टि से विवेचित करने की सबसे बड़ा आवश्यकता आनन्दवर्धन को प्रतीत हुई, क्योंकि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बीच अन्तर स्पष्ट करके काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता सिद्ध करना आवश्यक था। अर्थ-वैज्ञानिक स्तर पर ही सामान्य भाषा और काव्य-भाषा का विभेद स्पष्ट करके काव्य में व्यञ्जना की प्रतिष्ठा करनी थी। इसलिए उन्होंने व्यंग्यार्थ को विशिष्ट सन्दर्भों के सम्बन्ध में विवेचित किया जिनका वैज्ञानिक विवेचन मम्मट ने किया है। वे कहते हैं कि वाच्यार्थ 'सन्दर्भ' के आश्रय से व्यंग्यार्थ में बदलता है और वह सन्दर्भ (1) वक्ता, (2) बौद्धव्य, (3) काकु, (4) वाक्य, (5) वाच्य, (6) अन्यसन्निधि, (7) प्रस्ताव, (8) देश, (9) काल, (10) चेष्टादि के वैशिष्ट्य में विभाजित किया गया है।³

1. नाट्यशास्त्र—भरत, 1-113।

2. काव्यादर्श—दण्डी, 3-121।

3. काव्यप्रकाश—मम्मट 3-22-37।

यहाँ वक्ता के वैशिष्ट्य से वक्ता की अभिव्यक्ति की कुशलता, बौद्धव्य-वैशिष्ट्य से श्रोता की विशेषता, काकु के वैशिष्ट्य से विशेष प्रकार की कण्ठ ध्वनि या विशेष प्रकार से बोलने का लहजा, वाक्य-वैशिष्ट्य से किसी वाक्य विशेष से अन्य वाक्यों का भी अर्थ बदल जाने से आशय होता है। इसी प्रकार वाच्य के वैशिष्ट्य से, वाच्यार्थ की प्रधानता से अर्थ का बदल जाना, अन्य सन्निधि के वैशिष्ट्य से किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति से अर्थ का बदल जाना, प्रस्ताव वैशिष्ट्य से वक्ता द्वारा किये गये प्रस्ताव से अर्थ का संक्रमित हो जाना, देश के वैशिष्ट्य से किसी स्थान विशेष का अर्थ बदल जाना, काल के वैशिष्ट्य से काल का अर्थ-परिवर्तित हो जाना, 'आदि उद' से ग्राह्य चेष्टा के वैशिष्ट्य से चेष्टा का ही अर्थ बदल जाना सम्भव होता है। उपर्युक्त दस घटक अर्थ को परिवर्तित कर सकने में सक्षम हैं और ये सभी भाषा-संरचना से इतर सन्दर्भ हैं। अतः शैली का अध्ययन तब तक अपूर्ण ही बना रहेगा जब तक कि इन सन्दर्भों का विवेचन नहीं कर लिया जाता।

वस्तुतः संस्कृत व्याकरण में शब्दार्थ का जो विवेचन हुआ है, उसमें ही (1) संयोग, (2) वियोग, (3) साहचर्य-विरोध, (4) अर्थ अथवा कार्य, (5) प्रकरण, (6) लिंग, (7) अग्यशब्द-सन्निधि, (8) सामर्थ्य, (9) औचित्य, (10) देश, काल और व्यक्ति तथा (11) स्वर के आधार पर अर्थ का निश्चय माना गया था :

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणलिंगशब्दस्यान्यस्यसन्निधि ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इस प्रकार सर्वप्रथम वैयाकरणों ने ही शब्द से अर्थ की प्राप्ति की प्रक्रिया में शब्द से इतर सान्दर्भिक घटकों की कल्पना करली थी, और उसी के आधार पर ध्वनिकारों ने भी अभिधार्थ से प्रतीयमान अर्थ की प्राप्ति की प्रक्रिया का विश्लेषण किया और उसके लिए अनेक सान्दर्भिक घटकों की अवधारणा को अपनाया।

भारतीय साहित्यशास्त्र में सन्दर्भ की अवधारणा को महिम ने विशेष ढंग से प्रकट किया है। वे कहते हैं कि अनुमेयार्थ का बोध प्रकरणादिगत है। अभिधा तो संकेत-सहाया है, इसलिए उससे अनुमेयार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। अनुमेयार्थ तो देश, काल एवं पात्र के अनुसार अनन्त और अनियमित होता है। महिम ने जहाँ अनुमेय की प्राप्ति के लिए सहृदय को महत्त्व दिया है, वहाँ उसकी अनन्यता के लिए सहृदयों की अनुमेय-क्षमता को प्रधानता दी है। इस दृष्टि से महिम भट्ट की अनुमेय-क्षमता और फ्रांसीसी शैलीवैज्ञानिक रिफातेअर का व्यष्टि-सन्दर्भ लगभग एक ही है, जो काव्यार्थ की प्राप्ति के आधार हैं। अतः महिम और रिफातेअर के सन्दर्भ-विवेचन में यह रोचक समानता मिलती है।

(इ) निष्कर्ष—शैली और सन्दर्भ के उक्त विवेचन से हम दोनों साहित्यशास्त्रों की अवधारणाओं को इस प्रकार पाते हैं :

1. शैली को लेकर सन्दर्भ की विवेचना पश्चिम के आभिजात्य साहित्य-शास्त्र में विस्तृत और वैज्ञानिक रूप में नहीं मिलती, किन्तु समसामयिक शैलीविज्ञान में सन्दर्भ पर विस्तार से विचार किया गया है; यद्यपि उसको वह व्यवस्था और गम्भीरता प्राप्त नहीं हो सकी है जो भारत में संस्कृत साहित्यशास्त्र को प्राप्त हो चुकी थी।
2. सन्दर्भ की अवधारणा भारतीय साहित्यशास्त्र को संस्कृत व्याकरण के 'अर्थ-निश्चय' से सम्बन्धित अर्थवैज्ञानिक अवधारणाओं से प्राप्त हुई है और मम्मट, विश्वनाथ आदि ने उसे उसी आधार पर काव्यार्थ के प्रसंग में विकसित किया है। अर्थवैज्ञानिक अवधारणाएँ पश्चिमी व्याकरण के आधुनिक काल में ही विकसित हो सकी हैं, अतः सन्दर्भ की शैलीवैज्ञानिक अवधारणा भी वहाँ अब ही अधिक चर्चित हो सकी है।
3. दोनों ही साहित्यशास्त्र रचना की समीक्षा के लिए भाषिक एवं भाषे-तर सन्दर्भों का सहारा लेते हैं, और शैली की व्याख्या में सन्दर्भ की सहायता आवश्यक मानते हैं।
4. फर्थ, एंक्विस्ट, हैलीडे, लीच, डेविड क्रिस्टल, आनन्दवर्धन, मम्मट, तथा विश्वनाथ आदि की सन्दर्भ-सम्बन्धी अवधारणाओं में काफी समानता है; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने सन्दर्भ को अधिक व्यापकता और सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है।
5. रिफातेअर और महिम भट्ट के सहृदयगत सन्दर्भ की अवधारणा भी रोचक समानता लिए हुए है।
6. भाषा पर सन्दर्भों का दबाव बढ़ता जा रहा है, काव्य रचना अधिकाधिक जटिल होती जा रही है, अतः रचना की शैली का अध्ययन करने हेतु सन्दर्भों का विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण करते जाने की महती आवश्यकता है। सन्दर्भों का अध्ययन जितना समृद्ध होगा, शैली के अध्ययन में उतना ही निखार आता जायेगा।

'शैली और सन्दर्भ' की अवधारणा का अध्ययन करने के बाद दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शैली के विभिन्न मार्गों या 'सामूहिक' शैलियों के सम्बन्ध में भी अवधारणाएँ विद्यमान रही हैं, जिनकी विवेचना आगामी प्रकरण में प्रस्तुत है।

(ठ) शैली और 'मार्ग'

पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली को रचनाकार से जोड़कर उसे रचनाकार की अभिव्यक्ति पद्धति; बल्कि वस्तु-दर्शन की पद्धति या उसकी जीवन-दृष्टि तक कहा गया और रचनाकार की प्रतिभा की अनन्तता, गत्यात्मकता और चिरनवीनता के कारण शैली को भी अनन्त, सतत परिवर्तनशील और

‘नयीं स्फुरणा’ तक कह दिया। किन्तु दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शैली का संरचनात्मक अध्ययन करके विभिन्न रचनाकारों की विभिन्न शैलियों में पायी जानेवाली संरचनागत गुणों की समानताओं के आधार पर कुछ शैलीगत ‘वर्गों’ की भी कल्पना की गई है। इस प्रकरण में दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शैली के वर्गों या मार्गों से सम्बन्धित इसी प्रकार की अवधारणाओं का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली को उसकी संरचनात्मक विशेषताओं के आधार पर वर्गीकृत करने की परम्परा प्लेटो के भी पूर्वकाल से रही है। ऐरिस्टो-फेनीज ने अपने व्यंग्य-नाटक ‘फॉगज’ में अपनी समसामयिक शैलियों का विवेचन करते हुए उन्हें दो भिन्न भेदों में विभाजित किया है। प्रथम, सरल और सहज शैली, जिसके प्रस्तोता यूरिपाइडीज माने गये हैं और जिसमें सहज स्वच्छन्द मानवीय भाषा पायी जाती है। दूसरी उदात्त शैली, जिसके प्रस्तोता ऐसकाइलस हैं और जिसमें विषय-वस्तु और भाव के साथ-साथ भाषा भी गौरवमय होती ही है। इस प्रकार शैली के दो मार्ग प्लेटो से पूर्व ही पहचाने जा चुके थे।

प्लेटो ने (1) सहज-सरल, (2) विचित्र, और (3) मिश्र-तीन काव्य-शैलियों की कल्पना की। उनके अनुसार ‘सहज’ में भाषा का सहज अनलंकृत रूप, ‘विचित्र’ में अधिक उतार-चढ़ाव, अधिक आडम्बर और ‘मिश्र’ में सन्तुलित रूप रहता है। प्लेटो सहज और विशेषरूप से मित्र को पसन्द करते हैं इसके अलावा प्लेटो में कहण गीतों के लिए ‘लिडियन’, कोमल और प्रसन्न राग के लिए ‘आयोनियन’ और लिडियन तथा वीर एवं रौद्र राग के लिए ‘डोरियन’ और ‘फ्रिजियन’ नामक भौगोलिक स्थानों पर आधारित नामों से सम्बद्ध शैलियों का उल्लेख किया है।¹ उक्त नामों का वर्गीकरण संस्कृत की वैदर्भी, गौड़ी आदि भौगोलिक नामों पर आधारित काव्य-मार्गों के अनुरूप ही है।

अरस्तू ने शैली-विभाजन भाषा के भिन्न-भिन्न व्यवहार-क्षेत्रों के आधार पर किया है। वे दो भेद मानते हैं—(1) साहित्यिक शैली और (2) विवाद शैली। विवाद शैली को पुनः (अ) संसदीय शैली और (आ) न्यायालय शैली में विभाजित किया। संसदीय को वृहत् भीति-चित्र के समान असूक्ष्म अंकनवाली तथा न्यायालय शैली को अनलंकृत कहा है। वे भावों के आधार पर मधुर और उदात्त नाम से शैली का विभाजन नहीं करते, क्योंकि फिर इस प्रकार के भावों और शैली-रूपों का अन्त नहीं होता। शैली के सम्बन्ध में अरस्तू का शैलीविभाजन नहीं, गुण-विश्लेषण अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है।

अरस्तू ने वाक्य विन्यास को लेकर भी शैलियों के दो भेद किये हैं—(1) असंहत (शिथिल (Loose) और संहत (चुस्त Periodic)। असंहत में वाक्य संयोजकों

1. उद्धृत : हिन्दी काव्यालंकारसूत्र—सं. डॉ. नगन्द्र (भूमिका), पृ. 98-99।

एवं अवयवों द्वारा गुम्फित होते हैं, इसके विपरीत चुस्त शैली में प्रत्येक वाक्य अपने आप में पूर्ण होता है और साथ ही बृहत्तर समष्टि का अंग भी। अरस्तू चुस्त शैली को ही अधिक निश्चयात्मक, तोषप्रद, सहज-सुगम एवं ग्राह्य मानते हैं।¹

शैली-मार्गों का स्पष्ट विवेचन सिसरो ने किया है। उनके समय में दो शैलियाँ प्रतिस्पर्धा में थीं—(1) एटिक शैली, जो सरल, स्वच्छ तथा अनलंकृत, कान्ति और सामासिक गुणों से सम्पन्न थी और यूरिपाइडीज की परम्परा में विकसित हुई थी। (2) एणियाटिक शैली अत्यधिक अलंकृत और चमत्कारपूर्ण थी तथा एकाइलस की परम्परा में विकसित हुई थी। सिसरो ने दोनों शैलियों को अतिवादिता से मुक्त रहने की सलाह दी। एटिक शैली की अपनी विरसता तथा निष्प्राणता को त्याग कर नाद और लय से सम्पन्न करने को श्रेष्ठ माना।

एटिक शैली का नाम एथेन्स नगर तथा एणियाटिक नाम एणियाई यवन प्रदेशों के आधार पर रखकर शैलियों को प्रारम्भ में भौगोलिकता से सम्बद्ध कर दिया था, जो आगे चलकर विशिष्ट गुणों से सम्बद्ध हो गयी। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की इन आभिजात्य शैलियों का नामकरण और संस्कृत साहित्यशास्त्र की वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों का नामकरण एक ही प्रक्रिया को अपनाये हुए है—प्रथम तो भौगोलिकता से जुड़ना और बाद में विशिष्ट गुणों का पर्याय बन जाना। इस प्रकार दोनों साहित्यशास्त्रों में इस दृष्टि से रोचक समानता मिलती है। इसी-लिए डॉ. नगेन्द्र ने ताँ एटिक को वैदर्भी का और एणियाटिक को गौड़ी को पाश्चात्य रूपान्तर तक कह दिया है।²

सिसरो की भाँति होरेस ने भी एटिक और एणियाटिक शैली के विवाद पर विचार प्रकट किये तथा इनमें किसी एक को उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं कहकर विवेक और औचित्य के आधार पर खरे उतरनेवाले शैली-गुणों को ही स्वीकार्य माना। इसी तरह संस्कृत साहित्यशास्त्र में भामह ने भी ऐसा ही कहा है कि “यह गौड़ है, यह वैदर्भ है, क्या ऐसा पार्थक्य (सम्भव) है? हाँ, गतानुगतिकता के कारण बुद्धिहीन ऐसा अवश्य कह सकते हैं।”³ ‘अर्थगाम्भीर्य और वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट, सरल और कोमल, (वैदर्भ काव्य) (सच्चे काव्य से) भिन्न, संगीत के समान, केवल श्रुति-मधुर होता है। अलंकारयुक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान, न्यायसंगत, अनाकुल (जटिलताओं आदि दोषों से मुक्त) गौड़ीय (मार्ग) भी अच्छा है, अन्यथा (इन गुणों से वंचित) वैदर्भ भी (अच्छा) नहीं है।’⁴ इस प्रकार सिसरो और भामह दोनों ने किसी शैली-

1. शैली—डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, पृ. 157।

2. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्—सं. डॉ. नगेन्द्र (भूमिका), पृ. 105।

3. काव्यालंकार—भामह, 1-31।

4. वही, 1-34-35।

विशेष को श्रेष्ठ नहीं माना, उनकी गुणयुक्तता को ही उनकी श्रेष्ठता का मापदण्ड स्वीकार किया।

डायोनीसियस मानते हैं कि काव्य-भाषा तीन प्रकार की होती है—उदात्त और अलंकृत, प्रसादमय और सरल एवं मिश्र। इस प्रकार शैली के भी तीन भेद हैं—(1) कठिनोदात्त, (2) मसृण या सज्जित और (3) मिश्र अथवा समंजित।

1. कठिनोदात्त शैली में गरिमा, तीव्रता, अनगढ़ता होती है। इसमें विचित्र एवं कृत्रिम शब्द होते हैं। अनियमित एवं सामासिक पद-रचना तथा कर्कश ध्वनियों से काठिन्य उत्पन्न किया जाता है।
2. मसृण या सज्जित शैली में सुकुमारता होती है। भाषा में स्वच्छ प्रवाह बारीक बुने वस्त्रों एवं किशोरी के मुँह से निकले कोमल स्वर की तरह मधुर-कोमला होती है। यह कठिनोदात्त शैली की विपरीत होती है।
3. इसमें दोनों शैलियों की विशेषताएँ पायी जाती हैं।

ये तीनों शैलियाँ अपने गुणों के आधार पर क्रमशः गौड़ी, पांचाली और वैदर्भी रीतियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं—

डेमेट्रियस शैली के चार प्रकार मानते हैं—(1) उदात्त, (2) मधुर या मसृण, (3) प्रसादमय और (4) ओजस्वी। इनमें से प्रथम तीन भेद तो सिसरो एवं डायोनीसियस की ही शैलियाँ हैं और चौथी 'ओजस्वी' में समास, सार, सुकुमारोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग तथा शब्द-बाहुल्य, व्यासगुण, सरलता और मसृणता का अभाव रहता है। इस प्रकार ये शैली-भेद भी गुणों पर आधारित हैं तथा संस्कृत साहित्यशास्त्रियों से मिलते-जुलते हैं।

क्विन्तिलियन यद्यपि परम्परागत, प्रसन्न (सरल), उदात्त तथा मध्यम अथवा सज्जित शैलियों से परिचित थे; किन्तु उन्होंने 'शैली के अनेक मार्ग हैं' अवधारणा को अपना कर उक्त तीन स्थूल भेदों तक ही बँध जाना उपयुक्त नहीं समझा। उन्होंने माना कि वक्ताओं का स्वभाव-वैचित्र्य और श्रोता-समाज की विभिन्नता ही शैली-भिन्नता का कारण है।¹ यहाँ क्विन्तिलियन एक ओर तो दण्डी और कुन्तक की तरह कवि-स्वभाव की भिन्नता की अवधारणा को शैली-भेद का आधार मानते हैं तो दूसरी ओर भरत की तरह भौगोलिक एवं सामाजिक भिन्नता को भी शैली की भिन्नता का कारण मानते हैं। अतः उनका शैली विभाजन का दृष्टिकोण अधिक व्यापक और वैज्ञानिक है। क्विन्तिलियन ने एटिक और एशियाटिक शैली के अतिरिक्त रूहोडियन शैली, जो कि उक्त दोनों की मध्यवर्तिनी है, का भी उल्लेख किया है।

वेदियस असेन्सियस ने काव्य-विषयों के अनुसार शैली का विभाजन किया। उन्होंने देवताओं, वीरों एवं नरेशों का वर्णन उदात्त शैली में, उपदेशात्मक काव्य के माध्यम से वैज्ञानिक तथ्यों और सूचनाओं की अभिव्यक्ति मध्यम शैली में तथा ग्राम्य विषयों का चित्रण अनुदात्त शैली में प्रस्तुत करना उपयुक्त समझा। विषयों और शैलियों का यह वर्गीकरण मध्ययुग में 'वर्जिल चक्र' (द ह्वील ऑफ वर्जिल) के त्रय से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था।¹ अतः यह चक्र की अवधारणा भी शैली के विभाजन को ही प्रस्तुत करती है।

दाँते ने शैली के चार भेद किये—(1) निर्जीव अथवा रुचिविहीन, (2) केवल सुरुचिपूर्ण, (3) सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर और (4) सुरुचिपूर्ण, सुन्दर तथा उदात्त। इनमें अन्तिम शैली को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। वस्तुतः प्रथम शैली तो शैली ही नहीं है, वह तो शैली का भ्रष्ट रूप है। केवल 'सुरुचिपूर्ण' एवं 'सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर' शैली 'पारम्परिक, प्रसन्न और सुन्दर (मधुर)' शैली के समकक्ष है। अन्तिम शैली को संस्कृत की वैदर्भी के समकक्ष रखा जा सकता है।

वेन जॉन्सन ने शैली के चार भेद माने हैं—संक्षिप्त, समस्त, व्यस्त और समंजित शैली। उसमें व्यस्त शैली, शैली न होकर शैली-दोष मात्र है। संक्षिप्त और समस्त शैलियों में कोई प्रकार-भेद नहीं है। समंजित शैली भी प्रारम्भिक है। वेन जॉन्सन ने उदात्त, क्षुद्र और मध्यम के रूप में भी तीन शैलियों का उल्लेख किया है जो परम्परागत ही है। पोप ने अशुद्ध और शुद्ध शैली के रूप में विभाजन किया। उनके अनुसार अशुद्ध शैली में मिथ्या और आडम्बरपूर्ण शब्द-रचना होती है तथा शुद्ध शैली में प्रसादात्मक और पारदर्शी। इस प्रकार नव्यशास्त्रवादी साहित्यशास्त्री शैली के अभिजात मार्गों को ही विवेचित करते रहे हैं।

पश्चिम में शैली का वर्गीकरण साहित्यिक विद्याओं के आधार पर भी हुआ है। महाकाव्य (वीर गाय-Heroic poetry) और त्रासदियों की शैली उदात्त (Heroic) कही जाती है—मैथ्यू ऑर्नल्ड ने इसे 'ग्रेण्ड स्टाइल' कहा है, कामदी की शैली को सामान्य तथा प्रहसनादि की शैली को अनुदात्त। इसी तरह काव्य-विधाओं के आधार पर ही 'एपिक', 'ट्रैजिक', 'एलिजाड्रिक' 'लिरिकल' आदि नामकरण हुए हैं। व्यक्तियों के नाम पर भी सिसिरोनियन, सेनेकन, पेट्रार्कन, मिल्टानिक, यूफ्यूइस्टिक, यूफिमिस्टिक, जॉन्सनीज आदि शैली-भेद प्रचलित रहे हैं। किन्तु इस प्रकार के नामकरणों के आधार कोई विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषण को प्राप्त नहीं कर सके।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में नवशास्त्रवादी अवधारणाओं के पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी साहित्यशास्त्रीय अवधारणाओं का विकास हुआ और साहित्य-शास्त्रीय दर्शन

में मूलभूत परिवर्तन हुए। अब रचना का आग्रह रीतिवादिता और वस्तुनिष्ठता के लिए समाप्त होकर भावावेगता और आत्मनिष्ठता की ओर मुड़ गया। पारस्परिक अवधारणाओं के प्रति विद्रोह हुआ, अतः शैली के पारस्परिक भेदों को भुला दिया गया। अब शैली के विवेचन में रचनाकार और उसकी भावनाएँ प्रमुख हो गईं।

स्वच्छन्दतावादी साहित्यशास्त्र की प्रतिक्रिया में 'नयी समीक्षा' उभरी और उसके उपरान्त भाषाविज्ञान के सम्पर्क से आधुनिक शैलीविज्ञान का उदय हुआ। इन अवधारणाओं में रचना की स्वनिष्ठता और भाषा-संरचना के विश्लेषण की प्रधानता प्राप्त हुई। किन्तु एक रचना को परम्परा से काट कर उसकी भाषा का ही संरचनात्मक अध्ययन करने की इतनी व्यस्तता रही कि उसमें शैली के स्वरूप को समझने और उसका भाषावैज्ञानिक अध्ययन कर सकने की क्षमता विकसित कर लेने के बाहर कुछ भी नहीं सोचा गया। अतः शैली के भेदों के निर्धारण का प्रश्न तो बाद में आता है, पहले तो शैली का ही प्रश्न तैयार करने का जटिल प्रश्न रहा है। इस लिए शैली के 'मार्गों' का प्रसंग आभिजात्य साहित्यशास्त्र के साथ ही जुड़ा रहा है, अभी आधुनिक शैलीविज्ञान इसमें कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं आ सका है। संक्षेप में—

1. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली का विभाजन मुख्यतः शैली के गुणों की समानताओं के आधार पर ही हुआ है, और समय-समय पर काव्य की शैलियों में सजित गुणों के आधार पर शैली के वर्गीकरण में संशोधन-परिवर्तन होता रहा है; किन्तु मुख्य भेद दो ही रहे हैं।— प्रथम—सहज-सरल शैली, जो प्रसादमय, प्रसन्न, शुद्ध, मध्यम आदि अनेक नामों से जानी जाती रही है; दूसरी—उदात्त, जो विचित्र, अलंकृत, ओजस्वी, अशुद्ध आदि नामों से संज्ञायित होती रही है। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरी शैली की भी कल्पना की गई है, जिसमें इन दोनों शैलियों का मिश्रण, सन्तुलन रहता है। उसे मित्र, समंजित आदि नामों से अभिहित किया गया। ये तीनों शैलीभेद गुणों के विभाजन के आधार पर हैं और गुणों का विश्लेषण भाषा-संरचना तथा सहृदय पर पड़नेवाले प्रभाव को लेकर किया गया है।
2. गुणाधारित शैली-वर्गीकरण के अलावा शैलियों का नामकरण भौगोलिक नामों पर भी किया गया है, जिनमें एटिक और एशियाटिक प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त र्होडियन शैली को भी मान्यता मिली है। वस्तुतः ये नाम भौगोलिक होते हुए भी अन्ततः गुणों से ही जुड़े रहे हैं। एटिक शैली सरल-सहज का, एशियाटिक शैली उदात्त का तथा र्होडियन शैली मिश्र शैली का काफी प्रतिनिधित्व करती है।
3. शैली-विभाजन की अवधारणाएँ नव्यशास्त्रवादियों तक ही विशेषरूप

से प्रचलित रहीं, बाद में स्वच्छन्दतावादी साहित्यशास्त्र में रचनाकार की भावनाओं को महत्त्व मिलने के कारण तथा 'नयी समीक्षा' और आधुनिक शैलीविज्ञान में रचना की स्वायत्तता और भाषा-संरचना का इकाईमूलक और विश्लेषणात्मक अध्ययन होने के कारण पारम्परिक शैली-वर्गीकरण उपेक्षित तो हो ही गया शैली को साहित्यिक परम्परा या समग्र साहित्य अथवा साहित्यिक धाराओं के व्यापक धरातल पर परखने की दृष्टि भी नहीं रही। इसलिए आधुनिक युग में शैली का विभाजन विकसित नहीं हो सका।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र

भारतीय साहित्य में वर्गीय और समूहगत शैली के विकसित होने की स्थिति ऋग्वेद में ही देखी जा सकती है। वहाँ वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषिओं की परम्परा में उनके परवर्तियों ने अपनी पारिवारिक शैली में ही ऋचाओं की रचना की है। इस प्रकार शैली का वर्गीय स्वरूप तब से ही विकसित हुआ, जिसने परवर्ती साहित्यशास्त्र में 'मार्ग' की अवधारणा के रूप में विकास पाया।

भरत ने अभिनय की शैली को, जिसे उन्होंने वृत्ति कहा है, भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार भागों में विभाजित किया। इसी प्रकार चार प्रकार की प्रवृत्तियों (भाषा तथा आचार की विशिष्टता को व्यक्त करनेवाली—आवन्ती (पश्चिमी भारत की प्रवृत्ति), दाक्षिणात्या (दक्षिण भारत की प्रवृत्ति), उड्गमागधी (उड़ीसा तथा मगध की प्रवृत्ति) और पांचाली (मध्य देश की प्रवृत्ति)—का वर्णन किया है। यद्यपि वृत्तियों और प्रवृत्तियों का सीधा सम्बन्ध काव्य से नहीं है; किन्तु इस विभाजन ने परवर्ती साहित्यशास्त्र की 'मार्ग' अवधारणा का प्रेरक कार्य किया है। भरत ने तो गीतों का भी—मागधी, अर्धमागधी, सम्भावित और पृथुला—इन चार भागों में विभाजन करके भाषा-संरचना के आधार पर शैली-वर्गीकरण का प्रवर्तन किया।

भामह ने 'मार्ग' को 'काव्य' के नाम से—वैदर्भ और गौड़ीय—इन दो भागों में विभाजित किया। यद्यपि यह नामकरण भौगोलिक स्थानों के नाम से है; किन्तु भामह ने यह कह कर कि 'नाम तो प्रायः इच्छा-प्रसूत होते हैं (उनका अर्थ से विशेष सम्बन्ध नहीं होता)'¹ इन नामों में इनकी भौगोलिकता से सम्बन्धित अर्थ को अस्वीकृत कर दिया है। वे इनका आधार गुणों को ही मानते हैं। वैदर्भ काव्य को वे अर्थगांभीर्य और वक्रोक्ति से रहित स्पष्ट, सरल, कोमल और श्रुतिमधुर तथा गौड़-काव्य को अलंकार-युक्त ग्राम्यता-रहित, अर्थवान, न्यायसंगत, अनाकुल (अजटिल)

मानते हैं ¹ किन्तु वे दोनों की ही श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं, किसी को निम्न-उच्च नहीं मानते; बल्कि दोनों का पूर्ण पार्यव्य भी नहीं स्वीकारते। भामह का यह दृष्टि-कोण वैज्ञानिक और गत्यात्मक है, उसमें किसी प्रकार की पूर्वाग्रहता नहीं है।²

दण्डी ने 'काव्य' के स्थान पर 'मार्ग' का प्रयोग किया। उन्होंने कवि भेद के आधार पर सूक्ष्म भेद से मार्गों की अनन्तता बताई³, जिनका वर्णन सम्भव नहीं हो सकता; ⁴ किन्तु व्यावहारिक दृष्टि अपनाते हुए उनको दस मुख्य गुणों के आधार पर वैदर्भ और गौड़ में विभाजित कर दिया। वे गौड़ की अपेक्षा वैदर्भ मार्ग को श्रेष्ठ मानते हैं। वे वैदर्भ में श्ले प्रसाद, समता, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता माधुर्य, ओज, कान्ति और समाधि नामक दस गुण मानते हैं तथा गौड़ में इनका अभाव मानते हैं; किन्तु उनके कथन का झुकाव इस ओर है कि वे वैदर्भ में स्वाभावोक्ति, रसोक्ति को प्रमुख मानते हैं और गौड़ में वैचित्र्य तथा अलंकार को।

वामन ने 'मार्ग' शब्द के लिए रीति का प्रयोग किया और उसे 'विशिष्ट' पद-रचना से लक्षणीत किया। उन्होंने वैदर्भी और गौड़ीया के अतिरिक्त पांचाली का एक भेद और विकसित किया। वैदर्भी को समस्त गुणों से भूषित तथा गौड़ी को 'ओज' और 'कान्ति' गुणों से रंजित समास-बहुला और कठोर पदावलीयुक्त कहा। 'माधुर्य' और 'सौकुमार्य' से उत्पन्न रीति को पांचाली कहा। वामन ने भी सर्वगुण-युक्ता होने से वैदर्भी को उत्कृष्ट कहा। इस प्रकार वामन की रीतियों का नामकरण तो पारम्परिक प्रदेशाधारित ही है; किन्तु उनका लक्षण-विवेचन गुणाधारित और भाषावैज्ञानिक है। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण भी दे दिया है कि—विदर्भादि (देशों) में आविष्कृत होने से (देश के नामों से वे संज्ञाएँ रखी गई हैं,) (किन्तु) देशों से काव्यों का उपकार नहीं होता।⁵ अतः रीतियों के उपकारक तो गुण ही हैं। वामन की गुण-विवेचना में प्रसादात्मकता पर विशेष जोर है। 'उदारता' तथा 'कान्ति' गुण को छोड़कर शेष गुण प्रसादात्मकता को ही प्रदान करते हैं। इसलिए रीतियों को भी प्रसादात्मकता से जोड़ देते हैं। क्योंकि रीति का लक्ष्य सहृदय के चित्त का आलहादन है, अतः उसे सर्वप्रथम स्पष्ट, सरल, प्रसादात्मक होना चाहिए।⁶

कुन्तक ने दण्डी द्वारा प्रस्तुत कवि-भेद से मार्ग की अनेकता की अवधारणा को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया और कवि स्वभाव को (1) सुकुमार (2) विचित्र और (3) उभयात्मक—तीन रूपों में कल्पित करके इन्हीं नामों से काव्य-मार्गों का

1. काव्यालंकार, भामह-1-34 एवं 35।

2. वही, 1-32।

3. काव्यादर्श—दण्डी, 1-40।

4. वही, 1-101।

5. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन, 1-2-10।

6. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन, 1-2-21।

नामकरण किया। वे न तो रीति को देश-भेद के आधार पर मानते हैं, क्योंकि फिर तो देशों के अनन्त होने से रीति-भेदों की भी अनन्तता होने लगेगी¹ और न उनका उत्तम, मध्यम, अधम विभाजन करते हैं, क्योंकि तब तो अधम रीति यदि सहृदय हृदयाल्हादकारी नहीं है तो वह काव्य ही नहीं होगी।²

कुन्तक ने इन मार्गों के विश्लेषण के लिए औचित्य (प्रतिपाद्य अर्थ का आच्छादन) और सीमाग्य (वर्ण्यवस्तु का (सौन्दर्यरूप) गुण उपस्थित हो जाना), इन दो गुणों की पदों, वाक्यों और रचना में व्यापकता बताई है। ये गुण सभी मार्गों में विद्यमान रहते हैं, अतः सभी मार्गों का बराबर महत्त्व है। इस प्रकार कुन्तक एक और मार्ग को कवि-स्वभाव से जोड़कर उसमें वैयक्तिक विशिष्टता स्थापित करते हैं तो दूसरी ओर कवियों का मनोवैज्ञानिक आधार पर वर्गीकरण करके शैली को समूह-शैली के रूप में मार्गों से भी सम्बद्ध कर देते हैं। अतः उनके अनुसार शैली वैयक्तिक भी है और सामूहिक भी। रुद्रट ने रीति को समासाधारित मानकर लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के अनुसार पांचाली, लाटीया और गौड़ीया नामकरण किया और समासरहित रीति को वैदर्भी कहा।³ इस प्रकार रुद्रट के यहाँ पर भी रीति भाषा-संरचना के एक पक्ष के आधार पर ही विवेचित रही।

आनन्दवर्धन ने रीति के स्थान पर संघटना शब्द का प्रयोग किया, जो रुद्रट की तरह समासाधारित ही होती है।⁴ वे वामन द्वारा प्रस्थापित गुण और रीति की घनिष्ठता की कठोरता को तोड़ देते हैं और संघटना को गुणाश्रित मानने के बजाय वक्ता, वाच्य (काव्य-विषय) एवं विधान की प्रकृति (काव्य-रूप) के नियन्त्रण में रख देते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन के यहाँ संघटना से काव्य-मार्ग की अवधारणा लुप्त हो जाती है, वह स्वयं रसाश्रित और रस की परिचारिका के रूप में उपस्थित होती है। रीति की यही स्थिति राजशेखर, भोज, मम्मट, विश्वनाथ आदि के यहाँ रही है। वस्तुतः काव्य-मार्ग के रूप में, एक समूह-शैली के रूप में उसका विश्लेषण नहीं किया जाता।

हिन्दी साहित्यशास्त्र में शैली को लेकर या तो संस्कृत साहित्यशास्त्र की छाया में व्यास, सामासिक, प्रसादात्मक आदि शैलियों की चर्चा हुई या फिर कथ्य की प्रस्तुतिकी विशेषताओं को लेकर वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक शैलियों की अवधारणा पनपी; किन्तु उनका विशद् भाषा-वैज्ञानिक आधार तैयार नहीं हो सका। अतः शैली और 'मार्ग' की अवधारणाओं को लेकर कोई मौलिकता नहीं पनपी। अब सामयिक शैलीवैज्ञानिक चिन्तन में भी आधुनिक पाश्चात्य शैलीविज्ञान की तरह

1. वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, 1-24 कारिका।

2. वही।

3. काव्यालंकार—रुद्रट, 2-4, 5 एवं 6।

4. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 3-5।

भाषा के विश्लेषणात्मक और इकाईगत अध्ययन की ही प्रधानता है, अतः 'वर्ग-विशेष' के स्तर पर शैली का विवेचन नहीं हो रहा है।

संक्षेप में :

1. ऋग्वेद काल से ही काव्य-रचना की सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर शैली के वर्गों का निर्माण शुरू हो गया था, जिसका नाटक के सन्दर्भ में विवेचन तो सर्वप्रथम भरत में मिलता है तथा काव्य के सन्दर्भ में उसकी शुरुआत भामह में देखी जा सकती है।
2. शैली के मार्गों का निर्माण एक प्रदेश-विशेष की रचनाओं में विद्यमान विशिष्टताओं के आधार पर हुआ, फिर उनको प्रदेश-विशेष के नाम से देखा गया; किन्तु कालान्तर में पुनः उनके विभाजन का आधार, बावजूद प्रादेशिक नाम के, गुणाधारित ही रहा। इस प्रकार मार्गों के लक्षण में गुण से प्रदेश और प्रदेश से पुनः गुण की ओर पुनरावर्तन हुआ है।
3. भामह ने मार्ग को प्रदेश से मुक्त किया, दण्डी और वामन ने उसे गुणों से बाँध दिया तथा कुन्तक ने कवि स्वभाव और गुण दोनों से संयुक्त किया। आनन्दवर्धन और उनके परिवर्तियों ने काव्य का मार्गीय आधार ही लुप्त कर दिया और उसे रस एवं ध्वनि काव्य में ही अन्तर्भुक्त कर लिया।
4. हिन्दी साहित्यशास्त्र में 'मार्ग' की अवधारणा संस्कृत साहित्यशास्त्र के ध्वनि एवं रस-सिद्धान्त के अनुरूप ही विकसित हुई, इसलिए सामासिक, व्यास, प्रसादात्मक, वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक, पत्रात्मक, डायरी आदि शैलियों का नामोल्लेख तथा संक्षिप्त चर्चाएँ होती रहीं; किन्तु उनमें भाषावैज्ञानिक गम्भीरता नहीं आ पाई। समसामयिक शैली-विज्ञान भी अभी शैली के वर्गीय रूप का अध्ययन करने से दूर है।

(इ) निष्कर्ष : पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली के सामूहिक स्वरूप को लेकर किए गए उक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

1. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र जहाँ शैली की वैयक्तिकता से अवगत थे, वहीं उसके वर्गगत स्वरूप से भी अभिज्ञ थे। पाश्चात्य आभिजात्य साहित्यशास्त्र में तो शैली के सामूहिक रूप का अध्ययन भरा पड़ा है; जिसकी आधुनिक युग में उपेक्षा हुई है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में भरत, भामह, दण्डी, वामन और कुन्तक तक 'काव्य', 'मार्ग' या 'रीति' के नाम से शैली के सामूहिक रूप का विश्लेषण होता रहा, जो परवर्ती साहित्यशास्त्र में न्यूनतर होता गया।

2. दोनों ही साहित्यशास्त्रों में 'मार्गों' के वर्गीकरण का मूलभूत और स्थायी आधारभाषा के संरचनागत गुण रहे हैं और इनगुणों के किंचित फेरबदल से इन मार्गों के नामकरण या लक्षण में परिवर्तन होते रहे हैं। इस दृष्टि से दोनों साहित्यशास्त्रों के सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण बात है कि 'मार्ग' की अवधारणा गुणों से जुड़कर सदैव (1) संरचनागत रही और (2) परिवर्तनशील, गत्यात्मक तथा लचीली रही।
3. 'मार्ग' की अवधारणा दोनों ही साहित्यशास्त्रों में प्रदेश-विशेष से जुड़ी, किन्तु नामकरण भर तक। वह मार्ग-विभाजन का आधार नहीं बन सकी। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में एटिक, एशियाटिक और र्होडियन का प्रायः वही स्वरूप है, जो संस्कृत साहित्यशास्त्र में वैदर्भ, गौड़ और पांचाल मार्ग का रहा है।
4. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में विषय को लेकर मार्ग का जो विभाजन हुआ तथा जो वर्जिल-चक्र के नाम से चर्चित रहा है, वैसा ही विवेचन संस्कृत साहित्यशास्त्र में भी रस आदि के अन्तर्गत संघट्टना, रीति आदि का रहा है। अतः विषय और मार्ग को सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास दोनों ही साहित्यशास्त्रों में हुआ है।
5. भारतीय साहित्यशास्त्र में कुन्तक ने पहले प्रतिभा की प्रकृति के अनुरूप कवि-स्वभावों का वर्गीकरण किया और बाद में उसी के अनुरूप काव्य-मार्गों का। कवि-समाज के सामाजिक मनोविज्ञान को आधार बनाकर मार्गों की अवधारणा प्रस्तुत करना भारतीय साहित्यशास्त्र में ही नहीं सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र में एक महत्वपूर्ण कार्य रहा है। वस्तुतः पश्चिम में जिस शैली की वैयक्तिकता को रचनाकार के व्यक्तित्व साथ जितना विवेचित किया गया है, कुन्तकने 'रचनाकारों' के व्यक्तित्वों के आधार पर ही 'समूह-शैली' का भी विवेचन प्रस्तुत करके अपनी सूक्ष्मता और मनोवैज्ञानिकता का प रचय दिया है।
6. मार्गों की संख्या और उनकी प्रकृति को लेकर दोनों ही साहित्यशास्त्रों में विस्मयकारी समानता मिलती है। एक मार्ग का भुकाव सहजता, सरलता, प्रसादात्मकता, घ्राडम्बरहीनता की ओर रहा है, जबकि दूसरे मार्ग का आग्रह अलंकृतता, विचित्रता और चमत्कारिता की ओर। इन मार्गों के सन्निरूप के लिए दोनों ही साहित्यशास्त्रों में तीसरे मिश्रित मार्ग की कल्पना भी रही है।
7. एटिक या सरल या वैदर्भ मार्ग को प्रायः एशियाटिक, उदात्त या गौड़ मार्ग से बेहतर माना गया है और उसमें अधिकाधिक गुणों की विद्यमानता मानी गई है। ऐसा पश्चिम में भी हुआ और भारत में भी; किन्तु

भामह और विशेष रूप से कुन्तक ने इनमें उत्तम-अधम की अवधारणा का विरोध किया तथा दोनों को ही श्रेष्ठ, सहृदय के लिए आत्मादाकारी और पूर्ण काव्य माना। कुन्तक ने वस्तुतः दोनों ही प्रकार के कवि-स्वभावों और दोनों ही प्रकार के श्रोताओं को समान महत्त्व प्रदान किया है तथा साहित्यशास्त्रीय पूर्वग्रहों से मुक्त रहने का प्रयास किया है।

8. पश्चिम और भारत के आधुनिक साहित्यशास्त्रों में शैली को विश्लेषित करने का पुनः नया प्रयास शुरू हुआ है। किन्तु अभी तो शैली का लक्षण और उसके विश्लेषण करने की विधि ही स्पष्ट नहीं हो पायी है, इसीलिए शैली के वर्गीय स्वरूप का अध्ययन अभी दूर है। शैलीविज्ञान की समृद्धि के साथ-साथ यह हो सकेगा, ऐसी संभावना है।

(ड) शैली और मूल्य :

शैलीविज्ञान एक ओर तो भाषाविज्ञान से भाषा-विश्लेषण की वैज्ञानिक विधि प्राप्त करने का प्रयास करता रहा है, दूसरी ओर वह परम्परागत मूल्यधर्मी साहित्यशास्त्रीय अवधारणाओं से मुक्ति प्राप्त करने का भी प्रयास करता रहा है।

वस्तुतः शैलीविज्ञान अपनी प्रकृति की शोध की एक जटिल दुविधा से गुजर रहा है। एक ओर भाषावैज्ञानिक घुरी पर खड़े शैलीवैज्ञानिक उसे भाषा-विज्ञान की तरह पूर्णतः वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक बनाना चाहते हैं, दूसरी ओर सौन्दर्य-शास्त्र और नीतिशास्त्र के केन्द्रों में बैठे परम्परागत साहित्यशास्त्री उसे निर्गुणात्मक और मूल्य-सापेक्षी रखना चाहते हैं।

पश्चिम के आभिजात्य साहित्यशास्त्र में भी प्लेटो साहित्यशास्त्र को नीति-शास्त्र के घेरे में घसीट ले जाना चाहते थे और अरस्तू, सिसरो आदि उसे साहित्य का क्षेत्र—उसका निजी क्षेत्र ही संभलवाना चाहते थे। साहित्यशास्त्र की प्रकृति को परिभाषित करने के बारे में इस प्रकार की समस्या सदैव बनी रही है।

साहित्य के निर्माण में अपने समय की विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता रहा है और साहित्य की समीक्षा में भी विचारधाराएँ ढूँढ़ी जाती रही हैं या विचार-धाराओं को अपनाकर समीक्षा की जाती रही है। आधुनिक युग में टी. एस. इलियट तक ने साहित्य को तो साहित्यिक मापदण्डों से परखना चाहा; किन्तु उसकी 'महानता' को परखने के लिए साहित्यिक मापदण्डों के भी परे जाना आवश्यक समझा।

इस प्रकार की विचारधारा को लेकर चलनेवाले साहित्यशास्त्रियों की एक लम्बी परम्परा रही है। आधुनिक जीवन-दर्शन पर वैज्ञानिकता के प्रभाव से और भाषाविज्ञान की वैज्ञानिक-विश्लेषण प्रणाली से अब यह अवधारणा पनपी है कि (1) कृति मूलतः भाषा है, वह कोई मूल्यों का दस्तावेज नहीं है। (2) कृति स्वयं में पूर्ण है, उसका उद्देश्य उसकी अपनी बनावट (Structure) एवं बुनावट (Texture) की एकांग्विति में ही निहित है, काण्ट की तरह वह 'उद्देश्यविहीन उद्देश्य' होती है।

(3) कृति स्वयं में एक मूल्य है, उसकी समीक्षा किसी अन्य मूल्य के आधार पर नहीं की जानी चाहिए। सोल सपोर्टा कहते हैं कि मूल्य, सौन्दर्यपरक उद्देश्य आदि शब्दों का भाषावैज्ञानिकों के लिए अस्तित्व ही नहीं है।¹ नोथ्रोप फ्रे का कहना है कि साहित्य का अध्ययन मूल्यों के निर्धारण पर कभी भी निर्भर नहीं कर सकता।²

(4) साहित्य को परखने के मापदण्ड उसकी संरचना के भीतर ही हैं—संरचना के स्तर पर ही। उसका सन्देश और उसका शिल्प दोनों समंजित हैं, अतः रचना के इस समंजन का आभ्यन्तर अध्ययन प्रस्तुत करना ही शैलीविज्ञान का लक्ष्य है।

उक्त अवधारणाओं से भिन्न धारणाएँ रैने वैंलेक आदि की हैं जो मानते हैं कि साहित्य को बाह्य मूल्यों से तो परे रहना चाहिए; किन्तु उसके अध्ययन को मूल्यांकन से रहित नहीं बनाया जाना चाहिए। दरअसल अध्ययन करने के लिए किसी रचना का चुनाव ही 'मूल्यांकन' पर आधारित होता है।³ वे काव्य के सौन्दर्य को मूल्यों से सम्बद्ध करते हैं और आधुनिक भाषावैज्ञानिकों द्वारा सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की उपेक्षा करने का सकेत भी देते हैं।⁴ विमसैट तो मूल्य को एक ऐसे प्रतिमान के रूप में मानते हैं, जिसके आधार पर साहित्य को परखा जा सकता है।⁵

संक्षेप में, पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली और मूल्य को लेकर बहुत बड़ा विरोध व्याप्त है। वस्तुतः यह सौन्दर्यशास्त्र और भाषाविज्ञान की प्रकृति-भिन्नता का संघर्ष है, जो शैलीविज्ञान के घर में चल रहा है। किन्तु शैलीविज्ञान को इस संघर्ष से अपने ढंग से बचना है और अपनी प्रकृति का चुनाव करना है।

शैलीविज्ञान यह मानता है कि रचना का सौन्दर्य उसकी भाषा-संरचना से सजित हुआ सौन्दर्य है। यद्यपि भाषा का वह रूप जो सामान्य जीवन में व्यवहृत होता है, अपने में सौन्दर्यपरक सन्दर्भों को वहन करता है; किन्तु शैलीविज्ञान को रचना के उस सौन्दर्य का उद्घाटन करना होता है, जो उस भाषा-संसार में रहता है जो रचना में है और सिर्फ इसलिए है, क्योंकि उस भाषा संसार की सृष्टि ही इस प्रकार की हुई है, और इसलिए कि वह सौन्दर्य का सर्जन करती ही। अतः शैलीविज्ञान के सौन्दर्य और मूल्य से सम्बन्धित होने की सीमाएँ निश्चित हैं।

जिस प्रकार बोलचाल या शास्त्रीय भाषा में काव्यात्मकता और भाषायी सौन्दर्य के तत्त्व देखे जा सकते हैं, उसी प्रकार साहित्य में भी साहित्येतर कलाओं के

1. स्टाइल इन लैंग्वेज—टी. ए. सिबोक, पृ. 83।

2. पोलिमिक इण्ट्रोडक्शन—नोथ्रोप फ्रे—

उद्धृत : लिटरेरी स्टाइल : ए सिम्पोजियम—सेमूर चैटमैन, पृ. 71।

3. स्टाइलिस्टिक, पोयटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म—रैने वैंलेक

उद्धृत : लिटरेरी स्टाइल : ए सिम्पोजियम—सेमूर चैटमैन, पृ. 71।

4. स्टाइल वही, पृ. 424।

5. स्टाइल इन लैंग्वेज—टी. ए. सिबोक, पृ. 104।

चिन्तन और विचारधाराओं के सौन्दर्य तत्त्व होते हैं और पढ़े जा सकते हैं; किन्तु वे 'रचनाकार-व्यक्तित्व' की उपलब्धि नहीं हैं, उसमें निहित किसी और 'व्यक्तित्व' की क्षमता का परिणाम है, अतः वह शैलीविज्ञान का विषय नहीं है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र में इस प्रकार की सीमाएँ स्पष्ट हो गई थीं। (अन्य साधनाओं की तरह) काव्य का लक्ष्य भी पुरुषार्थ की प्राप्ति मान लेने के बाद भी काव्य के मूल्यांकन के लिए भाषा-संरचना के संसार का अतिक्रमण नहीं किया गया। शब्द-रचना से उत्पन्न सौन्दर्य में बाधक (अनौचित्यपूर्ण) तत्त्वों से बचने के लिए आगाह अवश्य किया। अभिनवगुप्त ने माना कि नैतिकता की परकाष्ठा नैतिक नियमों का आनन्द के साथ चयन करने में है और यही आनन्द काव्य के अनुभव से भी प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य के विश्लेषण की दृष्टि से नैतिकता के उद्देश्य को काव्य में ढूँढ़ना व्यर्थ है, काव्य का स्वयं का उद्देश्य किसी नैतिकता से कम नहीं है। सार्त्र भी यही घोषणा करते हैं कि "एक इसी पृथ्वी पर 'सम्पूर्ण मनुष्य' के लिए 'सम्पूर्ण मनुष्य' (Whole man) द्वारा मुक्ति प्राप्त की जानी चाहिए और वह मृत्यु के आसन पर नहीं, जीवन के आसन पर कला की साधना से प्राप्त की जा सकती है।"¹ अतः कला ही अपने आप में मुक्तिदाता मूल्य है।

वस्तुतः भाषा-संरचना के आधार पर ही रचना स्वयं में ही एक ऐसे उद्देश्य का निर्माण कर लेती है जो स्वयं में ही परिपूर्ण होता है। भाषा मनुष्य की प्रतिभा की सम्पूर्ण डूब को भेल सकने में समर्थ होती है, इसीलिए वह एक स्वतन्त्र 'संसार' का निर्माण कर सकती है। रचना इसीलिए 'सृष्टि' कही जाती है, रचनाकार को प्रजापति ब्रह्मा और काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है। आधुनिक शैली-विज्ञान के साथ बाह्य मूल्यों का पुच्छला जोड़ने का प्रयास इसलिए किया जाता है कि एक तो शैलीविज्ञान ने भाषा-विश्लेषण की क्षमता को पर्याप्त विकसित ही नहीं किया है कि वह भाषा-संरचना के सौन्दर्य का उद्घाटन कर सके, इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्रियों को भाषा और प्रतिभा की अन्तरंगता का पूर्ण परिचय ही प्राप्त नहीं है; जिनको परिचय था, उन्होंने शब्द को 'ब्रह्म' तक कहा है।

संक्षेप में, शैली और मूल्य का विवाद पश्चिम और भारतीय साहित्यशास्त्रों में तब-तब उठता रहा है जब-जब भी काव्य-रचना में कथ्य और कथन का, शब्द और अर्थ का सन्तुलन नष्ट हो गया है तथा कथ्य ने कथन को दबोच दिया है। किन्तु जब-जब यह सन्तुलन स्थापित हुआ है, समीक्षकों को कला का आत्यन्तिक मूल्य स्वयं रचना में ही प्रतीत हुआ है। कला में ही मूल्य ढूँढ़ने का आशय किसी रूपवादी धारणा से नहीं लिया जाना चाहिए, क्योंकि मात्र रूपवादिता से तो साहित्य

के लिए अपेक्षित शब्दार्थ की समान सहितता (कुन्तक) का सन्तुलन दूसरी दिशा में भंग हो जायेगा। वस्तुतः साहित्य का अपना व्यक्तित्व ही इसमें है कि वह शब्द और अर्थ के समान महत्त्व का सन्तुलन बनाये रखे। इस सन्तुलन के बन जाने से रचना में ही ऐसे 'मूल्य' की सृष्टि होती है कि फिर उसे अन्यान्य मूल्यों के लिए अपने से बाहर नहीं भाँकना पड़ता। अतः शैली की पराकाष्ठा की स्थिति में रचना स्वयं ही 'मूल्यवान' हो जाती है।

मिडल्टन मरि ने सन् 1921 में ही शैली की 'समस्या' से जूझते हुए 'शैली की समीक्षा के लिए छः भाषण'¹ प्रस्तुत करते हुए भी यही कहा था कि इसके (शैली के) लिए छः पुस्तकें भी अपर्याप्त होंगी और उसके बाद से, विशेष रूप से छठे दशक से तो शैली-विज्ञान में प्रभूत काय हुआ है, परिणामस्वरूप शैली शब्द ने अपने सन्दर्भों में बहुत विस्तार प्राप्त किया है। अतः शैली-सम्बन्धी अवधारणाओं का अध्ययन बहुत व्यापक और जटिल बन गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन का उद्देश्य पाश्चात्य भारतीय साहित्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्पराओं में निर्भरित शैली-वैज्ञानिक अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन करना रहा है, अतः विषय की व्यापकता को देखते हुए केवल यही संभव था कि शैली से सम्बन्धित अत्यन्त प्रमुख अवधारणाओं का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया जाता। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्याय के इस अध्ययन को नितान्त सांकेतिक और चयनित ही समझना चाहिए।

इस अध्याय के विभिन्न प्रकरणों के 'निष्कर्ष' शीर्षकों के अन्तर्गत शैली-वैज्ञानिक अवधारणाओं का सार-संक्षेप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, किन्तु इस समय अध्ययन के परिणामस्वरूप लेखक, जिन सारभूत तथ्यों की भूलक प्राप्त कर सका है, उनका संक्षिप्त विवेचन आगामी 'उपसंहार' अध्याय में प्रस्तुत किया जा रहा है।



उपसंहार

विगत एक शताब्दी से ही विश्व की समस्त भाषाओं पर विचारों का दबाव इतना तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है कि समस्त विश्व-साहित्य का 'साहित्यिक' स्वरूप ही वैचारिकता से आक्रान्त हो गया है। इसीलिए साहित्य के लिए रूप और विचार, शब्द और अर्थ की 'सहितता', युगनद्धता तथा सन्तुलन की अवधारणा धूमिल होती जा रही है। साहित्य-निकष भी वैचारिकता के मोह में गैर-साहित्यशास्त्रीय बनते गये हैं; किन्तु साहित्य एवं साहित्यशास्त्रों पर बाह्य तत्त्वों के इस छद्मप्रवेश के विरुद्ध अब पुनः आवाज उठने लगी है। भाषावैज्ञानिक ने सामान्य भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ किया है और साहित्यिक भाषा का विश्लेषण करके 'भाषा की साहित्यिकता' और 'साहित्य की भाषिकता' को पुनः चमकाने का प्रयास शुरू कर दिया है। पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र, जिन्होंने भाषा के साहित्यिक रूप को परखने की एक लम्बी परम्परा को विकसित किया था, अपनी मध्यकालीन सुषुप्ति के बाद अब पुनः अंगड़ाई लेते हुए दिखाई देते हैं। इसी अंगड़ाई में एक शब्द स्फुरित हुआ है : 'शैली' और इसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिए रूपायित हुआ है शब्द : 'शैलीविज्ञान'।

शैली और शैलीविज्ञान : अर्थ परिवर्तन के अनेक मोड़

साहित्य की समीक्षा के लिए शैली और शैलीविज्ञान नये शब्द हैं, किन्तु इनमें नवीन अवधारणाओं के साथ-साथ पुराने समीक्षात्मक सन्दर्भ भी भरपूर विद्यमान हैं। शैली को आधुनिक भाषावैज्ञानिक संस्पर्श प्राप्त होने से पूर्व रचनाकार की अभिव्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं का प्रतीक माना जाता रहा है और पश्चिमी साहित्यशास्त्र में तथा उसके समानान्तर ही सामयिक भारतीय साहित्यशास्त्र में भी, 'शैली ही व्यक्ति है' की अवधारणा विद्यमान रही हैं; किन्तु अब शैली को रचना के उन तत्त्वों का समुच्चय माना जाता है जो रचना की भाषा को सामान्य भाषा से, एक रचना की भाषा को दूसरी रचना की भाषा से, एक युग की रचना को दूसरे युग की रचना से, यहाँ तक कि एक संस्कृति और भाषा की रचना को दूसरी संस्कृति और भाषा की रचना से अलग करते हैं।

भाषा के सामान्य रूप और काव्य-रूप के वैज्ञानिक अध्ययन से यह तथ्य उभरा है कि सामान्य भाषा में शैली का प्रवेश ही काव्यत्व की सृष्टि करता है।

संस्कृत में भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, आनन्दवर्चन आदि तथा पश्चिम में आकि-बाल्ड हिल आदि ने यही विचार व्यक्त किया है। इस दृष्टि से शैली और काव्य-भाषा वस्तुतः एक ही ठहरती हैं। 'पट-तन्तु न्याय' से पट के तन्तुओं और पट को जिस प्रकार अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शैली और काव्य-भाषा को छिन्न नहीं किया जा सकता।¹ अतः 'उपचार' से काव्य-भाषा को ही शैली कहा जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी शैली के इसी व्यापक अर्थ को स्वीकार किया गया है।

पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों के आभिजात्य काल की शोध-दृष्टि काव्य-भाषा के उन घटकों और प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने की आंग रही है, जो अपनी संरचनात्मकता के आधार पर ही सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते थे। इस शोध-प्रक्रिया के दौरान ही शैली से सम्बन्धित उन अधिकांश अवधारणाओं पर चर्चा हो चुकी थी, जिन्हें आधुनिक शैलीविज्ञान में पुनः उठाया जा रहा है। इसलिए प्राचीन और अर्वाचीन, पाश्चात्य एवं भारतीय सभी साहित्यशास्त्रों में शैली का मूल सम्बन्ध भाषा-संरचना के आधार पर साहित्य-भाषा की साहित्यिकता का विश्लेषण करने से रहा है, यद्यपि रचनाकार और सहृदय की दृष्टि से भी काव्य-भाषा का विचार करके शैली ने अन्य अर्थछायाएँ भी प्राप्त की हैं।

(क) शैली : अर्थ की विभिन्न छायाएँ

'स्टाइल' शब्द पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में अपने अर्थ-विकास की एक लम्बी परम्परा रखता है जबकि प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में 'शैली' शब्द का कोई इस प्रकार का क्रमिक इतिहास नहीं मिलता; किन्तु संस्कृत भाषा में (माध्यमिन संहिता, शाकटायन के 'उणादि सूत्र', पारिणि के 'धातुपाठ', यास्क के 'निरुक्त', पतंजलि के 'महाभाष्य', 'मुग्ध-बोध' व्याकरण की टीका आदि में) इस शब्द का प्रयोग 'अभिव्यक्तिगत विशिष्टता' के रूप में अवश्य मिलता है। इसीलिए यह हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्र में 'स्टाइल' के समानार्थी शब्द के रूप में चल निकला और अब तो चल ही रहा है। 'स्टाइल' में निश्चय ही इतनी अर्थ-व्यापकता है कि उसमें भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रचलित 'प्रवृत्ति', 'वृत्ति', 'मार्ग', 'रीति', 'संघटना' आदि की अवधारणाएँ समाहित हो जाती हैं। इसका अर्थ यह भी है कि पश्चिम के 'स्टाइल' शब्द से सम्बन्धित अवधारणाएँ भारतीय साहित्यशास्त्र में भी रही हैं; किन्तु उनके लिए कोई एक शब्द पूर्ण समर्थ नहीं बन सका। और आज जबकि पश्चिम के 'स्टाइल' के लिए हिन्दी में 'शैली' शब्द प्रचलित हो चुका है तो उसमें संस्कृत साहित्यशास्त्र के वृत्ति, प्रवृत्ति, मार्ग, रीति, संघटना आदि शब्दों के अर्थों को सम्मिलित कर उसे एक विस्तृत अर्थ में प्रस्तुत करना अधिक समीचीन है। फिर पश्चिम में भी 'स्टाइल' शब्द का अर्थ-विस्तार निरन्तर जारी है, अतः उसके साथ ही शैली

शब्द के संभावित अर्थ-विस्तार में भी आपत्ति नहीं ही होनी चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थ में शैली को 'स्टाइल' के समान व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है और यह एक साथ अनेक अर्थछायाओं का संवहन किये हुए है।

रचना एक और रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा का प्रतिफलन होती है तो दूसरी ओर सहृदय की भावयित्री प्रतिभा का भोग। इसके अतिरिक्त वह रचित होने के बाद अपने भाषायी कलेवर को लिए हुए रचनाकार से स्वतन्त्र हो जाती है। रचना के इन तीन बिन्दुओं के संयुक्त होने पर ही काव्य-वृत्त (पोयटिक सिमिट) पूर्ण होता है। शैली इन तीनों हिन्दुओं से ही जुड़कर अपना स्वरूप प्राप्त करती है। रचनाकार से जुड़कर वह रचना में रचनाकार के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है, उसकी लेखन-कला का ही नहीं उसके वस्तु-दर्शन और चिन्तन का भी। इस दृष्टि से 'शैली व्यक्ति' ही होती है, (बुकों) और 'व्यक्ति' की अनन्तता के कारण वह भी अनन्त होती है (दण्डी और कुन्तक)। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में गेटे, बुफों, हडसन, शोपेनहार, ए.सी. वार्ड, शेरेन, जे. ब्राउन, ददले, ई.पी. ह्विपले, रेगो द गारमोन्स्, डी. लिखाचोव, भिरमुन्स्की एवं पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी साहित्यशास्त्रियों ने शैली को इसी अर्थछाया के रूप में ग्रहण किया है।

भारतीय साहित्यशास्त्र ने रचना को कवि की कारयित्री प्रतिभा एवं 'कवि-स्वभाव' आदि अवधारणाओं से जोड़ कर शैली के अध्ययन के लिए रचनाकार-केन्द्रित नजरिए का ही स्वीकार किया है, और प्रतिभा की प्रकृति तथा कवि-स्वभाव के आधार पर मार्ग-विभाजन, शैली विभाजन ही है, प्रस्तुत किया है।

रचना की सशक्तता का परिचय सहृदय और समीक्षक को मिलता है। सहृदय की आल्हादिता ही रचना की कसौटी होती है। इसलिए शैली सहृदय को अभिभूत कर देने की शक्ति का पर्याय बन जाती है। सहृदय को प्रभावित कर सकने वाले तत्त्व को शैली कहा जाता है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में लॉजाइनस, टी. ई. ह्यूम, बर्नार्ड शॉ, एफ. एल. ल्यूकस, डी. क्विन्सी आदि साहित्यशास्त्री शैली को इसी धारणा के साथ स्वीकारते हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र 'सहृदय' एवं 'साधारणीकरण' की अवधारणा को लेकर चलता है; किन्तु शैली को सहृदय की भावकता का पर्याय नहीं मानता, हाँ, उसे एक आवश्यकता और विचारणीय तत्त्व अवश्य मानता है।

शैली का तीसरा अर्थ रचना के भाषामय, स्वायत्त, स्वतन्त्र व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ है। रचना भाषा-पारावार की एक तरंग है—एक स्पष्ट उभरी हुई तरंग। वह भाषा-पारावार से ही उठती है, भाषामय ही होती है और स्वयं के निर्माण के साथ भाषा-पारावार के रूप को परिवर्तित करती है, फिर उसी का अंग बन जाती है—भाषा-पारावार की संरचनाओं के समीकरण में एक नयी हलचल उत्पन्न करने के साथ ऐसी रचना का अध्ययन उसकी भाषामयी प्रकृति के विश्लेषण से ही हो सकता

है। इस दृष्टि से पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्रों में विस्मयकार चन्तनगत समानान्तरता और प्रौढ़ता दिखाई देती है। दोनों ही के यहाँ शैली को भाषा-वैशिष्ट्य के रूप में ही लक्षणित किया है और उसका विश्लेषण भी भाषा-संरचना के तत्त्वों के आधार पर ही किया है।

शैली को रचना-केन्द्रित मानकर कभी उसको विचारों की पोशाक कहा गया तो कभी उसे भाषा से भी परे कोई अमूर्त प्रतीयमान तत्त्व माना गया; किन्तु व्यापक और प्रमुख अवधारणा उसको भाषागत अभिव्यक्ति का ऐसा वैशिष्ट्य मानने की रही है जो संरचना का ही परिणाम होता है, संरचना में ही निहित रहता है और जिसका अध्ययन संरचना के विश्लेषण से किया जा सकता है। इस प्रकार शैली को रचना-कार की वैयक्तिक प्रतिभा का परिणाम तथा सहृदय की आत्मादकता की शक्ति मान कर भी उसके संरचनागत कलेवर को ही महत्त्व दिया गया है, और शैली के वस्तु-निष्ठ विवेचन का मार्ग प्रशस्त हुआ है। पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र शैली के इसी वस्तुगत विवेचन में ही व्यस्त रहे हैं।

(ख) शैली और उसके प्रभावक तत्त्व

शैली को लेकर कभी-कभी शिल्प से भ्रान्ति हो सकती है, क्योंकि दोनों में कलात्मक तत्त्वों की अन्विति होती है और दोनों ही सौन्दर्यात्मक प्रभाव छोड़ते हैं; किन्तु शैली जहाँ 'नव-नव-उन्मेषशालिनी' प्रतिभा के नवीन सृजन पर जोर देती है और रूप में आविष्कार तथा कथ्य में शोध करती रहती है, वहाँ शिल्प-सौन्दर्य के एक साँचे की पुनरावृत्ति मात्र होती है। शिल्प का नव-नव रूपान्तरण शैली, और शैली की पुनः-पुनः आवृत्ति शिल्प होता है। शैली शिल्प को समादृत करती है तो उसे बराबर तोड़ती भी रहती है।

शैली और व्यक्तित्व के सम्बन्ध का प्रश्न पाश्चात्य और भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'कलासिक' प्रश्न रहा है। पश्चिम में व्यक्तित्व को लेकर दाँ धारणाएँ प्रचलित रहीं। पहली, जो कि आभिजात्य परम्परा से प्राप्त हुई है, व्यक्तित्व को शैली का नियामक ही नहीं, पर्याय तक मानती है। प्रारम्भ में ही सुकरात ने कहा—जैसा व्यक्ति वैसी वाणी; अब बुफों ने कहा—शैली ही मनुष्य है। शैली व्यक्तित्व की अनु-गूँज बनी रही, शैली व्यक्तित्व को पढ़ा जाता रहा, भाषा में व्यक्तित्व की आवाज सुनाई देती रही, शब्द लेखक के अंगुली-चिह्न (फिंगर-प्रिन्ट्स) माने जाते रहे।

व्यक्तित्व और शैली के सम्बन्ध की दूसरी अवधारणा के अन्तर्गत नीत्ये ने कहा—कलाकार किसी उच्चतर शक्ति का माध्यम या प्रवक्ता मात्र है। थॉमस बुल्फ ने कहा कि 'पुस्तक उसने नहीं लिखी, उससे लिखवाली गई।' टी. एस. इलियट ने प्रौढ़ कलाकार के लिए भोक्ता-व्यक्तित्व और रचनाकार-व्यक्तित्व में पार्थक्य माना। कला में व्यक्तित्व से पलायन माना गया।

भारतीय साहित्यशास्त्र इस दृष्टि से प्रारम्भ से ही निभ्रान्त रहा। उसने शैली

को कवि की कारयित्री प्रतिभा का परिणाम माना, प्रतिभा की अनन्ता के साथ शैली को अनन्त कहा, कवि-स्वभाव को 'काव्य-मार्ग' का नियामक सिद्ध किया; किन्तु कवि के निजी व्यक्तित्व और रचनाकार के व्यक्तित्व में सदैव विभेद देखा। अभिनवगुप्त ने वियोगी कौच की पीड़ा से वाल्मीकि के शोक को 'कविका शोक' स्वीकार किया, वाल्मीकि के 'व्यक्ति' का नहीं, क्योंकि व्यक्ति के शोक से तो 'रसात्मकता' की स्थिति ही नहीं आयेगी। अतः निजी व्यक्तित्व और रचनाकार के व्यक्तित्व के विभाजन की बात जब इलियट ने घोषित की तो यह प्रसंग पश्चिम में आश्चर्य का विषय रहा; किन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र के जानकारों के लिए नहीं। इस प्रकार शैली की दृष्टि से कवि के भोक्ता रूप की वैयक्तिकता महत्त्वपूर्ण नहीं होती; बल्कि उससे तटस्थ जो रचनाकार की वैयक्तिकता होती है वही शैली के निर्माण में सक्रिय होती है। वह सदैव 'विचित्र' होती है, इसलिए शैली को नवीन बनाये रखती है। इस दृष्टि से 'शैली ही मनुष्य है' कहने के बजाय 'शैली ही सर्जक मनुष्य है' कहा जाय तो शैली और वैयक्तिकता की भ्रान्ति स्वतः शान्त हो जाती है।

विषय शैली का नियामक है। उत्कृष्ट रचना में दोनों गुंथे हुए होते हैं, अतः परस्पर प्रभावित करते हैं। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में अरस्तू, लॉजाइनस, डेमेट्रियस, पटनम और माक्सवादी साहित्यशास्त्री विषय के अनुकूल शैली की रचना मानते रहे हैं। विषय के बदलाव के साथ शैली में भी बदलाव अवश्यम्भावी है। सामाजिक परिवेश से प्रभावित होना और उससे उद्दीप्त होकर लिखना रचनाकार की नियति है और विषय के अनुकूल शैली का रूपायन, शैली की नियति है। विषय की समरूपता के कारण राष्ट्रीय और सांस्कृतिक शैलियाँ उभरती नजर आती हैं। बोआस, सापिर, वोर्फ, फर्थ आदि भाषावैज्ञानिकों ने विषय और सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसके कारण हेलीडे, रिफातेअर आदि शैलीवैज्ञानिकों ने विषय के सन्दर्भ में शैली का अध्ययन प्रारम्भ किया।

भारतीय साहित्यशास्त्र ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और आनन्द की प्राप्ति को रचना का उद्देश्य निश्चित कर दिया। 'नाट्यशास्त्र' में ही नाटक को 'लोकवृत्तानुकरण' कह कर रचना के लिए विषय को परिभाषित करने का प्रयास किया। दण्डी ने तो महाकाव्य की महान शैली प्राप्त करने के लिए महाकाव्य के विषयों का उल्लेख भी कर दिया। भट्टतटोत ने कवि को 'ऋषि' कहकर वस्तु के विचित्र भाव को, उसके अन्तर्निहित धर्म को तत्त्व-रूप से जानना ही 'दर्शन' कहा और उसे कवि-ऋषि के लिए आवश्यक माना। अतः कवि के लिए 'देखना' और 'विचित्र भाव से' देखना, दोनों प्रक्रियाएँ विषय और शैली की समन्विति को ही द्योतित करती हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र में जगत्, रचनाकार, रचना और सहृदय से मिलकर बनेवाले काव्य-वृत्त में जगत् को भी एक बिन्दु माना गया है, अतः वह रचना की शैली को नियत करने का एक अनिवार्य घटक स्वीकृत हुआ है। इस दृष्टि से दोनों ही साहित्यशास्त्रों की अवधारणाएँ समान हैं।

भाषा एक सामाजिक उत्पाद है और शैली भाषा-उत्पाद। अतः भाषा और शैली में स्रोत-स्रोतस्विनी-सम्बन्ध है, किन्तु एक 'प्राणमय अनवन' के साथ। शैली भाषा है पर साथ ही भाषा के प्रति विद्रोह भी। शैली भाषा से निःसृत होती है इसीलिए तो भाषा की सीमाएँ, उसकी विवशताएँ शैली को भी सीमित और विवश करती हैं; किन्तु शैली भाषा की समस्त सामर्थ्य से असन्तुष्ट रखकर उसका अतिक्रमण भी करती है और भाषा को अभिव्यक्ति की नयी से नयी शक्ति का दान देती रहती है। भाषा के स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए भाषाविज्ञान और उसका नियमन करने के लिए व्याकरण तैयार होते हैं, इसी तरह शैली का विश्लेषण करने के लिए और उसके नियमन की दिशाओं का संकेत देने के लिए शैलीविज्ञान निमित्त होता है।

शैलीविज्ञान को पाश्चात्य चिन्तन में साहित्यालोचना के एक नये मसीहे का आगमन माना जा सकता है; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र के लिए तो यह उसका पुनरागमन ही है। पश्चिम में भाषा-केन्द्रित समीक्षा प्रारम्भ से रही; किन्तु उसको भाषावैज्ञानिक सुव्यवस्था प्राप्त नहीं हुई थी। आधुनिक युग में भाषाविज्ञान के विकास ने भाषा का विधिवत् अध्ययन करने के मापदण्ड तैयार किये, अनेक व्याकरण भी तैयार हुये। जब भाषा के व्याकरण तैयार हुए तो साहित्य में प्रयुक्त अतिक्रमित भाषा के व्याकरण तैयार करने की आवाज हुई और उस 'व्याकरण' का नाम, उस विश्लेषण-विधि का नाम, 'शैलीविज्ञान' चल पड़ा।

पश्चिम में शैलीविज्ञान के स्वरूप और क्षेत्र के सम्बन्ध में अनेक अवधारणाएँ पनपीं। एक के अनुसार शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान का ही अंग है और क्योंकि भाषाविज्ञान भाषा का अध्ययन कर सकता है, इसलिए काव्य-भाषा का अध्ययन भी भाषाविज्ञान में सम्भव है। आखिर काव्य-भाषा भी भाषा ही तो है। फिर भाषा का विचलन केवल काव्य में ही नहीं होता, अन्य अनेक भाषा-व्यवहारों में भी होता है। संक्षेप में, भाषा के किसी भी प्रकार के विचलन का विश्लेषण शैलीविज्ञान का विषय है।

दूसरी अवधारणा के अनुसार शैलीविज्ञान की सीमाओं में केवल साहित्यिक भाषा का अध्ययन ही सम्मिलित है, अतः शैलीविज्ञान साहित्यालोचन का पर्याय बन जाता है। तीसरी धारणा यह मानकर चलती है कि साहित्य में भाषा एवं भाषेतर घटकों का संयोजन होता है, इसलिए शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान के अंग के रूप में भाषायी घटकों का विश्लेषण तो कर सकता है, किन्तु भाषेतर घटकों का नहीं—जैसे कथानक, चरित्र आदि की संरचना का। अतः शैलीविज्ञान एक और भाषाविज्ञान का एक अंग है तो दूसरी ओर साहित्यालोचन के भी एक ही अंग को प्रस्तुत करता है। इसलिए शैलीविज्ञान और साहित्यालोचन पर्याय नहीं हैं।

भारतीय भाषा-चिन्तन भाषा के विभिन्न प्रकार्यों की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। एक ही भाषा-रूप का अध्ययन व्याकरण, न्याय और मीमांसा में भिन्न प्रकार्यों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। साहित्य में भाषा अपने संरचनागत सौन्दर्य को इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि उसका मुख्य प्रकाय सहृदय का आह्लादन करना ही होता है। साहित्यशास्त्र भाषा के इसी प्रकार्य का अध्ययन करता है। इस प्रकार भारतीय साहित्यशास्त्र पश्चिम की उक्त दूसरी अवधारणा को लेकर चलता है, जिसमें शैलीविज्ञान काव्य-भाषा की संरचना का इतना व्यापक अध्ययन करता है कि उसमें वर्ण से लेकर प्रकरण और प्रबन्ध तक के घटक समाहित हो जाते हैं और साहित्य का सम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। आनन्दवर्धन और कुन्तक का विश्लेषण भाषाधारित है और इतना व्यापक है कि वह आधुनिक शैलीविज्ञान का पर्याय तक कहा जा सकता है। आधुनिक साहित्यशास्त्र की साहित्येतर समीक्षाओं तथा भाषा-वैज्ञानिक चिन्तन की चुप्पी ने संस्कृत साहित्यशास्त्र की भाषावैज्ञानिक अवधारणाओं को अप्रासंगिक बना दिया था; किन्तु अब शैलीविज्ञान के रूप में उनका पुनरागमन हो रहा है।

वस्तुतः साहित्य और शैलीविज्ञान के सम्बन्ध का मूल प्रश्न इस तथ्य से जुड़ा हुआ है कि साहित्य का आत्यन्तिक मूल्य क्या है और शैलीविज्ञान का आत्यन्तिक उद्देश्य क्या है? साहित्य का आत्यन्तिक मूल्य शब्दार्थ की ऐसी विशिष्ट संरचना की सृष्टि करना है जो 'सहृदयहृदयाह्लादक' हो सके और शैलीविज्ञान का आत्यन्तिक लक्ष्य शब्दार्थ की 'विशिष्ट' रचना का विश्लेषण करना है। इसलिए शैलीविज्ञान साहित्य का अध्ययन करने में सक्षम है। इस संबंध में पाश्चात्य शैलीविज्ञान द्वारा प्रस्तुत कुछ काव्य-समीक्षाओं की अपूर्णता को लेकर कुछ आशंकाएँ उठी हैं, किन्तु वह तो शैलीविज्ञान की अर्द्धविकसित स्थिति का सूचक है, उसकी संभावित क्षमता का नहीं। संस्कृत के 'ध्वन्यालोक' और 'वक्रोक्तिजीवितम्' जैसे समृद्ध ग्रन्थों को शैलीविज्ञान के आधार-ग्रन्थ मानकर उक्त शंकाओं का निवारण किया जा सकता है।

**(ग) शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएँ और पाश्चात्य-भारतीय साहित्यशास्त्र :
आमन-सामने**

पाश्चात्य और भारतीय चिन्तनाओं का अध्ययन इनकी दीर्घकालिकता, परम्पराओं की निरन्तरता और क्षीण सम्पर्क के बावजूद समानान्तर तथा सम-दिशाओं की यात्राओं के कारण एक रोचक अनुभव है। अनेक क्षेत्रों में इस प्रकार के अध्ययन प्रस्तुत हुए हैं, साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में भी पर्याप्त कार्य हुआ है; किन्तु शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की तुलना करने का यह प्रथम प्रयास है, इसलिए इस विषय की ताजगी ने बार-बार विस्मित और रोमांचित किया है। मैंने महसूस किया है कि कहीं अरस्तू और भरतमुनि, सिसरो और कुन्तक, पोप-डाइडन और आनन्द वर्धन एक ही मशाल जलाए खड़े रहे, तो कहीं कुन्तक की मशाल में रोमन याकोब्सन

ने तेल डाला है तो महिम भट्ट की मशाल में रिफातेअर ने। और लगता है कि दोनों ही साहित्यशास्त्रों की मशालों ने धरती के दो भिन्न छोरों में अपना-अपना आलोक बिखेरा है, और आज जबकि धरती सिकुड़ गई है तो इन मशालों के समीप आ जाने से अन्वैरी साहित्यशास्त्रीय खाइयों के भी आलोक से घट जाने की संभावनाएँ बढ़ गई हैं।

यहाँ दोनों साहित्यशास्त्रों को आमने-सामने रखते हुए उसकी प्रमुख और उल्लेखनीय समानताओं और असमानताओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) समानताएँ :

(1) पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रथम समानता तो इनकी भौगोलिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक विभिन्नताओं के बावजूद शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं के प्रारम्भ और प्रवाह को लेकर है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली-विषयक चिन्तन ईसा की कई शताब्दियों पूर्व से होता आया है, किन्तु उसकी ठोस और समृद्ध आधार-भूमि, ईसा से चार शताब्दी पूर्व अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' में मिलती है। इसी तरह भारतीय साहित्यशास्त्र में शैलीविषयक अवधारणाएँ ऋग्वेद तक में ढूँढ़ी जा सकती हैं; किन्तु उनको व्यवस्थित और व्यापक रूप ईसा के दो-तीन शताब्दी पूर्व, भरत के 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त हुआ।

दोनों साहित्यशास्त्रों को बीच में एक ऐसे निष्क्रिय युग से गुजरना पड़ा है, जिसमें शैली-सम्बन्धी किसी मौलिक अवधारणा का जन्म नहीं हुआ। पश्चिम में यह काल ईसा की तीसरी शताब्दी (लॉजानस) से 14वीं शताब्दी तक रहा और पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप ही शैली-विषयक चिन्तन को चैतन्य प्राप्त हुआ। भारत में यह काल तीसरी शताब्दी पूर्व से छठी शताब्दी (भामह) तक तथा सत्रहवीं शताब्दी (पं. जगन्नाथ) मध्य से 19वीं शताब्दी के अन्त तक रहा। यहाँ भी नवीन शैली-वैज्ञानिक अवधारणाएँ पुनर्जागरण काल में ही उद्भूत हुईं।

शैली-सम्बन्धी अवधारणाओं के सम्बन्ध में एक रोचक तथ्य यह भी है कि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रारम्भ में शैली की चर्चा भाषण कला के रूप में उभरी है तो भारतीय साहित्यशास्त्र में नाटक के सन्दर्भ में। दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शैली साहित्य से बाद में आकर जुड़ी है। किन्तु जब जुड़ गई है तो दोनों के यहाँ ही प्रमुखतः साहित्य के सन्दर्भ में ही रमी रही है।

(2) पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली की अवधारणा के जन्म का आधार ही सामान्य भाषा से काव्य-भाषा की भिन्नता की धारणा है। काव्य-भाषा के अतिरिक्त या वक्ररूप को दोनों ही साहित्यशास्त्रों से महसूस किया। काव्य-भाषा के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण मान्यता यह रही है कि वह सन्देश का माध्यम भी है और स्वयं में ही सन्देश भी होती है; जबकि सामान्य भाषा सन्देश का माध्यम मात्र ही होती है। वह मूल्यों को व्यक्त भी करती है और स्वयं की संरचना को ही एक स्वायत्त मूल्य के रूप में प्रस्तुत करती है। उसे खिड़की का 'पारदर्शी शीशा'

(दृश्य का माध्यम) और स्वयं में 'दर्पण का सैट' (स्वयं में दृश्य) माना गया (क्रियेगर)।¹ वह शास्त्रों और पुराणों के ज्ञान की बाहिका और स्वयं में अपनी 'वक्तता' के कारण 'आल्हादक' कही गई।²

काव्य-भाषा में शब्दार्थ की 'युगनद्धता' की अवधारणा दोनों ही साहित्यशास्त्रों में मान्य है। रोलॉ बार्थेस कहते हैं कि कथ्य और कथन को फल की गुठली और गूदे की तरह विभाज्य नहीं, प्याज के पर्त-दर-पर्त छिलकों और छिलकों ही छिलकों की तरह मानना चाहिए तथा हर पर्त में कथ्य और कथन की अविभाज्य समन्विति माननी चाहिए।³ कुन्तक ने भी 'शब्दाधौ सहितौ' के विश्लेषण में शब्द और अर्थ की अविभाज्यता ही नहीं, उसकी समतुल्यता भी मानी।⁴ काव्य-भाषा में न तो वेदादि की तरह शब्द का और न इतिहासादि की तरह अर्थ का महत्त्व होता है, बल्कि वहाँ तो शब्द और अर्थ समान महत्त्व के साथ संयुक्त रहते हैं। काव्य-भाषा की विशिष्टता का रहस्य इसी तथ्य में छिपा हुआ है।

काव्य-भाषा का विश्लेषण भाषा के विभिन्न प्रकारों के सन्दर्भ में भी दोनों ही साहित्यशास्त्रों में हुआ है। आई. ए. रिचर्ड्स, रोमन याकोब्सन, हैलीडे आदि विद्वानों ने भाषा के विभिन्न प्रकारों में से काव्य के सन्दर्भ में काव्यात्मक प्रकारों की संकल्पना प्रस्तुत की तो कुन्तक ने व्याकरण, न्याय, भीमांसा के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भाषा के (संरचना-आधारित) 'आल्हादक' प्रकारों की अवधारणा प्रस्तुत की तथा आनन्दवर्धन और महिम भट्ट ने भाषा-प्रकारों के आधार पर भाषा के प्रतिरूप (Pattern) तैयार किये।

(3) शैलीविज्ञान में रचना की स्वनिष्ठता और स्वायत्तता की अवधारणा प्रमुख स्थान रखती है, क्योंकि काव्य-विश्लेषण को वस्तुगत रूप देना तभी सम्भव होता है जब रचना का स्वरूप निश्चित और स्वतन्त्र रहे। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शैलीविज्ञान की 'वैज्ञानिकता' को जाँचने का यह प्रमुख आधार माना जा सकता है कि दोनों के यहाँ ही रचना को एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। वह प्रकृति की अन्य रचनाओं, जीवधारियों की संरचना की तरह एक है, स्वायत्त है और बाह्य परिवेश से स्वतन्त्र है। उसके विश्लेषण के लिए घटकों की कल्पना कर ली जाती है; किन्तु कृति का सौन्दर्य उसके 'सामंजस्य', 'संयोग' से पूर्णता और एकता में है, घटकत्व में नहीं।⁵ पश्चिम में क्रोचे को छोड़ कर बाकी सभी साहित्यशास्त्री रचना को संश्लिष्ट मानते हुए भी व्याख्येय और

1. प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. 70

2. वही, पृ. 76।

3. वही, पृ. 71।

4. वही, पृ. 73।

5. वही पृ. 79, 83, 84।

विश्लेष्य मानते हैं। कुन्तक अलंकार और अलंकार में अभेद मानते हैं; किन्तु केवल साहित्यशास्त्रीय उपादेयता की दृष्टि से वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक उसके अनेक भेदों और स्तरों की कल्पना भी कर लेते हैं। रचना को अविभाज्य और विभाज्य मानने के पीछे भारतीय दर्शन की अद्वैतवादी अवधारणा और व्याकरण में वाक्य की अखंडता और खण्डों में विश्लेषित करने की संकल्पना का आदर्श रहा है।

दोनों ही साहित्यशास्त्रों में रचना को स्वतन्त्र मानने के कारण उनका विवेचन उसकी संरचना के आधार—पर ही किया गया है, रचना से भिन्न भूल्यों और संरचना से भिन्न मापदण्डों के आधार पर नहीं। समीक्षा बीच-बीच में भाषा-संरचना की धुरी को त्याग कर साहित्य के वृत्त से बाहर भी भटकती है; किन्तु अब दोनों ही साहित्यशास्त्रों में उसका पुनरागमन देखा जा सकता है।

(4) पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली की रचनाकार, रचना और सहृदय इन तीनों के कोणों से ही परखा गया है। रचनाकार की दृष्टि से शैली को रचनाकार का पर्याय और रचनाकार की प्रतिभा की गत्यात्मकता के अनुरूप शैली की भी अनन्तता स्वीकार की गई है। भारतीय साहित्यशास्त्र में रचनाकार के पक्ष में कारयित्री प्रतिभा की कल्पना की गई है।

सहृदय के आल्हाद और उसकी प्रभाविता को आधार मानकर भी दोनों ही साहित्यशास्त्रों में विवेचना हुई है। पश्चिम के आभिजात्य साहित्यशास्त्र में लोंजाइनस तथा आधुनिक शैलीविज्ञान में रिफातेअर सहृदय को बहुत महत्त्व देते हैं। रिफातेअर के अनुसार सहृदय ही अपने व्यष्टि-मन्दर्भ (माइक्रोकॉण्टैक्स्ट) के आधार पर शैली की परख कर सकता है, करता है। भारतीय साहित्य में सहृदय की भावयित्री प्रतिभा की अवधारणा है और काव्य-वृत्त में वह भी एक बिन्दु है। सहृदय की 'हृदयाल्हादकता' शैली की कसौटी मानी गई है। 'साधारणीकरण' की संकल्पना, शैली और सहृदय के सम्बन्धों का ही विश्लेषण है। संस्कृत के उत्तरवर्ती और रसवादी साहित्यशास्त्र में शैली का विवेचन सहृदयपरक अधिक हो गया है।

रचनाकार और सहृदय को शैली-विवेचन में महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानकर भी रचना के वस्तुनिष्ठ स्वरूप के कोण से ही शैली का अधिक विवेचन किया गया है—पश्चिम में भी और भारत में भी, दोनों ही साहित्यशास्त्र प्रायः रचना के भाषायी विवेचन के भरे पड़े हैं। पश्चिम में रोबर्ट कोर्तियस का यह कहना रहा है कि "एक अकेले पाठ के विषय में जो हमें निश्चित कोटि की थोड़ी-सी भी जानकारी मिलती है, वह प्रणालियों की समस्त सैद्धांतिक चर्चाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। और संस्कृत का अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि-सिद्धांत रचना के विवेचन के लिए रचना की भाषा संरचना को ही आधार बनाता है। विवेचना का सम्पूर्ण ढाँचा भाषागत है, वैज्ञानिक है और विशुद्ध भाषायी सौन्दर्यशास्त्र पर आधारित है।

दोनों ही साहित्यशास्त्रों में समय-समय पर ऐसे युग आये हैं जब साहित्येतर

अवधारणाओं ने शैली को आ घेरा है। साहित्येतर मूल्यों के आधार पर शैली की परीक्षा की गई या साहित्य की आलोचना में शैली को उपेक्षित ही कर दिया गया। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में स्वच्छन्दतावादी, प्रतीकवादी, अस्तित्ववादी आन्दोलन इसी प्रकार के रहे। भारतीय साहित्यशास्त्र में भी धर्म, भक्ति, श्रृंगार, मनोविज्ञान-मावर्सवाद और अस्तित्ववाद की विचारधाराओं ने साहित्यशास्त्र को ढक लिया; किन्तु दोनों ही साहित्यशास्त्रों में पुनः शैली की शोध शुरू हुई और साहित्यालोचना रचना के संरचनात्मक पहलू को महत्व देने लगी है।

(5) 'स्टाइल' शब्द आधुनिक भारतीय साहित्यशास्त्र को पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से रचना की वैयक्तिक विशिष्टता के सन्दर्भ में प्राप्त हुआ था, जिसके लिए 'शैली' शब्द प्रयुक्त हुआ। वस्तुतः पश्चिम में आधुनिक शैलीविज्ञान से पूर्व 'स्टाइल' शब्द ने 'वैयक्तिक वैशिष्ट्य' को ही अधिक अपना रखा था; किन्तु पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की आभिजात्य परम्परा और आधुनिक शैलीविज्ञान की अवधारणाओं में वस्तुगतता को रचना की भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण को—विशेष महत्व प्राप्त हुआ है।¹ यही स्थिति भारतीय साहित्यशास्त्र में भी रही है।² अतः शैली की अवधारणा से व्यक्ति-विशिष्टता जुड़ी तो रही है; किन्तु दोनों ही साहित्यशास्त्र अब रचना की संरचना के उस रूप को शैली कहते हैं जो संरचनागत सौन्दर्य का निर्माण करते हैं। पश्चिम की 'स्टाइल' अब 'रीति', 'वक्रता' और 'ध्वनि' का पर्याय बन गई है। अतः शैली की प्रधान अवधारणा के स्तर पर भी दोनों ही साहित्यशास्त्र समान दिखाई देते हैं और दोनों ने ही व्यक्ति-विशिष्टता को शैली के एक पहलू के रूप में स्वीकार करके भी परस्पर समता ही प्रकट की है।

(6) जहाँ तक शैली-विवेचन की प्रक्रिया का प्रश्न है दोनों ही साहित्यशास्त्रों ने भाषा-विश्लेषण को वस्तुगत रूप में ही विवेचित किया है। पश्चिम का आभिजात्य, नवशास्त्रवादी तथा 'नव्य-समीक्षा' के नाम से ज्ञापित साहित्यशास्त्र एवं आधुनिक शैलीविज्ञान वस्तुनिष्ठ पद्धति को ही अपना कर चले हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र तो निरन्तर वस्तुनिष्ठता का पुजारी रहा है, यद्यपि रसवादी अवधारणाएँ कहीं-कहीं दर्शन के क्षेत्र में अवश्य चली गई हैं। हिन्दी का आधुनिक साहित्यशास्त्र भी अब भाषावादी और वस्तुनिष्ठ प्रणाली को अपनाकर अग्रसर हो रहा है। अतः शैली-विवेचन की प्रक्रिया में भी दोनों ही साहित्यशास्त्र भाषावादी और वस्तुवादी रहे हैं।

(7) पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र की महत्वपूर्ण समानता शैली-विज्ञान की इस अवधारणा में है कि शैली 'चयन' की प्रक्रिया से निर्मित होती है। रचनाकार जिस भाषा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपनाता है वह सामाजिक

1. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकरण—“शैलीविवेचन की प्रक्रिया : भाषा का वस्तुगत विश्लेषण”।

2. वही।

उपादान होती है, अतः वह भाषा को निर्मित नहीं करता, उसकी स्वतन्त्रता तो समाज में उपलब्ध भाषा में से इस प्रकार का चयन करने में होती है जो सौन्दर्य की मृष्टि कर सके। इसलिए रचनाकार का धर्म चयन करने में है, उसकी कुशलता चयन करने में है, उसका शैलीत्व चयन में निहित है।

पश्चिम में डाब्रे कहते हैं कि “रचना में नये शब्दों का टंकन नहीं होता, फिर भी पुराने सिक्कों को ही वे इस अभिनव-क्रम से सजाते हैं कि उनका प्रभाव ताजगी से भरा होता है।” भारत में आनन्दवर्धन मानते हैं कि वाचस्पति भी नवीन अक्षरों अथवा पदों की रचना नहीं कर सकते। अर्थ-तत्त्व और अक्षरादि योजना के समान उनको उपनिबद्ध करने से नवीनता आ ही जाती है।”¹

इस अवधारणा को पश्चिम में पिण्डार, प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, होरेस, डायोनीसियस, विवन्तिलियन, वेम्बो, वेन जॉन्सन, ड्राइडन, बोइलो, पोप, डॉ. जॉन्सन, स्विफ्ट, वॉल्टर पेटर, हर्बर्ट रीड, लुकास, क्लीनथ ब्रूक्स, पेन वारेन जेराल्ड आँत्वाँ, ओवेन वारफील्ड, रिचर्ड ओमान आदि अनेक साहित्यशास्त्रियों ने समृद्ध किया है। भारतीय साहित्यशास्त्र में भी ऋग्वेद काल से ही इस अवधारणा का महत्व समझा गया, जो आगे चलकर भामह, सम्पूर्ण अलंकार-सिद्धांत, काव्य-पाक की अवधारणा, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, महिम, क्षेमेन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, हरिऔध, रामचन्द्र शुक्ल, अज्ञेय, रामस्वरूप चतुर्वेदी, मोहन राकेश, विद्यानिवास मिश्र आदि साहित्यशास्त्रियों के यहाँ विकसित होती रही।

दोनों साहित्यशास्त्रों में शैली को सापेक्षित अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठा मिली, इसलिए ‘नॉर्म’, ‘वात?’ या सामान्य भाषा की तुलना में ‘विचलित भाषा’, ‘काव्य-भाषा’ या ‘वक्त्रभाषा’ की ‘संकल्पनाएँ’ प्रचलित हुईं। नॉर्म या प्रतिमान-भाषा के रूप-निर्धारण को लेकर पश्चिमी साहित्यशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण बहस छिड़ी हुई है कि शैली को ‘चयन’ मानने से पूर्व यह मानना जरूरी है कि जिस सामान्य भाषा से उसका चयन होता है उसका स्वरूप स्थिर किया जाये; किन्तु सामान्य भाषा का रूप निश्चित करना पेचीदा है क्योंकि (1) सामान्य भाषा एक अमूर्त अवधारणा है, अतः उसका रूप कैसे निश्चित हो, (2) सन्दर्भ की भिन्नता से दो समान उक्तियों को एक ही कैसे माना जा सकता है और दो भिन्न उक्तियाँ एक ही सन्दर्भ को भी तो व्यक्त कर सकती हैं, (3) रचनाकार को भाषा की प्रकृति भी परिसीमित करती है, बाँधती है इसलिए भाषा द्वारा उत्पन्न विवशता और लेखक की शैली का विभाजन कैसे हो आदि। किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र ने जहाँ सहृदय को आधार मान कर उसकी सामान्य भाषा की संकल्पना को सामान्य भाषा का प्रति-

मान स्वीकार किया है तो फ्रांसीसी शैलीवैज्ञानिक रिफातेअर ने भी प्रतिमान भाषा के रूप में 'सहृदय' की भाषा-क्षमता को ही महत्त्व दिया है।

इस प्रकार सामान्य भाषा के स्वरूपांकन से सम्बन्धित अनेक पेचीदगियों के बावजूद दोनों ही साहित्यशास्त्र 'चयन' की अवधारणा को महत्त्व देते हैं।

'चयन' की अवधारणा दोनों ही साहित्यशास्त्रों में न केवल शब्द-चयन तक सीमित है, बल्कि विन्यास-संरचना के 'चयन' तक फैली हुई है। इसके अतिरिक्त 'चयन' की अवधारणा में चयनकर्ता कवि की 'नव-नव उन्मेषशालिनी' प्रतिभा को भी दोनों ही साहित्यशास्त्रों में महत्त्व प्रदान किया गया है।

(8) किसी एक अवधारणा को लेकर यदि पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र अपनी चरम घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं तो वह है शैली की विचलन-सम्बन्धी अवधारणा। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में अरस्तू के समय से ही इस अवधारणा को महत्त्व मिल गया था जो क्विन्तिलियन, कॉलरिज, मुकारोवस्की, रिफातेअर, बनाव्डे ब्लाख, रोजर फाउलर, रैन्सम, स्टीफन उल्मेन, रिचर्ड प्रोमान, एंक्विस्ट, जोफ्री लीच आदि साहित्यशास्त्रियों में संवर्द्धित होती रही है। भारतीय साहित्यशास्त्र के अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति-सिद्धांत इसी अवधारणा पर आद्धृत हैं।

शैली सामान्य भाषा की सामान्य संरचना नहीं है, वह उसका अतिक्रमण है, विचलन है। भारतीय साहित्यशास्त्र में उसके लिए अधिक प्रचलित और अर्थ-समृद्ध शब्द है 'वक्रता'। वक्रता की अवधारणा के मूल में भी 'नोंमें' या 'वार्ता' की अवधारणा निहित है, यह भी सापेक्षिकता के सिद्धांत पर आधारित है, इसलिए इसमें भी सहृदय की भाषा-संकल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सामान्य भाषा से साहित्यिक भाषा की वक्रता को सिद्ध करने के लिए 'सन्दर्भ' तत्त्व की अवधारणा भी प्रचलित रही है। विचलन या वक्रता को बगैर सन्दर्भ के नहीं सिद्ध कर सकते, इसलिए पश्चिमी साहित्यशास्त्र में 'सन्दर्भ' (कॉण्टेक्स्ट), 'कोलोकेशन', 'रजिस्टर', 'सैट', और भारतीय साहित्यशास्त्र में वक्ता, वाच्य, विषय, काकु, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि तत्त्वों की संकल्पना हुई है। अपनी विश्लेषण भिन्नताओं के बावजूद दोनों ही साहित्यशास्त्र सन्दर्भ के तत्त्व के बगैर शैली के विचलन-स्वरूप को परखने में असमर्थता प्रकट करते हैं।

पश्चिम में विचलन की अवधारणा को व्यावहार्य बनाने के लिए एक तो प्रस्ताव एंक्विस्ट द्वारा यह प्रस्तुत हुआ कि पहले सामान्य भाषा का सम्पूर्ण अध्ययन हमारे सामने कसौटी के रूप में होना आवश्यक है। संस्कृत में विद्यमान समर्थ व्याकरण के द्वारा सामान्य भाषा के प्रतिरूपों (Patterns) की समस्या सहज ही सुलभ गई थी। अतः सामान्य भाषा को लेकर दोनों साहित्यशास्त्रों की समस्या की स्थिति भिन्न अवश्य रही है, किन्तु दिशा तो समान ही रही है। पश्चिम का दूसरा प्रस्ताव 'सन्दर्भ'

की भूमिका को महत्व देना था जो भारतीय साहित्यशास्त्र पहले ही स्वीकृत कर चुका था। मम्मट ने तो वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ को विशिष्ट मानने के लिए सन्दर्भ को दस तत्त्वों में विभाजित करके सन्दर्भ का एक व्यवस्थित रूप भी प्रस्तुत किया।

प्राग स्कूल की 'अग्र-प्रस्तुति' (Foregrounding) की अवधारणा कुन्तक की 'वक्रता' की संकल्पना से, तथा मुकारोवस्की की प्रमुखता (Dominance) की अवधारणा आनन्दवर्धन की व्यंग्य की प्रधानता के विचार से भिन्न नहीं है, अतः यह समान दिशाओं का चिन्तन ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार पाश्चात्य साहित्यशास्त्र जहाँ शैली को लेकर विचलन की अवधारणा से श्रोतप्रोत है, वहाँ भारतीय साहित्यशास्त्र में अलंकार-सिद्धांत का आधार वक्रता, रीति-सिद्धांत का आधार पद-रचना की 'विशिष्टता', वक्रोक्ति-सिद्धांत का आधार 'वक्रता' और ध्वनिसिद्धांत का आधार अर्थ की व्यंजना अर्थात् अर्थ की वक्रता ही है। अतः संस्कृत साहित्यशास्त्र तो मुख्यतः 'वक्रता' की अवधारणा पर ही आधारित है।

(9) शैली और 'औचित्य' विषयक अवधारणाओं के स्तर पर दोनों साहित्यशास्त्रों में काफी समानता मिलती है। रचना के आन्तरिक घटकों में परस्पर सन्तुलन और सामंजस्य चाहा गया है। इसके अतिरिक्त रचना के कथ्य और कथन को भी परस्पर अनुकूल माना गया है। दोनों ही साहित्यशास्त्रों में औचित्य-विषयक अवधारणा प्रचीन काल से चली आ रही है, यद्यपि वह शैली की अन्यान्य अवधारणाओं के नेपथ्य में ही अधिक रही है, उसने प्राधान्य कभी प्राप्त नहीं किया।

(10) शैली को न तो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में सन्दर्भ-निरपेक्ष माना गया है, न भारतीय साहित्यशास्त्र में। यद्यपि पश्चिम में सन्दर्भ की संकल्पना आधुनिक शैलीविज्ञान में फर्थ, एक्विस्ट, हैलीडे, लीच, डेविड क्रिस्टल, डेरेक डेवी, रिफातेग्रर, मुकारोवस्की आदि के प्रयासों से ही पनपी है; जबकि संस्कृत में यह आनन्दवर्धन, महिम भट्ट और मम्मट के समय काफी विवेचित हो चुकी थी। शब्द न केवल अपने साथ संयुक्त अन्य शब्दों के सन्दर्भ से अर्थ-गमित होता है; बल्कि वह वक्ता, श्रोता, देश, काल आदि अनेक तत्त्वों के सन्दर्भ में भी अर्थ-समृद्ध होता है। इसीलिए आनन्दवर्धन और बाद में मम्मट ने वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ को अलग सिद्ध करने के लिए सन्दर्भ को विस्तार से विवेचित किया।

शैली-विवेचना मम्मट-प्रतिपादित सहृदय की 'अनुमेयक्षमता' और रिफातेग्रर द्वारा प्रस्तुत 'व्यष्टि-सन्दर्भ' (Micro-Context) की अवधारणाएँ विस्मयकारी ढंग से समान प्रतीत होती हैं यही नहीं, पाश्चात्य शैलीविज्ञान ने स्वतन्त्र रूप से शैली की विवेचना सन्दर्भ-सापेक्ष रूप में प्रस्तुत की है और वह भारतीय साहित्यशास्त्र के सन्दर्भ-विमर्श से मिलती है, जो एक रोचक तथ्य है।

(11) शैली और रीति या मार्ग-सम्बन्धी अवधारणाओं को लेकर भी पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में अनेक दृष्टियों से समानता मिलती है। प्रथम, शैली के 'सामूहिक स्वरूप' के रूप में शैली के नाम से पश्चिम में और 'रीति' या 'मार्ग' के नाम से संस्कृत में विवेचन हुआ। द्वितीय, शैली का विभाजन भौगोलिक स्थानों के नाम पर हुआ, पश्चिम में एटिक, एशियाटिक और र्होडियन तथा संस्कृत में मुख्य रूप से वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। तृतीय, शैलियों का नाम भौगोलिक रहते हुए भी उनके विभाजन तथा विश्लेषण का मूल आधार गुण रहा—दोनों ही साहित्यशास्त्रों में। यही नहीं, गुणों की प्रकृति भी समान रही। (1) सरल और सहज अभिव्यक्तिपरक, (2) विचित्र और आहम्बरपरक एवं (3) मिश्रित। गुणों पर आधारित शैली-विभाजन के कारण शैली-विवेचन भाषावैज्ञानिक और गत्यात्मक रहा। चतुर्थ, दोनों ही साहित्यशास्त्रों में सामूहिक शैली-वर्गीकरण की अवधारणा धीरे-धीरे लुप्त होती गयी और सामयिक शैली-विज्ञान तो अभी इस प्रकार के वर्गीकरण से काफी दूर है, अभी तो उसे शैली का स्वरूप स्पष्ट करने का ही आवश्यक अनुसंधान करना है।

(12) 'मूल्य' के साथ शैली के सम्बन्धों को लेकर भी दोनों ही साहित्य-शास्त्र काफी कुछ समान विचारों को लेकर जूझते रहे हैं। पश्चिम में प्लेटो ने नीति की धुरी से शैली को मूल्यांकित किया; किन्तु अरस्तू ने शैली को अपना अलग क्षेत्र प्रदान किया, उसे अपने ही मापदण्डों पर परखा और उसके बाद पश्चिम का वस्तुवादी साहित्यशास्त्र शैली की संरचना में ही संरचनागत मूल्य की अवधारणा लेकर चलता रहा। आधुनिक युग में 'नव्य-समीक्षा' से पूर्व के काल में रचना से इतर के मूल्यों को प्रधानता प्राप्त हुई; किन्तु 'नव्य-समीक्षा' ने और उसके बाद शैलीविज्ञान ने रचना की संरचना को ही परम मूल्य माना, साहित्य के क्षेत्र में शैली ही 'मूल्य' के रूप में प्रस्थापित हुई।

भारतीय साहित्यशास्त्र तो शैली की आत्यन्तिक सार्थकता ऐसे आनन्द में मानता है जो ब्रह्मानन्द के समान है, 'सहोदर' है। वह काव्य-भाषा को शैली के आधार पर अन्य भाषा-व्यवहार से स्पष्टतः अलग कर लेता है। वह धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को संरचना के सौन्दर्य में ही समाहित कर लेता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में इसीलिए संरचनागत सौन्दर्य का अध्ययन हुआ, धर्म या दर्शन की तरह 'सन्देश' को संरचना के सौन्दर्य से अलग काट कर कभी भी महत्त्व नहीं मिला।

हिन्दी का आधुनिक साहित्यशास्त्र साहित्येतर मूल्यों की खोज में भरपूर भटक लेने के बाद, अब वह संस्कृत और पाश्चात्य शैलीविज्ञान की तरह पुनः रचना पर ही केन्द्रित होने लगा है और संरचनागत मूल्यों का ही अनुसंधान करने लगा है। यह प्रक्रिया अभी भी धीमी अवश्य है, लेकिन सुलग रही है और भाषाविज्ञान के भोंके

लगने शुरू हो गये हैं। विश्वास है कि रचना में साहित्येतर सौन्दर्य को ढूँढ़ना बन्द कर साहित्यिक शब्दार्थ के संरचनागत सौन्दर्य को ढूँढ़ने की अवधारणा अधिकाधिक व्यापक होती जायेगी।

पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र में सामान्य भाषा, काव्य-भाषा, रचना की स्वायत्तता और जैविकता, शैली-विश्लेषण के विभिन्न (रचनाकार, रचना एवं सहृदय-केन्द्रित) दृष्टिकोण, शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया, शैली की चयन, विचलन और औचित्यमूलक अवधारणाओं तथा शैली से सम्बन्धित सन्दर्भ, मार्ग और मूल्य-विषयक अवधारणाओं की समानताओं और घनिष्ठताओं को देखकर यह सुखद आश्चर्य होने लगता है कि किस प्रकार हजारों वर्षों के लम्बे काल तक घरती के दो भिन्न छोरों पर विकसित होनेवाले साहित्यशास्त्र समान संकल्पों के साथ विकसित होते रहे हैं।

(आ) असमानताएँ

(1) पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्रों में अनेक समानताओं के बावजूद कुछ दृष्टियों से ऐसी विषमताएँ हैं जो उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। दोनों संस्कृतियों की भिन्न चिन्तन-प्रकृतियों और उनकी भिन्न दार्शनिक अवधारणाओं के कारण उनकी शैलीविषयक अवधारणाओं में भिन्नता स्वाभाविक भी है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का चिन्तन दार्शनिक पूर्वाग्रहों से काफी मुक्त रहा, इसलिए साहित्यशास्त्र को चिन्तन की विशुद्धता प्राप्त हुई, दूसरी ओर वह तात्त्विक और सैद्धान्तिक होने के बजाय व्यावहारिक अधिक रहा। उसका विश्लेषण सदैव बहिर्मुखी रहा। इसके विपरीत भारतीय चिन्तन की प्रकृति तात्त्विक, सैद्धान्तिक और अन्तर्मुखी अधिक रही है इसलिए साहित्यशास्त्रीय अवधारणाएँ भी एक ओर विशिष्ट दार्शनिक मतों (मीमांसा, न्याय, सांख्य, शैवाद्वैत आदि) के आधार पर निर्मित होने लगीं दूसरी ओर सैद्धान्तिक अवधारणाओं का विशाल महल खड़ा होता रहा और व्यावहारिक समीक्षा की भरपूर उपेक्षा होती रही। जहाँ व्यावहारिक समीक्षा मिलती भी है तो सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए। इसलिए शैली-सम्बन्धी सैद्धान्तिक अवधारणाओं के तो यहाँ पर अनेक सिद्धान्त निर्मित हुए; जबकि उनको किसी एक रचना, एक रचनाकार या एक युग की रचनाओं की समीक्षा के लिए कभी भी नहीं परखा गया।

अतः पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं में वह सूक्ष्मता, गम्भीरता, व्यापकता और वैज्ञानिकता नहीं मिलती जो भारतीय साहित्यशास्त्र में मिलती है; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली विश्लेषण का वह व्यावहारिक रूप नहीं मिलता जो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में विपुल मात्रा में देखा जाता

है। इसीलिए किसी कृति या कृतिकार की वैयक्तिक शैली का विश्लेषण नहीं मिलता, न ही शैली की व्यक्तिपरक अवधारणा को स्वतन्त्र रूप ने विकसित होते हुए देखा जा सकता है।

(2) सामान्य भाषा और काव्य-भाषा का अन्तर तो दोनों ही साहित्य-शास्त्रों में निरन्तर ही माना जाता रहा; किन्तु उनका भाषा-वैज्ञानिक और व्यवस्थित विश्लेषण प्राचीन पाश्चात्य साहित्य में नहीं हो सका, जैसा कि आधुनिक युग में हो रहा है। दूरअसल ग्रीक और लेटिन भाषाओं को 'ग्रन्टाध्यायी' एवं 'वाक्यपदीय' जैसा कोई समृद्ध और वैज्ञानिक व्याकरण प्राप्त नहीं हुआ था, इसलिए काव्य-भाषा का विवेचन भी वैज्ञानिक विधि से विकसित नहीं हो सका। भारतीय साहित्यशास्त्र में काल-क्रम की दृष्टि से स्थिति विपरीत रही है। संस्कृत का तो सामान्य भाषा का समृद्ध व्याकरण प्राप्त हुआ और उसके आधार पर काव्य-भाषा का भी वैज्ञानिक विवेचन सम्भव हो सका। वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट आदि में एक समृद्ध और संपूर्ण शैलीविज्ञान प्रस्तुत करने की धारणा रही है। किन्तु इधर हिन्दी का कोई भी भाषावैज्ञानिक व्याकरण विकसित नहीं हो सका, इसलिए हिन्दी का साहित्यशास्त्र भाषा-विषयक चिन्तन की दृष्टि से खोखला ही बना रहा। परिणाम-स्वरूप काव्य-भाषा का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत नहीं हो सका, यद्यपि अब इस दिशा में प्रयास जारी है। इस प्रकार पश्चिम का वर्तमान समृद्ध है और भारत का अतीत। दोनों के संयोजन से विश्व साहित्यशास्त्र समृद्धतर हो सकता है।

(3) यद्यपि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र ने रचना को जैविक, स्वायत्त तथा स्वतन्त्र माना है और उसका विश्लेषण भाषा-संरचना के ही आधार पर किया भी है; किन्तु जो व्यवस्था और वैज्ञानिकता भारतीय साहित्यशास्त्र में दिखाई देती है, वह पाश्चात्य में नहीं। हाँ, आधुनिक शैलीविज्ञान वैज्ञानिकता के क्षेत्र में काफी उद्यमी नजर आता है; किन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र के विश्लेषणात्मक 'प्रतिरूपों' से वह अभी भी काफी लाभ उठा सकता है। कुन्तक और आनन्दवर्धन के प्रतिरूप उसे काफी व्यवस्थित कर सकते हैं।

(4) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में रचनाकार और शैली के सम्बन्धों पर पर्याप्त कार्य हुआ, किन्तु सहृदय और शैली को लेकर वह भारतीय साहित्यशास्त्र की गम्भीरता नहीं प्राप्त कर सका। साधारणीकरण और रसवादी अवधारणाएँ यहाँ अधिक भनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म रही हैं। रचना के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी संस्कृत साहित्यशास्त्र बहुत प्रौढ़ है; किन्तु शैली को परखने की दृष्टि से जो महत्वपूर्ण अवधारणा यहाँ रही है वह रचनाकार, रचना और सहृदय—इन तीनों को एक ही वृत्त में देखने की रही है। अभिनवगुप्त ने कवि, नट, काव्य और सहृदय चारों को 'रस' के एक ही सूत्र में पिरो दिया है। उसी कविगत साधारणीभूत संविमूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता है और वही संवित् वास्तव में रस है। 'इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस है।' उससे वृक्ष स्थानीय काव्य उत्पन्न

होता है। उसमें पुष्प स्थानीय अभिनयादि रूपनट का व्यापार होता है। उसमें फल-स्थानीय सामाजिक का रसास्वादन होता है।¹ उक्त अवधारणा रस के सम्बन्ध में है, किन्तु उसका व्यास यह संकेत देता है कि शैली से सम्बन्धित विवेचन भी रचनाकार, रचना और सहृदय इन तीनों को ही समाहित करके चलता है। वस्तुतः रचनाकार तो रचना के नेपथ्य में चला जाता है और सहृदय समीक्षक के नेपथ्य में। इसलिए समीक्षक के सामने रह जाता है काव्य-भाषामय काव्य और उसकी शैली। किन्तु शैली के विश्लेषण को रचनाकार और सहृदय अपने-अपने नेपथ्यों से भी संचालित करते हैं। आधुनिक पाश्चात्य शैलीविज्ञान काव्य-वृत्त की इस स्पष्टता को प्राप्त नहीं हो सका है।

(5) शैली-विश्लेषण की प्रक्रिया को लेकर यह को समानता है कि दोनों ही साहित्यशास्त्रों का मुख्य स्वर वस्तुवादी है; किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र का स्वर अधिक सघा हुआ है। वस्तुतः संस्कृत में भाषा के अव्ययन की वैज्ञानिक प्रक्रिया समृद्ध रही है, इसलिए संस्कृत साहित्यशास्त्र ने न केवल व्याकरणिक अवधारणाओं को अपना लिया, बल्कि उसके भाषाविवेचन की वस्तुगत विधि को भी स्वीकार कर लिया। इसीलिए वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक आदि शैली को वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक वैज्ञानिक विधि से ही विवेचित कर सके।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र को एक समृद्ध व्याकरण का लाभ नहीं मिल सका। और आधुनिक भाषाविज्ञान भी यद्यपि व्याकरण की रचना में बहुत व्यस्त है, और उसने अनेक 'मॉडल' भी प्रस्तुत किये हैं (जिनमें चोम्स्की और हैलीडे के प्रमुख हैं); किन्तु उनके लिए अभी भी सन्तोषप्रद पूर्णता प्राप्त करना दूर है। फिर मॉडल के विभिन्न प्रकारों ने जहाँ भाषावैज्ञानिक चिन्तन में विस्तार प्रदान किया है वहाँ अनिश्चितता और भ्रान्ति भी उत्पन्न की है। इसलिए शैली के विवेचन के लिए कोई सर्वमान्य मॉडल स्वीकृत नहीं होने के कारण पाश्चात्य शैलीविज्ञान अभी भी अव्यवस्थित, जटिल और अधूरा बना हुआ है। काव्य-भाषा का विवेचन करने के लिए कामचलाऊ सरल मॉडल अभी दूर है; किन्तु इस दिशा में पश्चिम के परिश्रम की निरन्तरता और उत्साह से आधुनिक भारतीय साहित्यशास्त्र बहुत सक्रिय हो सकता है। उसके सामने संस्कृत शैलीविज्ञान की व्यवस्था और पश्चिमी शैलीविज्ञान की क्रियाशीलता और ताजगी दोनों हैं, और दोनों ही उपादेय हैं।

(6) विचलन की अवधारणा को लेकर पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्रियों में प्रथम असमानता तो यह है कि पश्चिम में क्रोचे, तोदोरोव आदि की मान्यता यह रही है कि प्रत्येक रचना अपने आप में विशिष्ट होती है, अतः निरपेक्ष और अतुलनीय होती है। इसलिए शैली की सापेक्षकता की अवधारणा को ही ये

विचारक नहीं मानते। सभी भारतीय साहित्यशास्त्री—रचना को विशिष्ट मानते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर उसे विश्लेष्य और तुलनीय मानते हैं।

‘विचलन’ की अवधारणा का विकास पश्चिमी साहित्यशास्त्र में इतना नहीं हो सका जितना संस्कृत साहित्यशास्त्र में। आधुनिक भाषा-विज्ञान के विकास के साथ ‘विचलन’ को भी व्यवहृत किया जाने लगा है; किन्तु आधुनिक भाषा-विज्ञान अभी तक वाक्य के स्तर तक ही अपने आपको समेटे हुए है। यद्यपि हिल, फाउलर आदि शैलीवैज्ञानिकों ने वाक्येतर स्तरों पर भी कृति का विश्लेषण करने का प्रयास किया है; किन्तु उनके प्रयासों में वह विस्तार और वैज्ञानिकता नहीं प्राप्त की जो कि आनन्दवर्धन और कुन्तक ‘प्रकरण’ और ‘प्रबन्ध’ के स्तर की ‘ध्वनि’ और ‘वक्रता’ के विश्लेषण में प्राप्त कर चुके थे।

इसके अतिरिक्त ‘वक्रता’ की अवधारणा में पश्चिम के ‘विचलन’ और ‘नव-प्रवर्तन’ (Innovation) दोनों को सम्मिलित किया जा सकता है। ध्वनि और वक्रता में कोई भी ‘नवीन स्फुरणा’ भी सम्मिलित हो जाती है। अतः ‘वक्रता’ की अवधारणा विचलन से अधिक व्यापक और वैज्ञानिक भी है। ‘वक्रता’ के आधार पर काव्य-भाषा के ‘पैटर्न’ का वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण पश्चिम के विचलन-विवेचन से बहुत समृद्ध है; जबकि विचलन के पैटर्न में बिखराव, अपूर्णता और अस्पष्टता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के सम्पर्क से उसे समृद्ध करने की पर्याप्त गुंजाइश है।

शैली की ‘वक्रता’ की अवधारणा को वैज्ञानिक बनाने के लिए भारतीय साहित्यशास्त्र में आनन्दवर्धन तथा मम्मट द्वारा प्रस्तुत ‘संदर्भ’ के दस घटकों की संकल्पना अधिक सशुद्ध और व्यापक है; जबकि पश्चिम में अभी भी ‘सन्दर्भ’ का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, उसे इतना विस्तार भी प्राप्त नहीं हो पाया है।

(7) पाश्चात्य शैलीविज्ञान में पाठगत व्यवस्था के पुनरावर्तन और केन्द्राभिमुखता (रिकरेन्स एण्ड कन्वर्जन्स ऑफ टैक्स्चुअल पैटर्न) को भी शैली माना गया है। यह अवधारणा भाषा के काव्यात्मक प्रकार्य के परिणामस्वरूप भाषा में आने-वाली विशिष्टताओं पर आधारित है। रोमेन याकोब्सन की यह अवधारणा काव्य के सन्दर्भ में उभरी है तथा उनके अध्ययन की शुरुआत भाषा के ध्वन्यात्मक और स्वनिमपरक अध्ययन से हुई है; किन्तु साहित्यिक गद्य-भाषा में शैली की यह अवधारणा उतनी अधिक सफल नहीं हो सकती। दूसरे, यह अवधारणा वस्तुपरक अधिक है, यह संभव है कि इस अवधारणा के अनुसार घोषित शैली काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से न्यून हो। इस अवधारणा में सहृदय-सम्बन्धी अवधारणा को उपेक्षित कर दिया गया है। अतः पाठगत व्यवस्था का बार-बार आवर्तन और उसकी केन्द्राभिमुखता शैली के गत्यात्मक और नवनवोन्मेषशाली स्वरूप के स्थान पर इसको जड़ रूप में परिभाषित करती है।

इस सम्बन्ध में कुन्तक महान हैं जिन्होंने अपने काव्य-लक्षण में एक और रचनाकार को स्थान दिया है तो दूसरी ओर सहृदय के हृदयाह्लाद को और इनसे

परे काव्य को 'सुव्यवस्थित' और 'अन्य' रूप में भी चाहा है। अतः पश्चिम की उक्त अवधारणा भी एकांगी है, इस अवधारणा को लेकर चलनेवाला शैलीविज्ञान भाषा-विज्ञान अधिक है, साहित्यशास्त्र कम।

(8) पाश्चात्य भाषाविज्ञान में नोम चोम्स्की द्वारा प्रणीत रूपान्तरणपरक प्रजनक व्याकरण (Transformational Generative Grammar) में भाषा-विश्लेषण की जो प्रक्रिया विकसित की है वह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध-विश्लेषण की एक क्रान्तिकारी अवधारणा है। इस व्याकरण की प्रक्रिया को अपनाकर ही शैली के सम्बन्ध में एक नवीन धारणा विकसित हुई है जिसके अनुसार शैली व्याकरणिक संभावनाओं का विशिष्ट समुपयोजन है (Particular exploitation of a grammar of possibilities)। रिचर्ड ओमान, मोरिस हाले, सेम्युअल जे. कीजर, मैनफ्रेड वीरविख, कर्टिस हैज, जेम्स पीटर थोर्न आदि विद्वान शैली की इस अवधारणा पर कार्य कर रहे हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र के लिए यह अवधारणा नयी है। भारतीय साहित्यशास्त्र में शैली को मात्र वैयाकरणिक उपादानों तक ही सीमित नहीं रखा गया, उसमें वाक्येतर भाषा-घटकों तथा प्रकरण और प्रबन्ध की संरचना को भी सम्मिलित किया गया है। दूसरे, व्याकरणिक संभावनाओं के विशिष्ट समुपयोजन में 'चयन' (एक डीप स्ट्रक्चर के लिए उपलब्ध संरूपों में स्ट्रक्चर के अनेक वैयाकरणिक पैटर्नों में से एक का 'चयन') को प्रधानता दी गयी है; जबकि भारतीय साहित्यशास्त्र 'वक्रता' को प्रधानता देता है जो चयन के अतिरिक्त नवप्रवर्तन (इनवेन्शन) और विचलन को भी सम्मिलित कर लेती है।

(9) औचित्य और शैली के सम्बन्ध में भी संस्कृत साहित्यशास्त्र अधिक समृद्ध रहा है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में औचित्य की अवधारणा प्रचलित सदैव रही, किन्तु वहाँ कोई क्षेमेन्द्र उत्पन्न नहीं हुए, जो औचित्य को ही काव्य का 'जीवित' मानकर उसे ही शैली के प्रमुख आधार के रूप में प्रतिपादित करते।

दूसरे, भारतीय साहित्यशास्त्र ने औचित्य की अवधारणा को न केवल रचना की आन्तरिक संरचना के घटकों के सामंजस्य और सन्तुलन के सम्बन्ध में प्रकट किया, बल्कि उसे पाठेतर स्तरों से परे समाज, संस्कृति, देश, काल, सहृदय की प्रकृति आदि के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत किया। अतः 'औचित्य' यहाँ अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक पश्चिमी शैलीविज्ञान, सम्भव है, शैली-विवेचन में अपनी वस्तु-गतता के आग्रह के कारण, सौन्दर्यशास्त्र की इतनी व्यापक पृष्ठभूमि को न अपना सके। औचित्य की भारतीय अवधारणा की प्रकृति आत्मगत, सुभावात्मक और निर्देशात्मक भी है; जबकि आधुनिक शैलीविज्ञान नितान्त विश्लेषणात्मक और वस्तु-गत रहने का आग्रही है। यद्यपि अनेक शैलीविज्ञानिक ऐसे भी हैं जो अपेक्षाकृत व्यापक दृष्टि रखते हैं (मुकारोवस्की आदि)।

(10) शैली के सामूहिक स्वरूपों का वर्गीकरण करने में भी भारतीय साहित्यशास्त्र पश्चिमी साहित्यशास्त्र से अधिक समर्थ रहा है। प्रथम तो इसलिए कि

भारतीय साहित्यशास्त्र का गुण-विवेचन इतना व्यवस्थित और विस्तृत है कि वह एक शैली के रूप को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त कुन्तक द्वारा प्रस्तुत काव्य-मार्गों का वर्गीकरण, जो कि कवि-स्वभावों की कोटियों पर आधारित है, शैली के समाजमनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। उनके काव्य-मार्गों का नामकरण भी 'सुकुमार', 'विचित्र' और 'मध्यम' अधिक सार्थकता रखता है। फिर सभी मार्गों को अपने-अपने स्थान पर 'उपयुक्त' और सभी को 'समान' मानकर उन्होंने मार्ग-विवेचन को अधिक वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं है।

इस प्रकार पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का शैलीवैज्ञानिक विवेचन जहाँ अधिक व्यावहारिक, स्थूल और अपेक्षाकृत कम व्यवस्थित रहा है, वहाँ भारतीय साहित्यशास्त्र का शैलीवैज्ञानिक विवेचन अधिक तात्त्विक, सूक्ष्म, वैज्ञानिक और वस्तुगत रहा है। किन्तु पश्चिम का आधुनिक शैलीविज्ञान अब निरन्तर वैज्ञानिकता और सूक्ष्मता को प्राप्त करता जा रहा है; जबकि भारतीय साहित्यशास्त्र अभी तन्त्रिज और भ्रमित अवस्था में ही है।

(घ) पारस्परिक आदान-प्रदान की संभावनाएँ

पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र की शैलीवैज्ञानिक अवधारणा को आमने-सामने देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि दोनों साहित्यशास्त्रों में अनेक स्तरों पर समानताएँ हैं तो उनमें एक ओर अपनी अलग-अलग विशिष्टताएँ भी हैं जो उन्हें समृद्ध किये हुए हैं, और दूसरी ओर दोनों में अखरने वाली न्यूनताएँ भी हैं जो उन्हें अपूर्ण किये हुए हैं। ऐसी स्थिति में अनायास यह आकांक्षा उभरती है कि यदि दोनों साहित्यशास्त्रों को परस्पर परिचित कराया जाये तो दोनों में सहज ही घनिष्ठता विकसित हो सकती है, पारस्परिक आदान-प्रदान से एक-दूसरे को समृद्धि प्राप्त हो सकती है और एक समृद्धतर साहित्यशास्त्र विकसित हो सकता है, जिसमें शैली की अवधारणा अधिक वैज्ञानिक और व्यापक रूप प्राप्त कर सकती है। दोनों ही साहित्यशास्त्रों में दखल रखने वाले विद्वान इस क्षेत्र में प्रयास कर भी रहे हैं; किन्तु उसे सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र की समानता-विषमताओं का अध्ययन कर लेने के बाद प्रत्येक साहित्यशास्त्र की उन उपलब्धियों की ओर संकेत किया जाये जिनके आदान-प्रदान से विश्व साहित्यशास्त्र अधिक समृद्ध हो सकता है। सर्वप्रथम प्रस्तुत है पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का वह प्रदेश जो भारतीय साहित्यशास्त्र को स्वीकार करना चाहिए।

(अ) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का प्रदेश

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, जिसका समृद्ध और वैज्ञानिक रूप आधुनिक शैली-विज्ञान में मिलता है, भारतीय साहित्यशास्त्र को निम्नलिखित क्षेत्रों में सहयोग कर सकता है :

(1) आधुनिक पाश्चात्य शैलीविज्ञान में काव्य-भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करने का अद्भुत उत्साह है; भाषा की शक्ति और प्रकृति को पहचानने की गहरी जिज्ञासा है; चिन्तन में ताजगी है और वस्तुगतता के प्रति प्रतिबद्धता है। भारतीय विद्वान भी अपने समीक्षात्मक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर पश्चिम के उत्साह, जिज्ञासा, उद्यम और प्रतिबद्धता को अपनाकर अपने-आपको सक्रिय कर सकता है तथा संस्कृत साहित्यशास्त्र की अवधारणाओं के अनुवाद और पुनरावर्तन या पश्चिमी शैली-विज्ञान की अवधारणा के अन्धानुगमन को त्याग कर मौलिक चिन्तन की शुरुआत कर सकता है।

(2) संस्कृत का साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य शैलीविज्ञान दोनों ही भाषा-वैज्ञानिक विकास के परिणाम हैं। आधुनिक साहित्यशास्त्रों में भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रति रुचि और गति का अभाव है। भारत के आधुनिक साहित्यशास्त्री पश्चिमी भाषाविज्ञान अथवा व्याकरणिक अनुसन्धान का उपयोग कर आधुनिक भाषाओं के व्याकरण तैयार कर सकते हैं। जब तक वैज्ञानिक व्याकरण तैयार नहीं होंगे, शैलीविज्ञान की शुरुआत नहीं हो सकती, उसकी अवधारणाएँ दुर्बोध और जटिल, यहाँ तक कि अनुपादेय-सी भी प्रतीत होती रहेंगी। यद्यपि भारत में भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण शुरू हुआ है; किन्तु उसकी गति और गम्भीरता दोनों ही सन्तोषप्रद नहीं कही जा सकती। अतः इस क्षेत्र में पाश्चात्य भाषाविज्ञान और शैलीविज्ञान भारतीय साहित्यशास्त्र के लिए उपादेय हो सकते हैं।

(3) पश्चिम में भाषा के विश्लेषण को उसके विभिन्न प्रकार्यों, भाषा के घटकों की संरचना और भाषा-द्वारा व्यक्ति के मस्तिष्क को पहचानने के दृष्टिकोण को आधार बनाकर व्याकरणिक कोटिमूलक (हैलीडे), संरचनात्मक (Structural) तथा रूपान्तरणपरक प्रजनक (Transformational Generative) व्याकरणों का विकास हुआ। एक साथ अनेक दिशाओं में कार्य होने से जहाँ भ्रान्ति भी फैलती है, वहाँ चिन्तन को एकांगिता से मुक्ति तथा व्यापकता भी प्राप्त होती है। संस्कृत में व्यवहारतः व्याकरण के प्रतिरूपों की एकरूपता थी; किन्तु पश्चिम में ऐसा नहीं है। इससे भाषा एवं शैली का विभिन्न कोणों से अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। आधुनिक भारतीय साहित्यशास्त्र में भी विभिन्न व्याकरणों की अवधारणाओं को विकसित करके शैली को अलग-अलग कोणों से परखने का लाभ उठाना चाहिए।

(4) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में व्यावहारिक समीक्षा अधिक हुई है, इसीलिए एक साथ अनेक अवधारणाएँ विकसित होती रही हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र अपने तात्त्विक चिन्तन को पुष्ट और व्यवहृत करने के लिए पश्चिम से व्यावहारिक समीक्षा करने की प्रेरणा ले सकता है। इससे न केवल साहित्य का उपकार होगा, शैली-विषयक अवधारणाएँ भी व्यावहारिक और विश्वसनीय बन सकेंगी और चिन्तन में बराबर ताजगी बनी रहेगी।

(5) पश्चिमी शैलीविज्ञान में कवि-विशेष या कृति-विशेष की शैली का विवेचन करने की भी प्रवृत्ति रही है। भारतीय साहित्यशास्त्र ने मुख्यतः सामान्य साहित्य के सन्दर्भ में ही शैलीविज्ञान को विकसित किया है। अतः पश्चिम की तरह यहां भी किसी इकाई-विशेष की शैली के अध्ययन को विकसित करना चाहिए, ताकि शैली को रचनाकार और पाठ-विशेष के सन्दर्भ में भी विवेचित किया जा सके।

(आ) भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रदेय :

भारतीय साहित्यशास्त्र, जिसका मौलिक और साररूप संस्कृत साहित्यशास्त्र में मिलता है, पश्चिमी साहित्यशास्त्र को निम्नलिखित शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं के सम्बन्ध में सहयोग प्रदान कर सकता है :

1. भारतीय साहित्यशास्त्र में संस्कृत साहित्यशास्त्र के पास पाणिनि की व्याकरण का एक वैज्ञानिक ढाँचा है, और क्योंकि समृद्ध व्याकरण से ही समृद्ध शैलीविज्ञान विकसित हो सकता है, इसलिए पश्चिम में तैयार हो रहे वैयाकरणिक स्वरूपों में संस्कृत के व्याकरण से बहुत-कुछ सहायता ली जा सकती है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के भी इस प्रकार के वैयाकरणिक प्रतिमानों की खोज आवश्यक है।

2. भारतीय साहित्यशास्त्र में 'शब्दाथौ सहितौ' की वह अवधारणा जिसमें शब्द और अर्थ की अविभाज्यता ही नहीं, उसकी समभागिता भी है, यह समान महत्त्व की अवधारणा (कुन्तक) पश्चिमी साहित्यशास्त्र के लिए साहित्य और शैली-विश्लेषण में अत्यन्त उपादेय होगी। उत्कृष्ट साहित्य में शब्दार्थ की अविभाज्यता और समान महत्त्व की अवधारणा से साहित्य की प्रकृति को समझने में बहुत सहयोग मिलेगा।

(3) पाश्चात्य शैलीविज्ञान वैज्ञानिक तो है; किन्तु व्यवस्थित नहीं है, बिखराव है उसमें। वह जन्म की प्रक्रिया में है, डगमगाहट बहुत है, 'सेटल' नहीं हुआ है। वामन का 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' और विशेषरूप से आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' तथा कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवित्म' उसके 'सेटल' होने की प्रक्रिया को तीव्रतर कर सकते हैं। इन ग्रन्थों से उसे शीघ्र ही पौढ़ता प्राप्त हो सकती है।

4. पश्चिमी शैलीविज्ञान में शैली को परावाक्य (Supersentencial) स्तर पर विश्लेषित करने के संकेत तो हैं, किन्तु उसका रूप स्पष्ट नहीं है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के 'प्रकरण' और 'प्रबन्ध' स्तर की ध्वनियों और वक्रताओं के आधार पर परावाक्य स्तर के शैलीविज्ञान को समृद्ध किया जा सकता है।

5. 'सन्दर्भ' के विवेचन में भी संस्कृत व्याकरण में उल्लिखित तथा संस्कृत साहित्यशास्त्र में मम्मट द्वारा विवेचित 'वक्तादि' सन्दर्भ की सहायता से पश्चिमी

शैली-विज्ञान अपने सन्दर्भ-विवेचन को व्यवस्थित और व्यापक रूप प्रदान कर सकता है ।

6. शैली के विवेचन में भारतीय साहित्यशास्त्र पश्चिमी शैलीविज्ञान को अपनी 'काव्य-वृत्त' की अवधारणा से महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकता है । भारतीय साहित्यशास्त्र मानता है कि काव्य रचनाकार की कारयित्री और सहृदय की भावयित्री प्रतिभाओं का समागम है । दोनों प्रतिभाएँ अपनी प्रकृति में गत्यात्मक होती हैं । कवि-प्रतिभा की प्रकृति के अनुकूल काव्य-रचनाएँ और सहृदय की प्रतिभा की प्रकृति के अनुकूल काव्यास्वादन में भी अन्तर आता रहता है । अतः शैली को सम्पूर्ण काव्यवृत्त के व्यापक परिप्रेक्ष्य में विवेचित करना चाहिए । भारतीय साहित्य-शास्त्र शैली के विवेचन में दोनों प्रतिभाओं को भी विचारणीय मानता रहा है । आधुनिक पश्चिमी शैलीविज्ञान को अपनी वस्तुगत कठोरता में डूबकर शैली के सहृदयगत विवेचन को उपेक्षित नहीं करना चाहिए, क्योंकि सहृदय की सत्ता के अभाव में शैली का सौन्दर्यशास्त्रीय प्राणत्व ही असिद्ध हो जाता है । संस्कृत साहित्यशास्त्र ने अपने इतिहास के पूर्वार्द्ध में वस्तुगतता के प्रति आग्रह रखा तो उसे अपने उत्तरार्द्ध में आत्मपरकता (सहृदयपरक विवेचन) पर जोर देना पड़ा । आधुनिक शैलीविज्ञान को भी ऐसा ही सन्तुलन बनाये रखना चाहिए ।

(ड) सार-पंचयन :

1. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र विगत एक शताब्दी की प्रबल वैचारिक आक्रान्तता के कारण अपनी-अपनी धुरियों को छोड़ बैठे थे । दोनों ही साहित्यशास्त्र विचारधारा एवं 'वाद' बनकर गैर-साहित्यशास्त्रीय क्षेत्रों में भटक गये थे । अब 'संरचनावाद' और वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के सक्रिय होने, तथा भाषाविज्ञान और भाषा-चेतना के विकसित होने के परिणामस्वरूप दोनों ही साहित्य-शास्त्र पुनः रचना-केन्द्रित, भाषा-केन्द्रित और वैज्ञानिक होते जा रहे हैं । साहित्य-शास्त्रों के इस पुनरावर्तन में शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की शोध अत्यन्त सामयिक, उपयोगी और आवश्यक ही गई है ।

2. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के 'स्टाइल' शब्द के समानान्तर भारतीय साहित्य-शास्त्र में विशेष रूप से हिन्दी साहित्यशास्त्र में, 'शैली' शब्द प्रयुक्त होता है जो रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, संघटना, मार्ग आदि अनेक शब्दों की अवधारणाओं को समाहित कर लेता है । शैली शब्द अब उसी व्यापकता और अर्थ-गत्यात्मकता को प्रस्तुत कर रक्षा है जो पश्चिम में 'स्टाइल' शब्द में निहित है ।

3. साहित्य के सन्दर्भ में शैली रचना से जुड़ी हुई है और रचना जुड़ी हुई है रचनाकार तथा सहृदय से । अतः शैली अध्ययन भी रचनाकार, रचना और सहृदय — इन तीनों बिन्दुओं से समावृत्त है । शैली को रचनाकार के बिन्दु से उसके

रचनाधर्मी व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब, सहृदय के बिन्दु से रचना की आत्मादकारी शक्ति और रचना के बिन्दु से उसे उन संरचनात्मक विशिष्टताओं का समुच्चय माना गया है, जो उसे सामान्य भाषा से अलग करती हैं तथा काव्यतत्त्व की सृष्टि करती हैं। किन्तु समग्रतावादी दृष्टि शैली को एक साथ इन तीनों बिन्दुओं से जोड़ देती है, इसलिए शैली के विश्लेषण में रचनाकार का व्यक्तित्व भी उभरता है तो सहृदय की हृदयाल्हादकता भी, तथा रचना का वस्तुनिष्ठ संरचनात्मक विवेचन भी। विश्व के समस्त साहित्यशास्त्रियों में केवल कुन्तक ने ही एक साथ इन तीनों बिन्दुओं को समान महत्त्व के साथ अपनाया है, जो कि उनके काव्य-लक्षण में भी देखा जा सकता है।

4. शैली भाषा का वह वैशिष्ट्य है जो उसे 'काव्य-भाषा' बना देता है, अतः शैली 'उपचार' से काव्यत्व का ही पर्याय ठहरती है। 'पटतन्तु न्याय' से काव्य-भाषा और शैली को अलग नहीं किया जा सकता। अतः काव्यत्व ही शैली है, शैली ही काव्यात्मा है। शैली साहित्य का आराध्य और साहित्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य-केन्द्र है।

5. शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान है, क्योंकि शैली स्वयं भाषामयी होती है और भाषागत विश्लेषण की अपेक्षा रखती है। शैलीविज्ञान सौन्दर्यशास्त्र है, क्योंकि शैली-भाषा के संरचनात्मक सौन्दर्य की स्रष्टा होती है और भाषा के सौन्दर्यधर्मी तत्त्वों के विश्लेषण की अपेक्षा रखती है। अतः शैलीविज्ञान भाषा का सौन्दर्यशास्त्रीय भाषा-विज्ञान है, वह भाषावैज्ञानिक विधि से भाषा-संरचना के सौन्दर्यसर्जक तत्त्वों का अध्ययन करता है।

6. शैलीविज्ञान भाषा के वैयाकरणिक और भाषावैज्ञानिक अध्ययन की पीठिका पर विकसित होता है। यही कारण है कि हजारों वर्ष पूर्व संस्कृत साहित्यशास्त्र में शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं का विकास हो सका था और आधुनिक काल में योरोपीय साहित्यशास्त्र में नवीन शैलीवैज्ञानिक उद्भावनाएँ हो रही हैं। संस्कृत शैलीविज्ञान मुख्यतः पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' पर आधारित रहा है और पश्चिम का शैलीविज्ञान संरचनात्मक, रूपान्तरणापरक प्रजनक या हेज़ीडे के कोटिगत व्याकरण पर विकसित हो रहा है। अतः शैलीविज्ञान का विकास साहित्यशास्त्रियों की भाषा-वैज्ञानिक चेतना पर ही निर्भर करता है।

7. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र भौगोलिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक भिन्नताओं के बावजूद ईसा से सैकड़ों वर्ष से ही शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं को अपनाते चले आ रहे हैं। अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' (पोयटिक्स) और 'रीतिशास्त्र' (रैटोरिक्स) तथा भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' घरती के दो छोरों पर चमकते दो ज्वलन्त आकाश-ध्रुव हैं, जिनके आधार पर परवर्ती शैलीवैज्ञानिक यात्राएँ अपना मार्ग प्राप्त करती हैं। दोनों ही साहित्यशास्त्र अपने मध्यकालीन 'अन्धे-युगों' से गुजरने के उपरान्त अब पुनः शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं को शोधने और सहेजने लगे हैं,

यद्यपि भारतीय शैलीवैज्ञानिक अपने अतीत की विपुल समृद्धि के बावजूद अपने वर्तमान में पश्चिमी शैलीविज्ञान से काफी पिछड़े हुए और तन्दिल हैं।

8. शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं की दृष्टि से दोनों ही साहित्यशास्त्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि काव्य-भाषा में शब्द और अर्थ की ऐसी अभिन्नता संहिल-ष्टता, सहितता और समभागिता होती है कि वह काव्य-भाषा स्वयं में संदेश का माध्यम और संदेश दोनों बन जाती हैं। शैली की यही आधार-भूत अवधारणा काव्य-भाषा को अन्य भाषा-व्यवहारों से अलग करती है और भाषा में शैली का अस्तित्व सिद्ध करती है। कुन्तक; आनन्दवर्धन, रोलाँ बार्थेस, क्रियेगर आदि विद्वानों ने इस अवधारणा को भिन्न-भिन्न साहित्यशास्त्रों में भिन्न-भिन्न कालों में विकसित किया है।

9. भाषा में शब्द और अर्थ की युगनद्धता और समभागिता रचना को एक स्वतन्त्र, स्वायत्त व्यक्तित्व प्रदान करती है। रचना के सौन्दर्य को घटकत्व में नहीं, घटकों के सामंजस्य, संयोग या एकान्विति में माना जाता है; किन्तु साहित्यशास्त्रीय ज्ञान की उपादेयता की दृष्टि से रचना में अलंकार और अलंकार का भेद भी आरोपित किया जाता है, रचना की अखंडता को खंडों में भी देखा जाता है और शैली के विभिन्न उपादानों की कल्पना कर ली जाती है, 'उपचार' से। क्रांचे के अतिरिक्त सभी पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने शैली को इन्हीं अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में विवेचित किया है।

10. शैली भाषा-संरचना में ही व्याप्त रहती है और भाषा-संरचना भाषा व्यवहार के स्थापित नियमों का या तो अनुगमन करती है या उनका अतिक्रमण। भाषा के नियमों में तो एक व्यवस्था होती ही है, भाषा-नियमों के अतिक्रमणों में भी एक व्यवस्था को ढूँढ़ा जा सकता है। इस प्रकार ये अतिक्रमण भी 'व्यवस्थित', अतिक्रमण ही होते हैं। इन नियमों एवं नियमातिक्रमणों को भाषावैज्ञानिक विधि से विवेचित-विश्लेषित किया जा सकता है, किया गया है। अतः शैलीविज्ञान की विश्लेषण-विधि वस्तुनिष्ठ रहती है, यद्यपि सहृदय-शैलीवैज्ञानिक की आत्मनिष्ठ दृष्टि में कहीं-कहीं पर वस्तुनिष्ठता के उपेक्षित रह जाने से इन्कार नहीं किया जा सकता, न किया ही जाना चाहिए, क्योंकि न काव्य-भाषा की सृष्टि कम्प्यूटर से हो सकती है और न उसकी समीक्षा ही। रचना कारयित्री प्रतिभा की सृष्टि है और भावयित्री प्रतिभा का भोग और आत्मनिष्ठता तो प्रतिभाओं का अनिवार्य धर्म है ही। अतः शैलीविज्ञान की विवेचना-पद्धति एक आत्मनिष्ठ सहृदय की वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया से समन्वित होती है।

11. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र मानते हैं कि रचनाकार भाषा का उत्पादन नहीं करता, क्योंकि वह तो सामाजिक उत्पाद होती है। रचनाकार तो समाज में उपलब्ध भाषा का इस प्रकार 'चयन' करता है कि वह चयनित भाषा ही सौन्दर्य की सृष्टि करती है। अतः रचना का शैलीत्व रचनाकार के भाषा-चयन में है, प्रकारान्तर से शैली 'चयन' है। चयन एक सापेक्षिक प्रक्रिया है, अतः शैली एक सापे-

क्षिक अवधारणा है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में काव्य-भाषा को 'नॉर्म' या स्टैण्डर्ड 'भाषा' की तुलना में तथा भारतीय साहित्यशास्त्र में 'वार्ता' या 'सामान्य भाषा' की तुलना में विवेचित किया गया है। इस प्रकार शैली की निहित 'नॉर्म' या 'वार्ता' से 'काव्य-भाषा' के 'चयन' में होती है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली-विवेचन के अन्तर्गत 'चयन' को मुख्यतः वर्ण एवं शब्द-चयन तक ही सीमित रखा है, भारतीय साहित्यशास्त्र में 'चयन' 'प्रकरण' और 'प्रबन्ध' के स्तर तक भी विवेचित हुआ है। अतः भारतीय साहित्यशास्त्र में चयन की अवधारणा अधिक व्यापक रूप में विकसित हुई है।

12. शैली को 'विचलन' मानने की अवधारणा भी दोनों ही साहित्यशास्त्रों में विद्यमान रही है। प्रचलित सामान्य भाषा-व्यवहार से विचलित भाषा-व्यवहार में ही शैलीत्व माना गया है। भारतीय साहित्यशास्त्र में अलंकारवादियों ने वक्रता और अतिशयोक्ति को, रीतिवादियों ने पद-रचना की 'विशिष्टता' को, वक्रोक्ति-वादियों में 'भणिति' की 'विदग्धता' को तथा ध्वनिवादियों ने ध्वन्यात्मकता और 'नवीन स्फुरण' को काव्यका 'जीवित' मानकर शैली में विचलन की अवधारणा को ही पुष्ट किया है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी, विशेष रूप से विवन्तिलियन, कॉलरिज, मुकारोवस्की, रिफातेअर, रोजर फाउलर, रैन्सम, रिचर्ड प्रोमान और जोफ्री लीच आदि विद्वानों ने शैली को विचलित भाषा-व्यवहार के रूप में ही विवेचित किया है।

13. शैली की चयन और विचलन की अवधारणा में सामान्य भाषा और 'सन्दर्भ' के बावत भी दोनों ही साहित्यशास्त्रों में पर्याप्त विचार हुआ है। भारतीय साहित्यशास्त्र में वक्ता, वाच्य, विषय, काकु, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि सन्दर्भ-तत्त्वों पर विचार हुआ तो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में कोलोकेशन, रजिस्टर, सैट, कॉण्टैक्स्ट (Micro and Macro Context) आदि सन्दर्भ-घटकों की उद्भावना हुई। इस प्रकार शैली को सन्दर्भ-सापेक्ष विवेचित करने की रोचक समानता दोनों ही साहित्यशास्त्रों में देखी जा सकती है।

14. दोनों ही साहित्यशास्त्रों में शैली के समूहगत रूपों या मार्गों की अवधारणा भी उद्भूत हुई तथा विस्मयकारी तथ्य तो यह है कि भारत में भी और पश्चिम में भी शैली के तीन-तीन वर्ग-रूप निर्धारित हुए, जो नाम से तो देश-आधारित जान पड़ते हैं; किन्तु उनका विभाजन दोनों ही साहित्यशास्त्रों में गुणाधारित रहा है। पश्चिम की एटिक, ऐशियाटिक और र्होडियन शैलियों की तुलना भारत की वैदर्भी, गोड़ी और पांचाली रीतियों से की जा सकती है और काफी प्रकृत्यात्मक समानता पायी जा सकती है।

15. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में विचलन की अवधारणा अभी वर्ण, शब्द एवं वाक्य के स्तर तक ही विवेचित हुई है, उसे वाक्येतर स्तरों (प्रकरण और प्रबन्ध)

पर अभी पहुँचना है, जबकि भारतीय साहित्यशास्त्र की ध्वनि और वक्रोक्ति की अवधारणा इन स्तरों पर भी विवेचित हो चुकी थी। फिर वक्रता में भाषा-संरचना के अतिरिक्त चरित्र, कथानक आदि की वक्रताओं को भी विवेच्य मानने से 'वक्रता' की अवधारणा पाश्चात्य की विचलन अवधारणा से अधिक व्यापक और गहन सिद्ध होती है। इसलिए शैली की विचलन अवधारणा को समृद्ध करने की दृष्टि से भारतीय साहित्यशास्त्र अत्यन्त उपादेय हो सकता है।

16. पश्चिम में शैली को लेकर दो नवीन अवधारणाएँ और चल पड़ी हैं। प्रथम के अनुसार शैली व्याकरणिक सम्भावनाओं का विशिष्ट समुपयोजन (A particular exploitation of a grammar of Possibilities) है। यह अवधारणा भाषा के व्याकरणिक अध्ययन पर केन्द्रित है और एक मन्तव्य को व्यक्त करने के लिए एक भाषा में विद्यमान विभिन्न व्याकरणिक पैटर्नों में से किसी 'विशिष्ट' पैटर्न के 'चयन' को ही शैली मानती है। रिचर्ड ओमान, मोरिस हॉले, सेम्मुअल जे. कीजर, मैनेफ्रेड वीरविख, कटिस हेज, जेम्स पीटर थॉर्न आदि विद्वान शैली की इसी अवधारणा पर कार्य कर रहे हैं। दूसरी अवधारणा के अनुसार शैली पाठगत व्यवस्था का पुनरावर्तन और केन्द्राभिमुखता (Recurrence and convergence of textual pattern) है। यह अवधारणा भाषा के काव्यात्मक प्रकार्य के परिणामस्वरूप भाषा में आनेवाली विशिष्टताओं पर आधारित है और इस दिशा में रोमन याकोब्सन, हैलीडे आदि विद्वान कार्य कर रहे हैं। ये दोनों ही अवधारणाएँ भाषाविज्ञान और व्याकरण की नवीनतम शोधों पर आधारित हैं और भारतीय शैलीविज्ञान के लिए प्रेरणा-स्रोत बन सकती हैं।

17. पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र की शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं में 'मूल्य' के सम्बन्ध में समय-समय पर उठने वाले विवाद-चक्रों के बाद अब यह स्थापित हो गया है कि रचना की संरचना ही उसका परम मूल्य है, अतः शैली स्वयं में ही एक मूल्य है, रचना से बाहर किसी अन्य मूल्य की ओर ताकने की उसकी प्रकृति नहीं है। भारतीय साहित्यशास्त्र में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के 'सन्देश' को संरचना-सौन्दर्य में ही समाहित माना गया, उससे बाहर नहीं। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में भी रचना के लिए स्वयं रचना ही चरम मूल्य मानली गयी, स्वयं कविता ही कवि का 'परम वक्तव्य' स्वीकार कर ली गयी।

18. भारतीय साहित्यशास्त्र में शैलीवैज्ञानिक अवधारणों का तात्त्विक और सैद्धान्तिक विवेचन अधिक प्रमुख रहा, जबकि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में शैली-सिद्धान्तों को कृति-विशेष के सन्दर्भ में व्यवहृत करने पर विशेष जोर दिया गया है।

19. भारतीय साहित्यशास्त्र शैली को वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध अर्थात् रचना के सभी स्तरों पर विवेचित कर चुका है, जबकि पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र वाक्येतर घटकों की ओर हाल ही में उन्मुख हो सका है।

20. प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र एक समृद्ध भाषाविज्ञान और व्याकरण पर आधारित है, अतः उसमें शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएँ अधिक प्रौढ़, स्पष्ट और वैज्ञानिक हैं, जबकि पाश्चात्य भाषाविज्ञान और व्याकरण अभी विकास की स्थिति में ही हैं, अतः शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएँ अपेक्षित स्पष्टता, वैज्ञानिकता और सूक्ष्मता को नहीं प्राप्त कर सकी हैं। इस दृष्टि से आधुनिक भारतीय शैलीविज्ञान भी बहुत अलसाया हुआ है। ऐसी स्थिति में वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि साहित्यशास्त्रियों के ग्रन्थों के सिद्धान्तिक और तात्त्विक विवेचन से आधुनिक पाश्चात्य एवं भारतीय शैलीवैज्ञानिक अवधारणाएँ अपने आपको अधिक समृद्ध और वैज्ञानिक कर सकती हैं।

21. प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र का शैलीवैज्ञानिक तत्त्व-चिन्तन, सिद्धान्त-निरूपण और उस काल में प्रतिपादित काव्य-भाषा के भाषावैज्ञानिक तथा वैयाकरणिक प्रतिरूप तब तक अधूरे हैं जब तक कि उन्हें पाश्चात्य शैलीविज्ञान की तरह रचना या रचनाकार-विशेष के सन्दर्भ में व्यवहृत नहीं किया जाता, उन्हें परखा और परिष्कृत नहीं किया जाता। अतः शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं के विकास के लिए भारतीय साहित्यशास्त्र के 'सिद्धान्त-निरूपण' तथा पाश्चात्य शैलीविज्ञान की 'व्यवहार-पद्धति' का संयोजन होना अनिवार्य है। एक समृद्ध शैलीविज्ञान की दृष्टि से ये दोनों साहित्यशास्त्र परस्पर पूरक हैं। अतः यह अत्यन्त उपादेय और अपेक्षित है कि दोनों साहित्यशास्त्रों को परस्पर अधिक से अधिक परिचित कराया जाये और तुलनात्मक विवेचन के आधार पर इस क्षेत्र में अधिक से अधिक कार्य किया जाये।

इस अध्ययन के उपरान्त यह निश्चित धारणा बनती है कि दोनों साहित्य-शास्त्र परस्पर सम्पर्क एवं आदान-प्रदान के अभाव में अपूर्ण हैं और उनके परस्पर सूत्रित होने से एक अत्यन्त समृद्ध और अधिक वैज्ञानिक साहित्यशास्त्र के विकसित होने की प्रबल सम्भावना है।

(च) सन्नाहार :

इस ग्रन्थ के लेखन की योजना से पूर्व ही संस्कृत साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का किंचित अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत हुआ था कि संस्कृत साहित्य-शास्त्र अपने आप में वैज्ञानिक और व्यापक होते हुए भी ज्यों का त्यों प्रासंगिक नहीं रह गया है तथा पश्चिमी साहित्यशास्त्र अपने निरन्तर उद्यम के बावजूद दिशाभ्रमित और अव्यवस्थित बना हुआ है। अतः यह आवश्यक समझा गया कि दोनों साहित्य-शास्त्रों का विस्तृत अध्ययन करके उनमें विद्यमान उल्लेखनीय विशेषताओं एवं पूर्णताओं को उभारा जाये और दोनों साहित्यशास्त्रों की शैलीवैज्ञानिक अवधारणाओं के बीच वार्तालाप की पृष्ठभूमि तैयार की जाये ताकि वे आदान-प्रदान की मनःस्थिति बना सकें।

लेखक उक्त यथासाध्य विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि एक ओर तो संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में तथा अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, चैक, स्पेनी और जर्मन शैलीविज्ञान के आधारभूत ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद आवश्यक है, दूसरी ओर संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों की आधुनिक साहित्य की समीक्षा के सन्दर्भ में पुनर्व्याख्या करके उनके आधार पर समसामयिक साहित्यशास्त्र को तैयार करना अपेक्षित है।

इस ग्रन्थ के संक्षिप्त और अत्यन्त सीमित विवेचन ने इस सम्भावना में विश्वास जमाया है कि भारतीय साहित्यशास्त्र के तात्त्विक चिन्तन और पाश्चात्य शैलीविज्ञान की व्यावहारिक विश्लेषण-पद्धति के 'संयोग' से, दोनों की अनुपूरकताओं से, एक अधिक समृद्ध, अधिक वैज्ञानिक शैलीविज्ञान की 'निष्पत्ति' हो सकती है।



परिशिष्ट

सन्दर्भ-साहित्य

(अ) संस्कृत—

अभिनव गुप्त—ध्वन्यालोकलोचन, अनु. जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, 1965 । हिन्दी अभिनवभारती, अनु. आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1960 ।

आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक, अनु. आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् 2028 वि. ।

उद्भट—काव्यालंकारसारसंग्रह, भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, 1952 ।

कुन्तक—वक्रोक्तिजीवित, हिन्दी अनु. आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1955 ।

क्षेमेन्द्र—श्रीचित्यविचारचर्चा, अनु. आचार्य ब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964 ।

जगन्नाथ, पण्डितराज—रसगंगाधर, अनु. बदरीनाथ झा और मनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1955 ।

दण्डी—काव्यादर्श, अनु. श्रीरामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1958 ।

भरत—भरत का नाट्यशास्त्र, भाग-1 अनु. डॉ. रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1964 ।

भर्तृहरि—वाक्यपदीयम्, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1975 ।

भामह—काव्यालंकार, हिन्दी अनु. देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1962 ।

भोज—सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यमाला, 1915 ।

भम्मट—काव्यप्रकाश, अनु. आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड (पांचवा संस्करण) वाराणसी, 1960 ।

महिम्न भट्ट—व्यक्तिविवेक, अनु. रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1964 ।

राजशेखर—काव्य-मीमांसा : हिन्दी अनु. केदारनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1954 ।

रुद्रट—काव्यालंकार, हिन्दी अनु. डॉ. सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, 1965 ।

वामन—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, हिन्दी अनु. आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1955 ।

विश्वनाथ—साहित्यदर्पण, विमला टीका, शालिग्राम शास्त्रीय, मोतीलाल बनारसी दास (चतुर्थ संस्करण), 1961 ।

(आ) हिन्दी —

काले, मनोहर—आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, 1963 ।

गुप्त, गणपतिचन्द्र—शैली के सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1971 ।
साहित्य की शैली, भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, 1964 ।

गुप्त, जगदीश—नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1969 ।

चतुर्वेदी, ब्रजमोहन—महिम भट्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968 ।

चतुर्वेदी रामस्वरूप—भाषा और संवेदना, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1964 ।
हिन्दी नवलेखन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1960 ।

चौधरी, सत्यदेव—भारतीय शैलीविज्ञान, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, 1979 ।

जैन, निर्मला—रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1967 ।

तिवारी, भोलानाथ—शैलीविज्ञान, शब्दाकर, दिल्ली, 1977 ।

तिवारी, सियाराम—काव्य-भाषा, मैकमिलन, 1976 ।

त्रिपाठी, कृष्णापति—शैली, साहित्य ग्रन्थमाला, बनारस, सं. 1998 ।

द्विवेदी, रामचन्द्र—अलंकार मीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965 ।

देशपाण्डे, ग. त्र्यं.—भारतीय साहित्यशास्त्र, पाँपुलर बुक डिपो, दिल्ली 1960 ।

नगेन्द्र—भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1964 ।

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (भाग-दो), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963 ।

रस-सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1964 ।

शैलीविज्ञान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1976 ।

- प्रसाद, रामचन्द्र—शैली, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973 ।
- बारलिगे, सुरेन्द्र—सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963 ।
- मिश्र, विद्यानिवास एवं अन्य—(सं.) भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1976 ।
- मिश्र, विद्यानिवास—रीतिविज्ञान, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1973 ।
- विमल, कुमार—काव्य-रचना-प्रक्रिया, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974 ।
- शर्मा, कृष्णकुमार—भारतीय काव्यशास्त्र : शैलीवैज्ञानिक संदृष्टि, अभिनव भारती इलाहबाद, 1978 ।
- शैलीविज्ञान की रूपरेखा, संघी प्रकाशन, जयपुर-उदयपुर, 1974 ।
- शैलीवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिदर्श संघी प्रकाशन, जयपुर-उदयपुर, 1978 ।
- शैलीवैज्ञानिक विवेचन, संघी प्रकाशन, जयपुर-उदयपुर, 1975
- शुक्ल, रामचन्द्र—रस-मीमांसा, नागरी प्रचारिणी, काशी, सं. 2011 ।
- श्रीवास्तव, परमानन्द—उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1976 ।
- श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ—शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, 1972 ।
- संरचनात्मक शैलीविज्ञान, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 1979 ।
- सिंह, नामवर—कविता के नये प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968 ।
- सुरेश कुमार—शैलीविज्ञान, मैकमिलन, दिल्ली, 1977 ।
- शैलीविज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा, मैकमिलन, 1978 ।
- सुरेशकुमार और रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव—शैली और शैलीविज्ञान, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, 1976 ।

(E) ENGLISH

- BRONZWAER, W. J. M. : Tense in the Novel, Wolters Noordhoff, Groningen, 1970.
- CHAITTANYA, KRISHANA : Sanskrit Poetics, Asia Publishing House, Bombay, 1965.
- CHAPMAN, R. : Linguistics and Literature. An Introduction to Literary Stylistics, N. J. Littlefield Adams, Totowa 1973.
- CHATMAN, S : (ed) Literary Style : A Symposium, Oxford University press, London, 1971.

- CHATMAN, S. : (ed.) *Essays on the Language of Literature*, The & LEVIN Houghton Mifflin Company, Boston, 1967.
- CHOMSKY, NOAM : *Aspects of the Theory of Syntax*, Mass : M. I. T., Cambridge, 1965.
- CLUYSENAAR, A. : *Introduction to Literary Stylistics*, Batsford, London, 1976.
- CROCE, BENEDETTO : *Aesthetic*, Macmillen, London, 1922.
- CHYSTAL, D. and, D. DEVY : *Investigating English Style*, Longmans, London, 1969.
- CUNNINGHAM, J. V. : (ed.) *The Problem of Style*, Fawcett World Library, Greenwich, 1966.
- DAICHES, D. : *Critical Approaches to Literature*, Longmans, London, 56.
- DIXON, PETER : *Rhetoric*, Methuen & Co. Ltd., London, 1971.
- DOBREE, BONAMY : *Modern Prose Style*, Oxford, 1934.
- ENKVIST, N. E. : *Linguistics Stylistics*, Mouton, The Hague, 1973.
- ENKVIST, N. E. : *Linguistics and Style*, Oxford University Press, J. SPENCER & London, 1964.
- M. GREGORY.
- FOWLER, ROGER : (ed.) *Essays on Style and Language*, Roulledge & Kegan Paul, London, 1966. :
The Language of Literature, Roulledge & Kegan Paul, London, 1971.
Style and Structure in Literature, Blackwell, Oxford, 1975.
Linguistics and the Novel, Methusen & Co. London, 1977.
- FREEMAN, DONALD C. : *Linguistics and Literary Style*, Holt Rinehart and Winston, Inc., New York, 1970.
- GALPRIN, I. R. GARVIN, P. L. : *Stylistics*, Moscow, 1971.
- GRAY, B. : *Style : The Problem and its Solutions*, Mouton, The Hague, 1969.
- HALLIDAY, M. A. K. : *Exploration in the Functions of Language*, Edwin Arnold, London, 1973.

- HOUGH, GRAHAM : Style and Stylistics, Rouledge and Kegan Paul, London, 1969.
- KACHRU, BRAJ B. & : (ed.) Current Trends in Stylistics, Linguistic H.P.W. STAHLKE Research Inc., Edmonton, Alberta, 1972.
- KHRAPCHENKO, M. : The Writer's Creative Individuality and the Development of literature, Progress Publishers, Moscow, 1977.
- KRIEGER, M. : A Window to Criticism, Princeton, 1964.
- LEECH, GEOFFRY, N. : A Linguistic Guide to English Poetry, Longmans, London, 1969.
- LEVIN, SAMUEL, R. : Linguistic Structures in Poetry, Mouton, The Hague, 1962.
- LUCAS, F.L. : Style, Cassell & Co. Ltd. London, 1955.
- MCINTOSH, A. & : (ed.) Patterns of Language : Papers in General, M.A.K.HALLIDAY Descriptive and Applied Linguistics, Longmans, London, 1966.
- MURRY, J.M. : The Problems of Style, Oxford University Press, London, 1921.
- NEWAKOWASKA, M. : Language of Poetry and Generative Grammar, Pozman, 1977.
- OGDEN, C.K. and : The Meaning of Meaning, Cambridge University Press, 1923.
- READ, SIR HERBERT : English Prose Style, G. Bell & Sons, London, 1928.
- RICHARDS, I.A. : Principles of Literary Criticism, Rouledge and Kegan Paul, London, 1925.
- SAYCE, R.A. : Style in French Novel, Basil Blackwell, Oxford, 1953.
- SEBEOK, T. : (ed.) Style in Language, M.I.T. Press Cambridge, 1960.
- SPITZER, LEO : Linguistics and Literary History : Essays in Stylistics, University Press, Princeton, 1948.
- TURNER, G.W. : Stylistics, Penguin, 1973.

- ULLMANN, S. : Language and Style, Basil Blackwell, Oxford, 1964.
 Meaning and Style, Basil Blackwell, Oxford, 1973.
 Style in French Novel, Cambridge University Press, London, 1964.
- VOLOVINOV, V.N. : Marxism and the Philosophy of Language, Sarninar Press, New York, 1973.
- WELLEK, R. & A. WARREN : Theory of Literature, Harcourt and Brace, New York, 1949.





